प्रकाशकनुं निवेदन

पुरातत्त्वमंदिरनी प्रबन्धसमितिए संवत् १९७९ ना भादरवा वद १३ ना दिवसे निर्णीत करे (ठराव पहेलाना परिशिष्ट १ मां सूचवेला) कार्यक्रम प्रमाणे संमतितर्कप्रकरणनो आ पहेलो भा प्रकट थाय छे.

आ ग्रन्थने आवा रूपमां प्रकाशित करवानो मूळ संकल्प अने उपक्रम पं. श्रीसुखलालजी द्वा आगराना आत्मानन्द जैन पुस्तकप्रचारक मंडळे करेलो. पण, ज्यारे पं. सुखलालजीए पुरातत्त्वमंदिर जोडाई, पोतानी सेवा विद्यापीठने समर्पित करी, त्यारे तेमणे ए ग्रन्थ पाछळ, पूर्वे उठावेला मोटा श्रम खयाल करी, तेमज संस्कृत साहित्यना दर्शनशास्त्रोमांना एक महान् अने अमूल्य गणाता ग्रन्थरत्न उद्धार थाय ते विद्यापीठने इष्टकृत्य जणायाथी आ ग्रन्थना संशोधन अने प्रकाशननो भार उपाडवा पुरातत्त्वमंदिरने अनुमति आपवामां आवी.

संशोधनोपयुक्तानां लिखितादर्शानां संकेताः।

अ०	अनन्तनाथजैनमन्दिरभाण्डागारीया	प्रतिः
आं० (वि०)	श्रीमद्विजयानन्दसूरिपुस्तकसमहगता	,,
कां०	प्रवर्त्तकश्रीकान्तिविजयपुस्तकसमहगता	,,
गु०	पं० न्यासश्रीगुलाबविजयपुस्तकसंमहगता	,,
ग०	पं० न्यासश्रीगम्भीरविजयपुस्तकसंमहगता	,,
चं०	चञ्चलजैनभाण्डागारीया	,,
डे०	डेलाभाण्डागारीया	,,
पू०	पूर्णचन्द्रनाहरभाण्डागारीया	,,
बा०	बाल्रूचरमामस्थभाण्डागारीया	,,
भा०	भावनगरस्थभाण्डागारीया	,,
भां०	भाण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरीया	,,
मां०	माण्डलग्रामस्थभाण्डागारीया	,,
वा०	वाडीपार्श्वनाथभाण्डागारीया	,,
वृ०	श्रीमद्वृद्धिचन्द्रपुस्तकसमहगता	,,
सा०	साणन्दग्रामस्थभाण्डागारीया	,,
हा०	हालाभाईभाण्डागारीया	,,

---

१ श्रीमद्विजयानन्दसूरिपुस्तकसमहगत पुस्तकद्वयम्, तत्र प्राचीन 'आ०' इति नाम्ना निरदेशि, नवीन च 'वि०'

२ चञ्चलजैनभाण्डागारीय पुस्तकद्वयम्, तत्र पूर्ण 'च० पू०' इति नाम्ना, अपूर्ण तु 'च० अ०' इति न

उपनि०	उपनिषत् ।
उपमान०	उपमानपरिच्छेदः ।
का०	काण्डम् । / काशीया आवृत्तिः ।
गा०	गाथा ।
टि०	टिप्पनम् ।
द्वि०	द्वितीयपार्श्वम् ।
प०	पद्यम् । / परिच्छेदः ।
पा०	पादः ।
पृ०	पृष्ठम् ।
पं०	पङ्क्तिः ।
प्र०	प्रथमः । / प्रथमम् । / प्रथमपार्श्वम् ।
प्रथमस्था०	प्रथमस्थानम् ।
प्रमेय० टि०	प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पनम् ।
प्रमेय० / प्रमेय० मा० / प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्तण्डे ।
प्रश्नव्या० टी	प्रश्नव्याकरणसूत्रटीका ।
प्र० पृ०	प्रस्तुतपृष्ठम् ।
च०	बहिर्गतः–लिखितायां प्रतौ ऊर्ध्वम् वा लिखितः–पाठः ।
ब्रा०	ब्राह्मणम् ।
मं०	मन्त्रः ।
लि०	लिखिता प्रतिः ।
शून्य०	शून्यवादपरिच्छेदः ।
श्रु०	श्रुतस्कन्धः ।
श्लो०	श्लोकः ।
सू०	सूक्तम् । / सूत्रम् ।

विपयानुक्रमः ।



संपादकीय निवेदन

अनेक उपयोगी विषयोनो ऊहापोह करती विस्तृत प्रस्तावना तो प्रस्तुत ग्रंथ संपूर्ण छपाई रह्या पछीज लखी शकाय. अत्यारे तो आ संक्षिप्त निवेदनमां मुख्य बे बाबतोनुं सूचन करवानुं छे (क) ग्रंथनुं विशिष्टत्व अने (ख) प्रकाशननी योजना.

(क) ग्रंथनी विशिष्टता निम्नलिखित बे बाबतोथी जाणी शकाशे (१) ग्रंथकार अने (२) ग्रंथनुं बाह्याभ्यन्तर स्वरूप.

(१) ग्रंथकार (मूळकार)

समय: मूळना कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर छे. जैनपरंपरा प्रमाणे तेओ विक्रमनी पहेली शताब्दीमां थई गएला मनाय छे. तेओ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द अने समंतभद्र ए बन्नेना पहेलां थया होय तेवी संभावनानां केटलांक कारणो छे तेमज श्वेताम्बर अने दिगम्बरनो पंथभेद थया पहेलां पण तेओ थया होय तेम मानवानां केटलांक कारणो छे. तेथी विक्रमनी पहेली शताब्दीमां तेओ थयानी जैनपरंपरा उपर गम्भीरपणे ऐतिहासिकोए विचार करवो जोईए. अत्यारे केटलाक ऐतिहासिको तेओने विक्रमनी पांचमी शताब्दीमां मूके छे.

स्थान, जाति अने धर्म: तेओनुं जन्मस्थान विदित नथी, पण उज्जयिनी अने तेनी आजुबाजुए तेओए जीवन गाळ्युं होय एम जणाय छे, तेथी तेओना ग्रंथोनी रचना पण तेज प्रदेशमां थयानो संभव छे. तेओ जाते ब्राह्मण अने कुलधर्मे वैदिक हता, पण पाछळथी तेमणे जैनाचार्य वृद्धवादीनी पासे जैनदीक्षा लीधी हती.

योग्यता: दिवाकर असाधारण जैन दार्शनिक अने संस्कृत प्राकृत भाषाना विद्वान् हता एटलुंज नहि पण तेओ मध्यकालीन प्रधान भारतीय दार्शनिक विद्वानोमांना एक हता, एम तेओनी कृतिओज कही आपे छे. तेमनी विचारमां उदारता, प्रतिभामां स्वतन्त्रता, ज्ञानमां स्पष्टता, गद्यपद्यलेखनमां सिद्धहस्तता अने वस्तुस्पर्शमां सूक्ष्मता तथा विविध दर्शनोना मौलिक स्वरूपमां निष्णातता, ए बधुं तेओनी थोडी पण उपलब्ध कृतिओमां वाक्यवाक्यमां जोनारने नजरे पडशे.

कृतिओ: उपलब्ध कृतिओमां संमति मूळ प्राकृत छे. एकवीस बत्रीसीओ, न्यायावतार तथा कल्याणमंदिर संस्कृत छे. कल्याणमंदिरमां तीर्थंकर पार्श्वनाथनी स्तुति छे. न्यायावतार ए संस्कृत जैन साहित्यमां पद्यबंध आदि तर्कग्रंथ होई समस्त जैन तर्कसाहित्यना पाया रूपे छे. बत्रीसीओ स्तुतिरूप होवा छतां तेमां दार्शनिक विषयो छे. वैदिक, बौद्ध अने जैन ए समकालीन समग्र भारतीय दर्शनोनुं स्वरूप ते बत्रीसीओमां छे. आ बत्रीसीओज षड्दर्शनसमुच्चय अने सर्वदर्शनसंग्रहनी प्राथमिक भूमिका छे. सिद्धसेननुं बीजुं नाम 'गन्धहस्ती' हतुं, तेओए आचारांगना प्रथम अध्ययन उपर विवरण लख्युं हतुं, जे 'गन्धहस्तिविवरण' कहेवाय छे, आजे ते उपलब्ध नथी.

टीकाकार

टीकाकार अभयदेव, श्वेताम्बरीय राजगच्छमां थएल प्रद्युम्नसूरिना शिष्य होई दशमा सैकामां थई गया छे. तेओनी जाति, जन्मस्थान आ[illegible] नथी, तेओनी बीजी कृति उपलब्ध के

श्रुत नथी. अलबत तेओ वादमहार्णवना कर्ता कहेवाय छे, पण संमति उपरनी टीकाना विस्तृत वादो जोतां केटलाक एम पण माने छे के 'तत्त्वबोधविधायिनी' टीकानुंज बीजुं नाम वादमहार्णव हशे. गमे तेम होय पण अभयदेवसूरि दार्शनिक विषयना असाधारण विद्वान् हता, तेमां जराए संदेह नथी.

(२) ग्रंथनुं बाह्याभ्यन्तरस्वरूप

बाह्यस्वरूपः प्रस्तुत ग्रंथमां मूळ अने टीका ए बे अंशो छे. मूळनुं नाम संमति अने टीकानुं नाम तत्त्वबोधविधायिनी छे. मूळ प्राकृत भाषामां अने टीका संस्कृत भाषामां छे.

मूळनी रचना आर्यापद्यमय अने ते त्रण भागो (काण्डो) मां वहेंचाएली छे. टीकानी रचना गद्यमय छे. मूळनुं परिमाण १६७ गाथाओ जेटलुं छे. पहेला काण्डमां ५४, बीजामां ४३ अने त्रीजामां ७० गाथाओ छे. टीकानुं परिमाण २५००० श्लोक जेटलुं छे.

आभ्यन्तरस्वरूपः मूळ अने टीका बन्नेना विषयो दार्शनिक छे, परंतु ते बधा दार्शनिक विषयोनी चर्चा तेमां अनेकान्तदृष्टिए करवामां आवी छे. ते रीतेज अनेकान्तदृष्टिनुं स्वरूप, तेनी व्याप्ति तथा तेनी उपयोगिता सिद्ध करवामां आवी छे. तेथी प्रस्तुत ग्रंथने अनेकान्तदृष्टिनो दार्शनिक ग्रंथ कहेवो जोईए.

मूळनी प्रतिपादनसरणी आगमाश्रित छतां तर्कसंगत छे. तेमां जैनआगमप्रसिद्ध नय, सप्तभंगी, ज्ञान, दर्शन, द्रव्य, पर्याय विगेरे पदार्थोनुं तार्किक पद्धतिए पृथक्करण करी अनेकान्तनुं स्वरूप बतावयामां आव्युं छे अने ते पण प्रधानपणे आगमिक प्राचीन जैनाचार्योने अभिलक्षीने. टीकानी शैली बिलकुल जूदी छे. तेमां अन्य दर्शनोना निरसननी दृष्टि मुख्य छे. मूळ जेटलुं टुंकुं छे, तेटलीज टीका विशाळ छे. टीकाकारे जे जे विषयना वादो लख्या छे, ते ते विषय उपर ते वखते भारतीय समग्र दर्शनोमां जेटला मत मतान्तरो अने पक्ष प्रतिपक्षो हता, ते बधानी विस्तृत नोंध करी छे. तेथी आ टीकाने विक्रमनी दशमी शताब्दी सुधीना दर्शनविषयक वादोनुं संग्रहस्थान कही शकाय.

ग्रंथनी मुख्य दृष्टि अनेकान्तनुं महत्त्व विचारीने टीकाकारे वादपद्धति विद्वत्तापूर्वक एवी गोठवी छे के, जे विषयमां वाद शरू करवानो होय, ते विषयमां सौथी पहेलां सिद्धान्तथी वधारे वेगळो एवो पहेलो पक्षकार आवी पोतानो मत स्थापे छे, त्यारबाद सिद्धान्तथी ओछो वेगळो एवो बीजो पक्षकार आवी पोताना मतने स्थापी प्रथम पक्षनी भ्रान्तिओ दूर करे छे, त्यारबाद सिद्धान्तनी कंईक समीपे रहेलो त्रीजो पक्षकार आवी बीजा पक्षनी भूलो सुधारे छे, अने ए क्रमे आगळ वधतां छेवटे अनेकान्तवादी सिद्धान्ती आवी छेल्ला प्रतिपक्षीनुं मन्तव्य शोधी अनेकान्त दृष्टिए ते विषय केवो मानवो जोईए, ते बतावे छे. आवी वादपद्धति गोठवेली होवाथी कोई पण विषयमां प्रत्येक पक्षकारनुं शुं मानवुं छे, अने एक बीजा पक्षकार वच्चे शो शो मतभेद छे, अने तेमां केटकेटलुं वजूद छे, ए बधुं तुलनात्मक दृष्टिए जाणी शकाय. तेथी टीकाकारनी प्रतिपादन सरणीने अनेक वादीओनी चर्चापरिषद् साथे सरखावी शकाय के, जेमा कोई पण विषय उपर दरेक वादी पोतपोतानुं पूर्ण मन्तव्य स्वतन्त्रतापूर्वक अनुक्रमे रजु करता होय, अने छेवटे जेमां एक सर्वविषयग्राही सभापति द्वारा समन्वयभरेलुं छेवट लवातुं होय.

जो के टीकामां सेंकडो दार्शनिक ग्रंथोनुं दोहन जणाय छे, छतां सामान्य रीते मीमांसक कुमारिलभट्टनुं श्लोकवार्तिक, नालन्दा विश्वविद्यालयना आचार्य शांतिरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह उपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचंद्रना प्रमेयकमलमार्तंड अने न्यायकुमुदचंद्रोदय विगेरे ग्रन्थोनुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे, तेवी रीते वादिदेवसूरिनो स्याद्वादरत्नाकर, मल्लिषेणसूरिनी स्याद्वादमंजरी, उपाध्याय यशोविजयजीनी नयोपदेश उपरनी नयामृततरंगिणी टीका अने शास्त्रवार्तासमुच्चयनी टीका आदि पाछळनी कृतिओमां संमतिनी टीकानुं प्रतिबिम्ब छे; तेथी संमतिना अभ्यासके संमतिटीकामां प्रतिबिम्ब पाडनार अने संमतिटीकानुं प्रतिबिम्ब झीलनार उपर्युक्त बन्ने प्रकारना ग्रन्थो जोवा घटे.

(ख) प्रकाशननी योजना

मध्यम कालीन दर्शनसाहित्यमां संमति मूळ अने तेनी टीका, ए बन्नेनुं आकर्षक स्थान छे, तेमज टीकामां दार्शनिक साहित्यना इतिहास अने दार्शनिक विद्वानोना इतिहासनी पुष्कळ सामग्री मळी शके तेम छे. आ बधी विशिष्टताने लीधेज आ संस्थाए प्रस्तुत ग्रन्थनी शुद्ध आवृत्ति तैयार करवा विचार करेलो छे.

जोके संमति उपर घणी टीकाओ होवानो उल्लेख छे, छतां एक श्वेताम्बराचार्य मल्लवादिकृत अने बीजी दिगम्बराचार्य सुमतिकृत होवानुं निश्चित प्रमाण मळे छे. पण अत्यारे तो तेमांनी एके उपलब्ध नथी. तेथी अने विस्तृत छतां महत्त्वनी होवाथी अभयदेवनी टीकाज प्रसिद्ध करवानुं संस्थाए पसंद कर्युं छे.

प्रस्तुत टीका घणी विस्तृत, गहन अने संस्कृत भाषामां होवाथी, मूळ ग्रंथ टुंको, प्रसन्न अने ग्राह्य छतां साधारण जिज्ञासुओथी पण अपरिचित रह्यो छे, अने दरेक पोताने तेनो अधिकारी मानतां अचकाय छे; खरी हकीकत तेवी नथी. जो संक्षिप्त पण सरल टीका होय, अगर भाषामां विवेचक अनुवाद होय तो संमति मूळ कोई पण साधारण अभ्यासिने ग्राह्य थई शके तेवुं छे; आ हेतुथी संमतिनो अनुवाद करवानी कल्पना मंदिरे पसंद करी, पण ते अनुवाद कर्या पहेलां तेनुं अने तेनी टीकानुं संशोधन करी नाखवुं, ए पण उचित जणायुं. आ कारणथी अत्यारे मंदिरे नीचे प्रमाणे योजना विचारी राखी छेः—

सटीक मूळ ग्रंथनुं त्रण भागमां प्रकाशन करवुं, चोथा भागमां मूळ ग्रंथनो अनुवाद, अने समग्र सटीक ग्रंथने लगतां उपयोगी परिशिष्टो, प्रस्तावना, विस्तृत अनुक्रमणिका विगेरे आपवां. आ योजना प्रमाणे आजे अढी वर्ष थयां काम चालतां पहेलो भाग प्रकाशित थाय छे.

प्रुफ जोवाना दृष्टिदोषथी के कंपोझिटरोना दोषथी जे भूलो रही गई हशे ते बधी बराबर जोई शुद्धिपत्रमां आपवानुं तो आगळ बनशे, छतां जे जे भूलो अनायासे नजरे पडी गई छे, मात्र तेज शुद्धिपत्रमां आपेली छे, तेथी आ शुद्धिपत्र अधुरुंज छे. अमे अभ्यासिओने विनवीए छीए के तेओ जे नानी मोटी कोई पण भूल जूए, तेनी पृष्ठपङ्क्तिवार अमने सूचना आपे. अमे तेओनी तेवी सूचनाने साभार प्रकट करशुं.

आ संशोधन कार्यमां उपयोगी थाय ते माटे अनेक हस्तलिखित प्रतिओ हिंदुस्तानना जूदा जूदा भागोमांथी मळी छे. ताडपत्रनी पण खंडित प्रतिओ छे. आ बधी प्रतिओनुं विगतवार वर्णन, तेओनी तुलना विगेरे बाबतो भविष्यनी दीर्घ प्रस्तावनामां ज नोंधाशे. अत्यारे तो ते ते प्रति आप-

नार तेना मालिकोने धन्यवाद आपीए छीए. प्राप्त प्रतिओमांथी केटलीकनां नाम वाचक तेओना संकेतपरिशिष्टमां जोई शकशे.

प्रस्तुत विभागमां टीकाकारे ग्रंथना के ग्रंथकारना, नामपूर्वक अगर नाम सिवाय, अपूर्ण के पूर्ण जे जे उल्लेखो कर्या छे ते बधानां स्थानो अमे इच्छा अने प्रयत्न छतां संपूर्ण रीते आपी शक्या नथी. छतां उल्लेखोनां जे स्थानो अमे नोंध्यां छे, तेना संकेतोनुं स्पष्टीकरण आ भाग साथे आपवामां आवे छे. जे उल्लेखोनां मूळस्थानो नथी मळ्यां तेओनी पासे खुल्लां चोरस कोष्टको राखेलां छे. अभ्यासिओने विनंती छे के, अमे उल्लेखोनां जे जे स्थानो आप्यां छे तेमां तेओ सुधारवा जेवुं जूए अगर नहि मळेल स्थानवाळा उल्लेखोनां स्थानो तेओना ध्यानमां आवे तो तेओ अमने ए बधुं लखी जणावे. अमे तेओना श्रमनी बहुज कींमती नोंध लईशुं.

प्रस्तुत भागमां पहेली गाथा अने तेनी संपूर्ण टीका आवे छे. तेनुं परिमाण लगभग साडासात हजार श्लोक जेटलुं हशे. तेमां जेटला मुख्य विषयो आव्या छे ते बधानो विस्तृत अनुक्रम तो छेवटेज अपाशे. अत्यारे तो आ भागमां आवेला मुख्य वादो अने तेने अंगे कराएला विभागोनी अने वच्चे वच्चे प्रसंगथी आवेला ध्यान देवा योग्य खास विषयोनी नोंध विषयानुक्रममां आपेली छे. एटले आ विषयानुक्रम, ए टीकागत मुख्य मुख्य वादो अने तेना अन्तर्गत मुख्य मुख्य विभागो तथा प्रासंगिक उपयोगी विषयोनी नोंध मात्र छे.

पाठांतर विगेरेनी समजः आ ग्रंथना संशोधन माटे अमे लगभग २५ प्रतिओ भेगी करी हती, तेमांथी १७ प्रतिओनो उपयोग करेलो छे, एना नामो प्रतिओना सकेतोने स्पष्ट करतां जणावेलां छे. ए प्रतिओमांनी चारेक प्रतिओमां कोईनां करेलां टिप्पणो पण हतां, ते टिप्पणो, पाठांतरो अने अमे पण केटलेक स्थळे टिप्पणो आपेलां छे ते बधुं अमे प्रत्येक पानानी नीचे लीटी दोरीने आपेलुं छे.

जे जे प्रतिमांथी टिप्पण लीधेलां छे ते ते प्रतिनां नाम ए टिप्पणो साथे आपेलां छे. प्रतिनां टिप्पणो "   " आ निशान वच्चे मूकेलां छे. जूओ ग्रंथनुं पृ० २ पं० ३८ आ० टि० एटले आत्मारामजीनी प्रतिमां आवेलुं टिप्पण.

पाठांतरो मोटा अक्षरमां (चालु अक्षरमां) मूकेलां छे.

क्यांय क्यांय अमे केवळ अशुद्ध पाठांतरो पण मूकेलां छे ते एटला माटे के, लेखक के वाचक विगेरे फक्त अक्षरोनी समानताथी अने पोतानी असावधानता विगेरेनां कारणोथी केवी केवी जातनां पाठांतरो वधारी मूके छे ए जाणी शकाय. संभव छे के, 'ग्रथमां क्या क्या प्रकारे अशुद्धिओ वधे छे अने केवा केवा पाठभेदो थाय छे' तेनो इतिहास लखनारने आवा अशुद्ध पाठांतरोनो पण उपयोग थाय.

जे टिप्पणो अमे करेलां छे ते माटे कशुं निशान करेलुं नथी.

बधी प्रतिओमां टीकानो पाठ लेखक (लहिया) विगेरेना दोषथी अशुद्ध थई गयो छे एम ज्यां ज्यां अर्थानुसंधान के वाक्यरचना आदिथी जणायुं त्यां त्यां ते पाठ कायम राखी सुधारवा जेटलो भाग (पाठ के अक्षर) (   ) आवा निशानमां मूकेलो छे. अमे एवा केटलाक पाठोने शुद्ध करवामां 'प्रमेयकमलमार्तंड' नो उपयोग विशेष करेलो छे. अने क्यांय क्यांय प्रशमरतिप्रकरण,

वात्स्यायनभाष्य के एवा बीजा पण ग्रंथनो आश्रय लीधेलो छे. जे जे स्थळे ए पाठ सुधारेलो छे ते बधे स्थळे ए सुधारो जे ग्रंथने आधारे करवामां आव्यो छे ते ग्रंथनो पाठ " " आ निशानमां नाना अक्षरोमां मूकेलो छे अने साथे ते ते ग्रंथनां पृष्ठ पंक्ति पण आपेलां छे.

जे विशेष अशुद्ध पाठोने अमे सुधारी नथी शक्या ते पाठो पासे ? आवुं शंकाचिह्न मूकेलुं छे अने केटलाक खंडित पाठोनी नीचे 'ए पाठो लगभग खंडित लागे छे' एवी नोंध पण करेली छे.

आ टीकाना दरेक वादस्थळमां पहेलां वीगतवार पूर्वपक्ष करवामां आवेलो छे अने पछी उत्तरपक्षमां ते पूर्वपक्षनी प्रत्येक दलीलनुं खंडन करवामां आवेलुं छे. उत्तरपक्षमां ज्यां ज्यां पूर्वपक्षनी जे जे दलीलनुं खंडन करवामां आवेलुं छे ए दरेक दलील पूर्वपक्षमां क्यां क्यां आवेली छे तेनुं स्थळ सूचववा अमे दरेक उत्तरपक्षना पानानी नीचे लींटी दोरीने पूर्वपक्षनी ते ते दलीलोनां पृष्ठ पंक्तिओ आपेलां छे, जेने जोवाथी प्रत्येक जिज्ञासु उत्तरपक्षने वांचती वखते पूर्वपक्षनी ए ए खंडनीय दलीलोने सहेलाईथी बराबर समजी शकशे.

आ उपरांत ज्यां ज्यां टीकाकारे 'अमे आ वात पहेलां कही छे' एवुं लखेलुं छे, त्यां जे स्थळे ए वातने टीकाकारे कहेली होय ते स्थळनां पण पृष्ठ पंक्तिओ यथाशक्य आपेलां छे.

केटलेक स्थळे अमे प्रतिपाद्य विषयनी आदिमां { आवा चिह्नो अने अंतमां } आवा चिह्नो उपयोग करेलो छे अने ए बन्नेनुं एटले { } आ निशाननुं नाम 'दूरान्वयसूचक' चिह्न राखेलुं छे. ते एटला माटे के, ज्यां ज्यां कोई विषयना प्रतिपादनमां वचे बीजी पण लांबी टुंकी चर्चाओ चाले छे त्यां ते प्रसंगे चालेली चर्चाओनां आदि अंत जाणी शकाय. जूओ ग्रंथनुं पृ० ५७ पं० १४–पृ० ५९ पं० ३२।

आ पहेलो भाग तैयार करवामां अमने प्रवर्तक श्रीकांतिविजयजीना विद्याप्रिय अने सुशील प्रशिष्य श्रीपुण्यविजयजीए घणीज किंमती सहायता करी छे ते माटे अमे तेओना ऋणी छीए.

सुखलाल
अने
बेचरदास.

संपादकीयं निवेदनम्

विवेचितविविधविषया विस्तृता प्रस्तावना तु न प्राप्तकाला समग्रस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनात् प्राक्, अतः साम्प्रतमिह (क) ग्रन्थस्य विशिष्टता (ख) प्रकाशनस्य योजना चेति वस्तुद्वयमेव प्राधान्येन प्रदर्शयितुं समीहामहे ।

(क) तत्र (१) ग्रन्थस्य कर्तॄन् (२) बाह्याभ्यन्तरस्वरूपं च वर्णयित्वैव तदीया विशिष्टता प्रतिपाद्यते ।

(१) ग्रन्थस्य कर्तारः (मूलकाराः)

समयः–मूलस्य प्रणेतारस्तत्रभवन्त आचार्याः सिद्धसेनदिवाकरा विक्रमीयप्रथमशताब्दीवर्तिन इत्यवगम्यते पारम्परिकप्रवादेन । आचार्यसिद्धसेना दिगम्बराचार्याभ्यां कुन्दकुन्द-समन्तभद्राभ्यां प्राक्, श्वेताम्बर-दिगम्बरसम्प्रदाययोः पार्थक्याच्च प्राग् बभूवांस इति सम्भावनायाः साधारत्वेन पारम्परिकप्रवादो गवेषणाप्रियैरैतिहासिकैर्नोपेक्षणीयः । इदानीन्तनास्तु केचिदैतिहासिकास्तानाचार्यान् विक्रमीयपञ्चमशताब्दीगतत्वेन सम्प्रधारयन्ति ।

स्थान-जाति-धर्माः–यद्यपि आचार्याणां नाद्यापि जन्मादिस्थानानि परिनिश्चितानि तथाऽपि मालवदेशः तदीया च प्राच्या राजधानी उज्जयिनी तेषां विहारभूमिरिति परम्परातः श्रवणात् तदीयाः कृतयोऽपि तत्रैव प्रदेशे कचिल्लब्धजन्मान इति सम्भाव्यते । आचार्यसिद्धसेना यद्यपि जात्या ब्राह्मणाः, कुलधर्मेण च वैदिकास्तथाऽपि ते बहुश्रुतत्वप्राप्तिसमनन्तरमाचार्यवृद्धवादिनामन्तेवासित्वेन जैनीं दीक्षामङ्गीचक्रुः ।

प्रतिभाप्रकर्षः–आचार्यसिद्धसेना जैनदर्शनरहस्यवेदित्वेन विश्रुतेषु सर्वेष्वपि विद्वत्सु मूर्धन्यतां गता इति तु निर्विवादमेव, परन्तु समकालीनवैदिक-बौद्ध-जैनादिसमस्तभारतीयदर्शनपारदर्शिविद्वद्गण-नायामपि ते लब्धावकाशा इत्यत्र तदीयाः कृतय एव साक्षिण्यः । तेषां संस्कृत-प्राकृतभाषाविशारदता, बहुमुखी प्रतिभा, अस्खलप्रवाहा कल्पना, वस्तुस्पर्शाभिमुखी तार्किकता, स्पृहणीया दर्शनोपनिषद्वेदिता, प्रकृष्टपरिपाका च गद्यपद्यरचनाचातुरी साक्षात्कर्तुं शक्या प्रतिवाक्यं तदीयासु कृतिषु ।

कृतयः–आचार्यसिद्धसेनीयाः काश्चिदेव कृतय उपलब्धिपथमायान्ति । तत्र संमतिप्रकरणं प्राकृतोपनिबद्धम्, न्यायावतारः, कल्याणमन्दिरम्, एकविंशतिश्च द्वात्रिंशिकाः संस्कृतपद्यबद्धाः । तत्र सर्वस्मिन्नपि जैनसंस्कृतवाङ्मये प्राथमिकपद्यात्मकप्रमाणग्रन्थत्वेन प्रसिद्धं न्यायावतारं जैनतर्क-साहित्यविकासस्य प्रथमसोपानत्वेनावधारयन्तु तर्कप्रियाः । कल्याणमन्दिरं तीर्थकरपार्श्वनाथस्य स्तुतित्वेनोपलक्षयन्तु स्तुतिप्रियाः । द्वात्रिंशिकाः स्तुतिगर्भा अपि विविधदर्शनस्वरूपवर्णनात्वेन निश्चिन्वन्तु तत्त्वज्ञानप्रियाः । तासु च कतिपयाः प्रातिस्विकदर्शनविषया द्वात्रिंशिका एवानुकरोति हरिभद्राचार्यकर्तृकः षड्दर्शनसमुच्चयो माधवाचार्यकर्तृकश्च सर्वदर्शनसंग्रहः । आचार्यसिद्धसेना 'गन्धहस्ती' इति नाम्नाऽपि प्रख्यायन्ते । तत्कृतं चाचाराङ्गसूत्रीयप्रथमाध्ययनविवरणं 'गन्धहस्तिवि-वरणम्' इत्यभिधीयते । तच्च विवरणं न संप्रति सुलभम् ।

टीकाकाराः

टीकाया रचयितारः श्रीमदभयदेवसूरयः श्वेताम्बरराजगच्छीयप्रद्युम्नसूरिशिष्यत्वेन प्रसिद्धा विक्रमीयदशमशताब्दीभाजः। तेषां जन्मस्थान-जातिप्रभृति नैव विदितम्, अन्यास्तु तत्कृतयो न श्रूयन्ते। यद्यपि वादमहार्णवस्तत्कृतित्वेन क्वचिदुल्लिखितो भाति तथाऽपि दीर्घातिदीर्घपादमालाजटिलां प्रस्तुतां टीकामेव वादमहार्णवत्वेन कल्पयन्ति केचिदित्यास्तां तावत् । किंतु श्रीमदभयदेवसूरीणामसाधारणे दार्शनिकवैदुष्ये नैव विद्यते संशयलेशः ।

(२) ग्रन्थस्य बाह्याऽभ्यन्तरस्वरूपम्

बाह्यं स्वरूपम्—मूलं संमतिसंज्ञकं प्राकृतार्योपद्यमयं काण्डत्रयविभक्तं सप्तषष्ट्युत्तरशत-संख्यकगाथापरिमितम् । टीका च 'तत्त्वबोधविधायिनी' संज्ञिता संस्कृतगद्यमयी पञ्चविंशतिसहस्र-संख्यकश्लोकपरिमिता वर्तते ।

आभ्यन्तरं स्वरूपम्— विषयोऽस्य ग्रन्थस्यानेकान्तप्रधानो दार्शनिको वेदितव्यः ।

मूलकारैर्जैनदर्शनमात्रप्रसिद्धान् नय-सप्तभङ्गी-ज्ञान-दर्शन-द्रव्य-पर्यायादिपदार्थान् व्यवस्था-पयितुं तार्किकपद्धत्या तानेव पदार्थान् विशदीकृत्यानेकान्तस्वरूपं प्रतिष्ठापितम्, तत्र प्रधानतया स्वतीर्थ्यान् पुरातनान् आगमिकानभिलक्ष्यीकृत्यैवेति मूलकारीया शैली । टीकाकारीया चान्यैव, तैस्तु प्राधान्येन दर्शनान्तरीयप्रवादनिरसनमुद्दिश्य दार्शनिकवादसंग्रहालयप्रख्यैव टीका निरमायि । तत्र च यदा कश्चिदपि दार्शनिको विषयश्चर्चयितुमुपक्रम्यते तदा तद्विषयावलम्बिनः सर्वेऽपि पक्षकाराः क्रमेणोपतिष्ठमानाः स्वं स्वं पक्षं स्थापयितुकामाः पूर्वपूर्ववादिस्थापितं पक्षं दूषयन्ति । पर्यवसाने च सिद्धान्ती स्याद्वादी प्रागुपन्यस्तान् सर्वानेव पक्षान् यथासंभवं समीक्ष्य सिद्धान्तं प्रादुष्करोति । ईदृश्या च प्रतिपादनभङ्ग्या प्रस्तुता टीका सर्वविषयस्पर्शिनिर्णायकसभापतिसमलंकृतामनेकसभ्य-भूषितां स्ववत्रां चर्चापरिषदं स्मारयति ।

मीमांसककुमारिलभट्टकृतश्लोकवार्तिक—नालन्दाविश्वविद्यालयप्रधानाचार्यशान्तिरक्षितकृततत्त्वसं-ग्रहीयकमलशीलकृतपञ्जिका—दिगम्बराचार्यप्रभाचन्द्रकृतप्रमेयकमलमार्तण्ड—न्यायकुमुदचन्द्रोदयद्वयप्रभृ-तीन् स्वपूर्ववर्तिनो ग्रन्थान् बिम्बत्वेनाश्रयमाणैषा टीका स्वोत्तरवर्तिभिः वादिदेवसूरिकृतस्याद्वादरत्ना-कर—मल्लिषेणसूरिकृतस्याद्वादमञ्जरी—वाचकयशोविजयकृतनयोपदेशीय—शास्त्रवार्तासमुच्चयीयवृत्तिद्वयप्र-भृतिभिर्ग्रन्थैर्बिम्बत्वेनाश्रितेति टीकामेनां दिदृक्षुभिरुभयेऽपि ते ग्रन्था अवश्यद्रष्टव्याः ।

(ख) प्रकाशनयोजना ।

सुलभदर्शनेतिहाससामग्रीकतया स्पृहणीयमध्ययकालीनदार्शनिकग्रन्थान्यतमतया च सटीकस्यास्य ग्रन्थमणेः संशोध्य प्रकाशनं चिकीर्षितमनया संस्थया ।

अनुपलभ्यमानासु बह्वीषु संमतिटीकासु एकस्याः श्वेताम्बराचार्यमल्लवादिकृतत्वेन, द्वितीयस्याश्च दिगम्बराचार्यसुमतिकृतत्वेन संसूचका उल्लेखा लभ्यन्ते नान्यासाम् । उपलभ्यते चाभयदेवसूरिरचितैव टीकेति सैव प्रकाशनीयत्वेन निर्धारिता ।

संक्षिप्तटीकान्तरस्य दुर्लभत्वात् लभ्यमानटीकायाश्च जटिलत्वात् सुगममपि मूलग्रन्थं दुर्गमम-भिमन्यमानाः सर्वेऽपि जिज्ञासवः प्रायशः स्वं तदनधिकारिणं मत्वा तमभ्यसितुं नोत्सहन्ते । तस्य

च मूलमन्थस्योपादेयता पाठ्यनमप्रवेशनयोग्यता च न लौकिकभाषानुवादमन्तरेण संभवतीति संप्रधार्य तदनुवादोऽपि विधित्सितः।

परंतु पूर्वं सटीकः सम्पूर्णोऽपि ग्रन्थस्त्रिभिर्भागैः प्रकाशयितुमुचितः, तदनन्तरं च चतुर्थेन भागेन प्रस्तावना-विषयानुक्रम-परिशिष्टादिसहितो मूलमात्रानुवाद इति निर्णीतं संसदा। तदनुसृत्य सार्धवर्षद्वयं यावत् प्रयस्य प्रकाश्यतेऽद्य सटीकसंपूर्णप्रथमगाथात्मकः प्रथमो भागः।

अत्र प्रान्ते यत् संक्षिप्तं शुद्धिपत्रकं निवेशितम्, तत्र चानायासेन दृष्टिपथमागता एव अशुद्धयो दर्शिता न पुनः सर्वाः। सर्वासां प्रदर्शनं तु ग्रन्थसमाप्तावेव करिष्यते। ये च महानुभावा यां कामपि अशुद्धिमत्र दृष्ट्वा सूचयिष्यन्ति तैर्वयमुपकृता भविष्याम इति।

अस्य ग्रन्थस्य संशोधनाय आदर्शानां (प्रतीनां) पञ्चविंशतिर्लब्धा, तत्र सप्तदशैव एव आदर्शा अत्रास्माभिरुपयोजिताः, तेषां च सप्तदशानामपि संकेतितानि नामानि तत्संकेतसूचनायां स्पष्टितानि। यैश्च महाशयैरस्य संशोधनकर्मणि निजनिजसंग्रहसत्का आदर्शा दत्तास्तान् वयं भृशं धन्यवादयाम इति।

टीकाकारोऽत्र संवादत्वेन चर्चाविषयत्वेन वा अनेकान् ग्रन्थान्, ग्रन्थकारांश्च नामग्राहमनाम-ग्राहं वा प्रदर्शितवान्, तेषां सर्वेषां नामानि तु प्रयतमाना अपि नोपालप्स्महि; किन्तु यानि नामानि उपलभ्य तत्तत्स्थले [ ] ईदृशचिह्ने संक्षिप्य संकेतितानि तानि सर्वाण्यपि तत्संकेतसूचनायां स्पष्टीकृतानि। यानि च तानि नोपलब्धानि तदर्थं [ ] एतदेव चिह्नं रिक्तं स्थापितम्। ये च महाशया अस्माभिरत्राऽनिर्दिष्टानां ग्रन्थानाम्, ग्रन्थकाराणां वा नामानि जानीयुस्ते सकृपमस्मान् सूचयेयुः, अस्मन्निर्दिष्टे वा तत्तत्स्थले यत् स्यात् शोध्यं तदपि दर्शयेयुरिति।

अस्मिन् प्रथमे भागे एकैव प्रथमा गाथा, तस्याश्च समग्रा टीका समपूरि। टीकापरिमाणं प्रायः सार्धसप्तसहस्री श्लोकानाम्। तत्र ये मुख्यमुख्यवादाः, तदीयाः पूर्वपक्षोत्तरपक्षाः, तदन्तर्गता मुख्यमुख्यविषयविभागाः, विशेषतया चर्चिताश्च विशिष्टा विषयाः सन्ति तेषां संक्षिप्तोऽनुक्रमोऽत्र समदर्शि; सविस्तरस्तु सोऽस्य ग्रन्थस्य समाप्तिं यावत् प्रतीक्षणीय इति।

पाठान्तरप्रभृतेः सूचनम्—अत्रोपयोजितेष्वादर्शेषु आदर्शचतुष्टये केनचित् कृतानि टिप्पणान्यासन्, तानि आदर्शगतानि टिप्पणानि, पाठान्तराणि, क्वचित् क्वचिच्च स्वकृतानि टिप्पणानि प्रतिपत्र-मधस्ताद् निर्दिष्टानि। तत्र—

आदर्शगतानि टिप्पणानि यस्माद्यस्मादादर्शाद् गृहीतानि तत्तन्नामपूर्वकं " " एतच्चिह्नान्तः सूक्ष्माक्षरेषु स्थापितानि। तथाहि–पृ० २ पं० ३८ आ० टि०—आत्मारामजीसत्कप्रतिगतं टिप्पणमिति।

पाठान्तराणि स्थूलेष्वक्षरेषु दर्शितानि।

'लेखकदोषाद् वाचकभ्रमादक्षरसाम्याद् वा कीदृशकीदृशानि पाठान्तराणि, ग्रन्थाशुद्धयो वाऽभिवर्धन्ते' इति ज्ञानसौकर्याय क्वचिद् वयं सर्वथाऽशुद्धान्येव पाठान्तराणि दर्शितवन्त इति।

स्वकृतानि टिप्पणानि केवलं सूक्ष्माक्षरैरेवोपन्यस्तानीति।

सर्वासु प्रतिषु अशुद्ध एव पाठो यत्रास्माकं प्रतिभातस्तत्र ग्रन्थान्तरमाश्रित्यानाश्रित्य वा तस्याशुद्धस्य पाठस्य पार्श्वे ( ) एतच्चिह्नान्तः शुद्धं पाठांशं समतिष्ठिपाम, पाठसंशोधनकर्मणि च विशेषतो दिगम्बरीय'प्रमेयकमलमार्तण्ड'नामानं ग्रन्थं समाशिश्रियाम, क्वापि क्वापि प्रशमरति-प्रकरणम्, वात्स्यायनभाष्यम्, ईदृशमेव वा ग्रन्थान्तरमुपयोजितवन्तः। यत्र च यं ग्रन्थमाश्रित्य

संशोधितः पाठस्तत्र सर्वत्र पत्रस्याधस्ताद् ग्रन्थनामानि तद्ग्रन्थपृष्ठ-पङ्क्तिदर्शनपूर्वकं चोपयुक्ततद्ग्रन्थपाठं " " एतच्चिह्नान्तः सूक्ष्माक्षरैः समदर्शयाम ।

यांश्चात्यन्तमशुद्धान् पाठान् संस्कर्तुं नालमभूम, तत्र तदशुद्धपाठनिकटे ? ईदृशं चिह्नं कृतवन्तः; क्वचिच्च खण्डितप्रायपाठस्याधः 'एष पाठः खण्डितप्रायः' इत्यपि प्रदर्शितवन्त इति ।

प्रस्तुतटीकायां तेषु तेषु वादस्थलेषु पूर्वं तावत् प्रतिवादस्थलं सविस्तरं पूर्वपक्षो निक्षिप्तः, तदनन्तरं च तत्प्रतिविधानरूपे उत्तरपक्षे पूर्वपक्षमण्डिताः सर्वा युक्तयो निरस्ताः । 'यत्र चोत्तरपक्षे या पूर्वपक्षदर्शिता युक्तिर्दलिता सा पूर्वपक्षे क क आयाता' इति निरूपणाय तत्तत्पत्रस्याधस्तात् तत्तत्पूर्वपक्षस्य पृष्ठं पङ्क्तिं च निरदिक्षाम यतो जिज्ञासवो जना उत्तरपक्षखण्डितास्तास्ताः पूर्वपक्षयुक्तीः सरलतया समवबुध्येरन् ।

टीकाकृता च यत्र यत्र 'तदुक्तमस्माभिः' इत्यादि निर्दिष्टं तत्र तत्र तानि तानि तदुक्तपूर्वस्थलानि सपृष्ठपङ्क्तिकं यथाशक्ति समदीदृशामेति ।

क्वचिच्च कस्यचिदेकस्य विषयस्य प्रतिपादने अन्तराऽन्तरा अन्या अपि प्रसङ्गप्राप्ता लघीयस्यो द्राघीयस्यो वा चर्चाश्चर्चिताः टीकाकृता, तासां च अन्तरागतानां चर्चानामाद्यन्तौ ज्ञातुं प्रतिचर्चमादौ {एतादृशं चिह्नम्, अन्ते च} एतादृशं चिह्नं निरटङ्किष्महि, तस्य च { } एतादृशस्य समग्रस्य चिह्नस्य 'दूरान्वयसूचकं चिह्नम्' इति संज्ञां व्यधिष्महि । एतदर्थं पश्यत पृ० ५७ पं १४— पृ० ५९ पं० ३२ इति ।

अस्य प्रथमस्य भागस्य संशोधनकर्मणि प्रवर्तकश्रीकान्तिविजयानां विद्याप्रियैः सुशीलैः प्रशिष्यैः श्रीपुण्यविजयमुनिभिर्नैकमूल्यं साहाय्यकमनुष्ठितं तदर्थं तेषां कृतज्ञा वयम् ।

सुखलालः

बेचरदासश्च ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीसिद्धसेनदिवाकररचितं

संमतितर्क-प्रकरणम् ।

राजगच्छीय-तर्कपञ्चानन-न्यायचक्रवर्त्ति-श्रीअभयदेवसूरिनिर्मितया

तत्त्वबोधविधायिन्याख्यया व्याख्यया सहितम् ।

प्रथमः काण्डः ।

स्फुरद्बोधांशुविध्वस्तमोहान्धतमसोदयम् ।
वर्धमानार्कमभ्यर्च्य यते सम्मतिवृत्तये ॥ १ ॥
प्रद्युम्नसूरिभिर्यद्यपि सम्मतिटीकाः कृताः सुबह्वर्थाः ।
ताभ्यस्तथाऽपि न महानुपकारः स्वल्पबुद्धीनाम् ॥ २ ॥
शेमुष्युन्मेषलवं तेषामाधातुमाश्रितो यत्नः ।
मन्दमतिना मयाऽप्येष नात्र संपत्स्यते विफलः ॥ ३ ॥

'इह च शारीर-मानसानेकदुःखदारिद्र्योपद्रवविद्रुतानां निरुपमाऽनतिशयानन्तशिवसुखानन्यसमाऽनन्यकारणसम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मकपरमरत्नत्रयजिघृक्षया अतिगम्भीरजिनवचनमहोदधिमवतरीतुकामानां तदवतरणोपायमविदुषां भव्यसत्त्वानां तद्दर्शनेन तेषां महानुपकारः प्रवर्त्तताम्, तत्पूर्वकश्चात्मोपकारः' इति मन्वान आचार्यो दुष्षमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनताहार्दसंतमसविध्वंसकत्वेनावाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्त्तमानः "शिष्टाः क्वचिदभीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना अभीष्टदेवताविशेषस्तवविधानपुरस्सरं प्रवर्त्तन्ते" इति तत्समयपरिपालनपरस्तद्विधानोद्भूतप्रकृष्टशुभभावानलप्रज्वलदनलनिर्दग्धप्रचुरतरक्लिष्टकर्मा निर्भूतविशिष्टपरिणतिप्रभवां प्रस्तुतप्रकरणपरिसमाप्तिं चाऽऽकलयन् 'अर्हतामप्यर्हत्ता शासनपूर्विका, पूजितपूजकश्च लोकः, विनयमूलश्च स्वर्गा-ऽपवर्गादिसुखसुमनःसमूहानन्दामृतरसोद्गमस्वरूपप्राप्तिस्वभावफलप्रदानप्रत्यलो धर्मकल्पद्रुमः' इति प्रदर्शनपरैर्भुवनगुरुभिरप्यवाप्तामलकेवलज्ञानसंपद्भिस्तीर्थकृद्भिः शासनार्थाभिव्यक्तिकरणसमये विहितस्तवत्वात् 'शासनमतिशयतः स्तवार्हम्' इति निश्चिन्वन् 'असाधारणगुणोत्कीर्तनस्वरूप एव च पारमार्थिकस्तवः' इति च संप्रधार्य शासनस्याभीष्टदेवताविशेषस्य प्रधानभूतसिद्धत्व-कुसमयविशासित्वा-ऽर्हत्प्रणीतत्वादिगुणप्रकाशनद्वारेण स्तवाभिधायिकां गाथामाह–

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥ १ ॥

अस्याश्च समुदायार्थ एतत्पातनिकयैव प्रकाशितः, अवयवार्थस्तु प्रकाश्यते—शास्यन्ते जीवादयः पदार्था यथावस्थितत्वेन अनेनेति 'शासनं' द्वादशाङ्गम्, तच्च 'सिद्धं' प्रतिष्ठितम्—निश्चितप्रामाण्यमिति यावत्—स्वमहिम्नैव, नातः प्रकरणात् प्रतिष्ठाप्यम् ।

---

१ दुष्षमसम(मा)श्यामा-वा० । २—प्रतिपालन-भा०, कां० ।

[स्वतःप्रामाण्यपक्षः]

अत्राहुर्मीमांसकाः[1]—अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्, तस्यार्थतथाभावप्रकाशकत्वं
प्रामाण्यम्, तच्च स्वतः उत्पत्तौ, स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे, स्वज्ञाने च; विज्ञानोत्पाद-
कसामग्रीव्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तर-प्रमाणान्तर-स्वसंवेदनग्रहणानपेक्षत्वात् । अपेक्षात्रयरहितं
५ च प्रामाण्यं स्वत उच्यते इति । अत्र च प्रयोगः—ये यद्भावं[2] प्रत्यनपेक्षास्ते तत्स्वरूपनियताः,
यथाऽविकला कारणसामग्री अङ्कुरोत्पादने, अनपेक्षं च प्रामाण्यमुत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ च इति ॥

[परतःप्रामाण्यपक्षः]

अत्र परतःप्रामाण्यवादिनः प्रेरयन्ति—अनपेक्षत्वमसिद्धम् । तथाहि-उत्पत्तौ तावत् प्रामाण्यं
विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणान्तरसापेक्षम्, तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वात् ।
१० तथाच प्रयोगः-यत् चक्षुराद्यतिरिक्तभावा-ऽभावानुविधायि तत् तत्सापेक्षम्, यथाऽप्रामाण्यम्[4];
चक्षुराद्यतिरिक्तभावा-ऽभावानुविधायि च प्रामाण्यम् इति स्वभावहेतुः; तस्मादुत्पत्तौ परतः, तथा
स्वकार्ये च सापेक्षत्वात् परतः । तथाहि-ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया[5] न ते स्वतोव्यवस्थित-
धर्मकाः, यथाऽप्रामाण्यादयः, प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयं च प्रामाण्यं तत्र इति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः ।
तथा ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वात् परतः । तथाहि-ये सन्देह-विपर्ययाऽध्यासिततनवस्ते परतोनिश्चितयथा-
१५ वस्थितस्वरूपाः, यथा स्थाण्वादयः, तथा च सन्देह-विपर्ययाऽध्यासितस्वभावं केषाञ्चित् प्रत्ययानां
प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः ॥

[पूर्वपक्षः-(१) उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

अत्र यत्तावदुक्तम्[6]-'प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणसव्यपेक्षमुत्पत्तौ'
तदसत्, तेषामसत्त्वात्; तदसत्त्वं च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । तथाहि-न तावत् प्रत्यक्षं चक्षुरादीन्द्रि-
२० यगतान् गुणान् ग्रहीतुं समर्थम्, अतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणां तद्गुणानामपि प्रतिपत्तुमशक्तेः । अथानुमा-
नमिन्द्रियगुणान् प्रतिपद्यते, तदप्यसम्यक्, अनुमानस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात् ।
प्रतिबन्धश्च किं प्रत्यक्षेणेन्द्रियगतगुणैः सह गृह्यते लिङ्गस्य? आहोस्विदनुमानेन? इति वक्तव्यम् ।
तत्र यदि प्रत्यक्षमिन्द्रियाश्रितगुणैः सह लिङ्गस्य सम्बन्धग्राहकमभ्युपगम्यते, तदयुक्तम्; इन्द्रियगुणा-
नामप्रत्यक्षत्वे तद्गतसम्बन्धस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्

२५ "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्[7]" [ ] इति वचनात् ।
अथानुमानेन प्रकृतसम्बन्धः प्रतीयते, तदप्ययुक्तम्; यतस्तदप्यनुमानं किं गृहीतसम्बन्धलि-
ङ्गप्रभवम्? उतागृहीतसम्बन्धलिङ्गसमुत्थम्?। तत्र यद्यगृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवम्, तदा किं
प्रमाणम्? उताप्रमाणम्?। यद्यप्रमाणम्, नातः सम्बन्धप्रतीतिः । अथ प्रमाणम्, तदपि
न प्रत्यक्षम्-अनुमानस्य बाह्यार्थविषयत्वेन प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात्, प्रत्यक्षपक्षोक्तदोषाच्च—किंतु
३० अनुमानम्, तच्चानवगतसम्बन्धं न प्रवर्त्तत इत्यादि वक्तव्यम् । अथावगतसम्बन्धम्, तस्यापि
सम्बन्धः किं तेनैवानुमानेन गृह्येत? उतान्येन?। यदि तेनैव गृह्यत[8] इत्यभ्युपगमः-स न युक्तः, इतरे-
तराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-गृहीतप्रतिबन्धं तत् स्वसाध्यप्रतिबन्धग्रहणाय प्रवर्त्तते, तत्प्रवृत्तौ
च स्वोत्पादकप्रतिबन्धग्रह इत्यन्योऽन्यसंश्रयो व्यक्तः । अथान्येनानुमानेन प्रतिबन्धग्रहाभ्युप
गमः-सोऽपि न युक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि-तदप्यनुमानमनुमानप्रतिबन्धग्राहकमनुमा-
३५ नान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धमुदयमासादयति, तदप्यन्यतोऽनुमानाद् गृहीतप्रतिबन्धमित्यनवस्था ।
किंच, तदनुमानं स्वभावहेतुप्रभावितम्[9]? कार्यहेतुसमुत्थम्? अनुपलब्धिलिङ्गप्रभवं वा प्रतिबन्ध

---

१ उच्यते । अत्र-गु० । २ "यस्य भावो यद्भाव इति व्युत्पत्त्या 'यद्भाव'पदेन यदुत्पत्तिर्लभ्यते, तथाच
यदुत्पत्तिं प्रति ये अनपेक्षा —इतरनैरपेक्ष्येण समर्था"—गु०भा०गत टिप्पणम् । ३ "गुणादि"-आ० टि० ।
४ "यत्र यत्र दोषादि तत्र तत्र अप्रामाण्यम्"-आ० टि० । ५ "ये अपेक्षितकारणान्तरोदया"-आ० टि० ।
६ अस्मिन् पृष्ठे ९ पङ्क्तौ । ७ "द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्" इत्युत्तरार्धम्-इति भां० टि० । ८ गृह्यते-भां० ।
९ "समुत्पादितम्"-भा० टि० ।

ग्राहकं स्यात्?। अन्यस्य साध्यनिश्चायकत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्। तदुक्तम्–"त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि"। "अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं च" इति [ध० न्या० सू० ११-१२] "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिविज्ञानमनुमानम्" [ ] इति च। तत्र स्वभावहेतुः प्रत्यक्षगृहीतेऽर्थे व्यवहारमात्रप्रवर्त्तनफलः, यथा शिंशपात्वादिर्वृक्षादिव्यवहारप्रवर्त्तनफलः। न च[1] अक्षाश्रितगुणलिङ्गसम्बन्धः प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नः, येन स्वभावहेतुप्रभवमनुमानं तत्सम्बन्धव्यवहारमारचयति। नापि कार्यहेतुसमुत्थम् अक्षाश्रितगुणलिङ्गसम्बन्धग्राहकत्वेन तत् प्रभवति, कार्यहेतोः सिद्धे कार्य-कारणभावे कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वेनाभ्युपगमात्; कार्य-कारणभावस्य च सिद्धिः प्रत्यक्षा-ऽनुपलम्भप्रमाणसम्पाद्या; न च लोचनादिगतगुणाश्रितलिङ्गसम्बन्धग्राहकत्वेन प्रत्यक्षप्रवृत्तिः, येन तत्कार्यत्वेन कस्यचिल्लिङ्गस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः स्यात्; तत्र कार्यहेतोरपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः। अनुपलब्धेस्त्वेवंविधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवति, तस्या अभावसाधकत्वेन व्यापाराभ्युपगमात्। न चान्यल्लिङ्गमभ्युपगम्यत इत्युक्तम्। न च प्रत्यक्षा-ऽनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरमिति नेन्द्रियगतगुणप्रतिपत्तिः। यच्च क्वचिदपि प्रमाणेन प्रतिभाति न तत् सद्व्यवहारावतारि, यथा शशशृङ्गम्; न प्रतिभान्ति च क्वचिदपि प्रमाणेनातीन्द्रियेन्द्रियगुणा भवदभ्युपगता इति कुतस्तेषां विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तानां प्रामाण्योत्पादकत्वम्?।

अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः, तदप्ययुक्तम्; यथार्थत्वा-ऽयथार्थत्वे विहाय यदि कार्यस्य उपलब्ध्याख्यस्य स्वरूपं निश्चितं भवेत् तदा यथार्थत्वलक्षणः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात् कारणकलापादनिष्पद्यमानो गुणाख्यं स्वोत्पत्तौ कारणान्तरं परिकल्पयति, यदा तु यथार्थैवोपलब्धिः स्वोत्पादककारणकलापानुमापिका तदा कथमुत्पादकव्यतिरेकेण गुणसद्भावः?। अयथार्थत्वं तूपलब्धेः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात् कारणसमुदायादनुपपद्यमानः स्वोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरं कल्पयति, अत एव परतोऽप्रामाण्यमुच्यते, तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात्। न चेन्द्रियनैर्मल्यादि गुणत्वेन वक्तुं शक्यम्, नैर्मल्यं हि तत्स्वरूपमेव, न पुनरौपाधिको गुणः; तथाव्यपदेशस्तु दोषाभावनिबन्धनः। तथाहि–कामलादिदोषासत्त्वान्निर्मलमिन्द्रियमुच्यते, तत्सत्त्वे सदोषम्। मनसोऽपि मिद्धाद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः। विषयस्यापि निश्चलत्वादिः स्वभावः, चलत्वादिकस्तु दोषः। प्रमातुरपि क्षुदाद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः। तदुक्तम्–"इयती च सामग्री प्रमाणोत्पादिका" [ ] तदुत्पद्यमानमपि प्रामाण्यं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात् स्वत उच्यते। नाप्येतद् वक्तव्यम्–तज्जनकानां स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या समधिगतम्, यथार्थत्वं तु पूर्वस्मात् कार्यावगतात् कारकस्वरूपादनिष्पद्यमानं किमिति गुणाख्यं सामग्र्यन्तरं न कल्पयति?। प्रक्रियाया विपर्ययेणापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानात् स्वरूपस्थं कारणमप्यनुमिनोति किंतु सम्यग्ज्ञानात्; तथाविधे च कारकानुमानेऽशक्यप्रतिषेधा पूर्वोक्तप्रक्रिया। नापि तृतीयं[11] कार्यमस्तीत्युक्तम्।

अपि चार्थतथाभावप्रकाशनरूपं प्रामाण्यम्, तस्य चक्षुरादिकारणसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्त्यभ्युपगमे विज्ञानस्य किं स्वरूपं भवद्भिरपरमभ्युपगम्यते? इति वक्तव्यम्। न च तद्रूपव्यतिरेकेण विज्ञानस्वरूपं भवन्मतेन सम्भवति, येन प्रामाण्यं तत्र विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकालं तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्येत, भित्ताविव चित्रम्। किंच, यदि स्वसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावपि न प्रामाण्यं समुत्पद्यते, किंतु तद्व्यतिरिक्तसामग्रीतः पश्चाद् भवति, तदा विरुद्धधर्माध्यासात् कारण[12]भेदाच्च भेदः स्यात्, अन्यथा "अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च, स चेन्न भेदको विश्वमेकं स्यात्" [ ] इति वचः परिप्लवेत।

---

१ न चाक्षाश्रित–वा, गु०। २ "अक्षाश्रितगुणलिङ्गसम्बन्ध"(म्)–भा० टि०। ३ "गुण"–(गुणकार्यत्वेन)–भा० टि०। ४ अस्मिन् पृष्ठे १ पङ्क्तौ। ५ उपलब्ध्याख्यस्य–भा०। ६ व्यतिरेकिगुण–भा०। ७–समूहादनु–भा०। ८ मिन्द्राद्य०–भा०। "मिद्ध निद्रा"–गु० टि०। ९ प्रमाणं–का०। १० "यथार्थत्वा–ऽयथार्थत्वे विहाय"–भा० टि०। ११ अस्मिन् पृष्ठे १६ पङ्क्तौ। १२ "प्रमाणस्य कारणं चक्षुरादि, प्रामाण्यस्य कारणं गुण–इति कारणभेदात्"–आ० टि०।

तस्माद्यत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात् कारणाद् विज्ञानमुत्पद्यते तत एव प्रामाण्यमपीति 'गुणवच्चक्षुरादिभावाभावानुविधायित्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः । अत एवोत्पत्तौ 'सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वं' नासिद्धम्, अनपेक्षत्वविरुद्धस्य सापेक्षत्वस्य निपक्षे सद्भावात् ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः स्वसाध्येन व्याप्यते इति विरुद्धा–ऽनैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतोः स्वसाध्यसिद्धिः ।

५ अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम् । शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति, नोत्पादककारणकलापाधीनाः । तदुक्तम्—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४७]

एतच्च नैव सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते, किंतु यः कार्यधर्मः कारणकलापेऽस्ति स एव १० कारणकलापादुपजायमाने कार्ये तत एवोदयमासादयति; यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डरूपादिद्वारेणोपजायन्ते । ये पुनः कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते कारणेभ्यः कार्ये उदयमासादयंति तत एव प्रादुर्भवन्ति, किंतु स्वतः; यथा घटस्यैवोदकाहरणशक्तिः, तथा विज्ञानेऽप्यर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः चक्षुरादिषु विज्ञानकारणेष्वविद्यमाना न तत एव भवति, किंतु स्वत एव प्रादुर्भवति । किंचोक्तम्—

१५ "आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४८]

तथाहि— "मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते"॥ [ ] इति ।

अथ चक्षुरादेर्विज्ञानकारणादुपजायमानत्वात् प्रामाण्यं परत उपजायत इति यद्यभिधीयते, २० तदभ्युपगम्यत एव । प्रेरणाबुद्धेरपि अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायाः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्षलिङ्गादुपजायमाना तत एव गृहीतप्रामाण्या उपजायत इति 'सर्वत्र विज्ञानकारणकलापव्यतिरिक्तकारणान्तरानपेक्षमुपजायमानं प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यते' इति नोत्पत्तौ परतः प्रामाण्यम् ॥

[पूर्वपक्षः-(२) कार्ये प्रा माण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

२५ नापि 'स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तमानं प्रमाणं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तनिमित्तापेक्षं प्रवर्त्तते' इत्यभिधातुं शक्यम्; यतस्तन्निमित्तान्तरमपेक्ष्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं किं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रवर्त्तते ? आहोस्वित् स्वोत्पादककारणगुणानपेक्ष्य प्रवर्त्तते ? इति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्याद्यो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तदा चक्रकलक्षणं दूषणमापतति । तथाहि–प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः, तं च संवादम- ३० पेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति यावत् प्रमाणस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, तामन्तरेण नार्थक्रियाज्ञानसंवादः, तत्सद्भावं विना प्रमाणस्य तदपेक्षस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिरिति स्पष्टं चक्रकलक्षणं दूषणमिति । न च भाविनं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तत इति शक्यमभिधातुम्, भाविनोऽसत्त्वेन विज्ञानस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वासंभवात् । अथ द्वितीयः, तत्रापि किं गृहीताः स्वोत्पादककारणगुणाः सन्तः प्रमाणस्य ३५ स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वं प्रपद्यन्ते ? आहोस्विदगृहीताः ? इत्यत्रापि विकल्पद्वयम् । तत्र यद्यगृहीता इति पक्ष, स न युक्तः; अगृहीतानां सत्त्वस्यैवासिद्धेः सहकारित्वं दूरोत्सारितमेव । अथ द्वितीयः, सोऽपि न युक्तः; अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि–गृहीतस्वकारणगुणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते, स्वकारणगुणज्ञानमपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षं प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रव-

१ मन्याप्रम्–श्लो० १०० । २ अय हेतु पृ० २, प० ६ । ३ एतच्च 'सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वम्' पृ० २, प० ४ । ४ "सांख्य" (दर्शनसमाश्रयणात्) गु०टि० । ५ वा० विना सर्वत्र–मासादयन्ति न तत एव—इत्यादिपाठ । ६ "सर्वे हि भावा स्वात्मलाभायैव स्वकारणमपेक्षन्ते, घटो हि मृत्पिण्डादिक स्वजन्मनि एव अपेक्षते, नोदकाहरणेऽपि; तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तौ गुणवत्, इतरद् वा कारणमपेक्षतां नाम, स्वकार्ये तु विषयनिश्चये अनपेक्षमेव" इति–श्लोकवा० टीकायाम्-(श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४८)। ७ इत्यभिधानं शक्यम्–भां० । ८ तदपेक्षस्वकार्ये–गु० ।

र्तते, तदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमित्यनवस्थासमवतारो दुर्निवार इति। अथ प्रमाणकारणगुणज्ञानं स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तर्हि प्रमाणमपि स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेवार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तिष्यत इति व्यर्थं प्रमाणस्य स्वकारणगुणज्ञानापेक्षणमिति न स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाणमन्यापेक्षम्। तदुक्तम्—

"जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते।
यावत् कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद् गतम्॥ ५
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात्।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा॥
तस्यापि कारणाशुद्धेर्न ज्ञानस्य प्रमाणता।
तस्याप्येवमितीत्थं तु न क्वचिद्व्यवतिष्ठते"॥ इति [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ४९-५१] १०

तेन 'ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः। तस्मात्—'स्वसामग्रीत उपजायमानं प्रमाणमर्थयाथात्म्यपरिच्छेदशक्तियुक्तमेवोपजायत इति स्वकार्येऽपि प्रवृत्तिः स्वतः इति स्थितम्॥

[पूर्वपक्षः-(२) निश्चये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनम्]

नापि प्रमाणं प्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्। तद्ध्यपेक्षमाणं किं स्वकारणगुणानपेक्षते? आहोस्वित् १५ संवादम्? इति विकल्पद्वयम्। तत्र यदि स्वकारणगुणानपेक्षत इति पक्षः कक्षीक्रियते, सोऽसंगतः; स्वकारणगुणानां प्रत्यक्ष-तत्पूर्वकानुमानाग्राह्यत्वेनासत्त्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्। अथाभिधीयते-यो यः कार्यविशेषः स स गुणवत्कारणविशेषपूर्वकः, यथा प्रासादादिविशेषः, कार्यविशेषश्च यथावस्थितार्थपरिच्छेद इति स्वभावहेतुरिति, एतदसम्बद्धम्; परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वासिद्धेः। तथाहि-परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं किं शुद्धकारकजन्यत्वेन? उत २० संवादित्वेन? आहोस्विद् बाधारहितत्वेन? उतस्विद् अर्थतथात्वेन? इति विकल्पाः। तत्र यदि गुणवत्कारणजन्यत्वेनेति पक्षः, स न युक्तः; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-गुणवत्कारणजन्यत्वेन परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वम्, तत्परिच्छेदत्वाच्च गुणवत्कारणजन्यत्वमिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अथ संवादित्वेन ज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं विज्ञायते, एतदप्यचारु; चक्रकप्रसङ्गस्यात्र पक्षे दुर्निवारत्वात्। तथाहि-न यावद् विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेद- २५ लक्षणो विशेषः सिध्यति, न तावत् तत्पूर्विका प्रवृत्तिः संवादार्थिनाम्, यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियासंवादः, यावच्च न संवादो न तावद् विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वसिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः प्रागेव प्रतिपादितः। अथ बाधारहितत्वेन विज्ञानस्य यथार्थपरिच्छेदत्वमध्यवसीयते, तदप्यसङ्गतम्; स्वाभ्युपगमविरोधात्। तदभ्युपगमविरोधश्च-बाधाविरहस्य तुच्छस्वभावस्य सत्त्वेन, ज्ञापकत्वेन वाऽनङ्गीकरणात्; पर्युदासवृत्त्या तदन्यज्ञानलक्षणस्य तु विज्ञानपरिच्छेदविशेषाविषय- ३० त्वेन तद्व्यवस्थापकत्वानुपपत्तेः। अथार्थतथात्वेन यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषो विज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते, सोऽपि न युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-सिद्धेऽर्थतथाभावे तद्विज्ञानस्यार्थतथाभावपरिच्छेदत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चार्थतथाभावसिद्धिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। तन्न कारणगुणापेक्षा प्रामाण्यज्ञप्तिः। अथ संवादापेक्षः प्रामाण्यविनिश्चयः, सोऽपि न युक्तः, यतः संवादकं ज्ञानं किं समानजातीयमभ्युपगम्यते? आहोस्विद् भिन्नजातीयम्? इति पुनरपि विकल्प- ३५ द्वयम्। तत्र यदि समानजातीयं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किमेकसन्तानप्रभवम्? भिन्नसन्तानप्रभवं वा?। यदि भिन्नसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमित्यभ्युपगमः, अयमप्यनुपपन्नः; अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसङ्गश्च-देवदत्तघटविज्ञानं प्रति यज्ञदत्तघटान्तरविज्ञानस्यापि संवादकत्वप्रसक्तेः। अथ समानसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमभ्युपगम्यते, तदात्रापि वक्तव्यम्-किं तद् पूर्वप्रमाणाभिमतविज्ञानगृहीतार्थविषयम्? उत भिन्नविषयम्? ४०

१ प्रयोगश्चायम्-पृ० २, पं० १२। २ पृ० २-पं० २०। ३-वस्थितपरिच्छेदत्वम्—वा०, भां०, कां०, गु०। ४ पृ० ४-पं० २८। ५ वाऽ-भां०।

इति । तत्र यद्येकार्थविषयमिति पक्षः, सोऽनुपपन्नः; एकार्थविषयत्वे संवाद्य-संवादकयोरविशेषात् । तथाहि-एकविषयत्वे सति यथा प्राक्तनमुत्तरकालभाविनो विज्ञानस्यैकसन्तानप्रभवस्य समानजातीयस्य न संवादकं तथोत्तरकालभाव्यपि न स्यात् । किंच, तदुत्तरकालभावि समानजातीयमेकविषयं कुतः प्रमाणत्वेन सिद्धम्-येन प्रथमस्य-प्रामाण्यं निश्चाययति ? तदुत्तरकाल-
५ भाविनोऽन्यस्मात् तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात् तथाविधादेव इत्यनवस्था । अथोत्तरकालभाविनस्तथाविधस्य प्रथमप्रमाणात् प्रामाण्यनिश्चयः, तर्हि प्रथमस्योत्तरकालभाविनः प्रमाणात् तन्निश्चयः, उत्तरकालभाविनोऽपि प्रथमप्रमाणादिति तदेवेतरेतराश्रयत्वम् । अथ प्रथमो-त्तरयोरेकविषयत्व-समानजातीयत्वै-कसन्तानत्वाविशेषेऽप्यस्त्यन्यो विशेषः, यतो विशेषाद् उत्तरं प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति, न पुनः प्रथममुत्तरस्य, स च विशेषः-उत्त-
१० रस्य कारणशुद्धिपरिज्ञानानन्तरभावित्वम् । ननु कारणशुद्धिपरिज्ञानमर्थक्रियापरिज्ञानमन्तरेण न सम्भवति, तत्र च चक्रकदोषः प्राक् प्रतिपादित इति नार्थक्रियाज्ञानसम्भवः, सम्भवे वा तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य संजातत्वाद् व्यर्थमुत्तरकालभाविनः कारणशुद्धिज्ञानविशेषसमन्वितस्य पूर्वप्रामाण्यावगमहेतुत्वकल्पनम्; तन्न समानजातीयमेकसन्तानप्रभवमेकार्थमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम् । अथ भिन्नार्थं तद् ज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्, तद-
१५ प्ययुक्तम्; एवं सति शुक्तिकायां रजतज्ञानस्य तथाभूतं शुक्तिकाज्ञानं प्रामाण्यनिश्चायकं स्यात्; तन्न समानजातीयमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चायकम् । अथ भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति पक्षः, तत्रापि वक्तव्यम्-किम् अर्थक्रियाज्ञानम् ? उत अन्यत् ? । तत्रान्यदिति न वक्तव्यम्, घटज्ञानस्यापि पटज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वप्रसङ्गात् । अथार्थक्रियाज्ञानं संवादकमित्यभ्युपगमः, अयमपि न युक्तः, अर्थक्रियाज्ञानस्यैव प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याद्यभावतश्चक्रकदोषेणासम्भवात् ।
२० अथ प्रामाण्यनिश्चयाभावेऽपि संशयादपि प्रवृत्तिसम्भवान्नार्थक्रियाज्ञानस्यासम्भवः, तर्हि प्रामाण्यनिश्चयो व्यर्थः । तथाहि-प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेण प्रवृत्तः 'विसंवादभाग् मा भूवम्' इत्यर्थक्रियार्थी प्रामाण्यनिश्चयमन्वेषते, सा च प्रवृत्तिस्तन्निश्चयमन्तरेणापि संजातेति व्यर्थः प्रामाण्यनिश्चयप्रयासः । किंच, अर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यनिश्चायकत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य कुतः प्रामाण्यनिश्चयः ? तदन्यार्थक्रियाज्ञानादिति चेत्, अनवस्था । पूर्वप्रमाणादिति चेत्, अन्योऽन्याश्रयदोषः
२५ प्राक् प्रदर्शितोऽत्रापि । अथार्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः, प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ? । तदुक्तम्—

> "यथैव प्रथमं ज्ञानं तत्संवादमपेक्षते ।
> संवादेनापि संवादः पुनर्मृग्यस्तथैव हि ॥ [ ]
> कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
> प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ? ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ७६]
> संवादस्याथ पूर्वेण संवादित्वात् प्रमाणता ।
> अन्योऽन्याश्रयभावेन न प्रामाण्यं प्रकल्पते" ॥ [ ] इति ।

अथापि स्यादर्थक्रियाज्ञानमर्थाभावे न दृष्टमिति न तत् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधनज्ञानं तु अर्थाभावेऽपि दृष्टमिति तत् प्रामाण्यनिश्चयेऽर्थक्रियाज्ञानापेक्षमिति, एतदप्यसङ्गतम्;
३५ अर्थक्रियाज्ञानस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशायां दर्शनात्; न च स्वप्न-जाग्रद्दशाऽवस्थयोः कश्चिद्विशेषः प्रतिपादयितुं शक्यः । अथार्थक्रियाज्ञानं फलावाप्तिरूपत्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, साधनविनिर्भासि पुनर्दर्शनं नार्थक्रियावाप्तिरूपं भवति तत् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम् । तथाहि-जलाद्यवभासिनि ज्ञाने समुत्पन्ने पाना-ऽवगाहनाद्यर्थिनः 'किमेतज्ज्ञानावभासि जलमभिमतं फलं साधयिष्यति, उत न' इति जाताशङ्काः तत्प्रामाण्यविचारं प्रत्याद्रियन्ते; पाना-ऽवगाहनार्था-

---

१ प्रमाणमेव गु० । २ पृ० ५-पं० २७ । ३ प्रत्यासम् श्लो० २०० । ४ अस्मिन्नेव पृष्ठे पं० ७ । ५ स्याद्वादरत्नाकरे तत्प्रणेत्रा एतदेव श्लोकत्रय "यदाह भट्टः"-(पृ० १२४ पङ्क्तौ ५) इति निर्दिश्य उद्लेखि, तथापि मुद्रिते कुमारिलभट्टकृते श्लोकवार्तिके एक एव, मध्यमः श्लोको लभ्यः । ६-वस्थाया०-कां०, गु० । ७ पुनर्ज्ञानमर्थक्रियावाप्तिरूपं न भवति तत्-हा० ।

ज्ञानिज्ञाने तु समुत्पन्नेऽवाप्तफलत्वाद्य तत्प्रामाण्यविचारणाय मनः प्रणिदधति, नैतत् सारम्;
'अवाप्तफलत्वात्' इत्यस्यानुत्तरत्वात्। तथाहि-यथा ते विचारकत्वाज्जलज्ञानावभासिनो जलस्य
'किं सत्त्वम्? उतासत्त्वम्?' इति विचारणायां प्रवृत्तास्तथा फलज्ञाननिर्भासिनोऽप्यर्थस्य सत्त्वाऽ-
सत्त्वविचारणायां प्रवर्त्तन्ते; अन्यथा तदप्रवृत्तौ तदवभासिनोऽर्थस्यासत्त्वाशङ्कया तज्ज्ञानस्याऽ-
वस्तुविषयत्वेनाप्रमाणतया शङ्क्यमानस्य न[1] तज्जलावभासिप्रवर्त्तकज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकत्वम्। ५
ततश्चान्यस्य तत्समानरूपतया प्रामाण्यनिश्चयाभावात् कथम् 'अर्थक्रियार्थी प्रवृत्तिर्निश्चितप्रामा-
ण्याद् ज्ञानात्' इत्यभ्युपगमः शोभनः?। किंच, भिन्नजातीयं संवादकज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायक-
मभ्युपगम्यमानमेकार्थम्? भिन्नार्थं वा?[2]। यद्येकार्थमित्यभ्युपगमः-स न युक्तः, भवन्मतेना-
घटमानत्वात्। तथाहि-रूपज्ञानाद् भिन्नजातीयं स्पर्शादिज्ञानम्, तत्र च स्पर्शादिकमाभाति
न रूपम्, रूपज्ञाने तु रूपम्-न स्पर्शादिकम्-आभाति, रूप-स्पर्शयोश्च परस्परं भेदः; न चाव- १०
यवी रूप-स्पर्शज्ञानयोरेको विषयतयाऽभ्युपगम्यते, येनैकविषयं भिन्नजातीयं पूर्वज्ञानप्रामाण्य-
व्यवस्थापकं भवेत्। अपि च, एकविषयत्वेऽपि किं येन स्वरूपेण व्यवस्थाप्ये ज्ञाने सोऽर्थः
प्रतिभाति, किं तेनैव व्यवस्थापके? उतान्येन?। तत्र यदि तेनैवेत्यभ्युपगमः, स न युक्तः; व्यवस्था-
पकस्य तावद्गृहीतार्थविषयत्वेन स्मृतिवदप्रमाणत्वेन व्यवस्थापकत्वासम्भवात्। अथ रूपान्तरेण
सोऽर्थस्तत्र विज्ञाने प्रतिभाति; नन्वेवं संवाद्य-संवादकयोरेकविषयत्वं न स्यादिति द्वितीय एव १५
पक्षोऽभ्युपगतः स्यात्, स चायुक्तः; सर्वस्यापि[3] भिन्नविषयस्यैकसन्तानप्रभवस्य विजातीयस्य
प्रामाण्यव्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात्। तथा किं तत् समानकालमर्थक्रियाज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चा-
यकम्? आहोस्विद् भिन्नकालम्?। यदि समानकालम्-किं साधननिर्भासिज्ञानग्राहि? उत तदग्राहि?
इति पुनरपि विकल्पद्वयम्। यदि तद्ग्राहि, तदसत्; ज्ञानान्तरस्य चक्षुरादिज्ञानेष्वप्रतिभासनात्,
प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन चक्षुरादिज्ञानानामभ्युपगमात्। अथ तदग्राहि, न तर्हि तज्ज्ञानप्रामाण्य- २०
निश्चायकम्, तदग्रहे तद्गतधर्माणामप्यग्रहात्। अथ भिन्नकालम्, तदप्ययुक्तम्; पूर्वज्ञानस्य
क्षणिकत्वेन नाशादुत्तरकालभाविविज्ञानेऽप्रतिभासनात्, भासने चोत्तरविज्ञानस्यासद्विषयत्वे-
नाप्रामाण्यप्रसक्तितस्तद्ग्राहकत्वेन न तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वम्। तदग्राहकं तु भिन्नकालं सुतरां
न तन्निश्चायकमिति न भिन्नकालमप्येकसन्तानजं भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति न संवादापेक्षः
पूर्वप्रमाणप्रामाण्यनिश्चयः। तेन ज्ञातावपि 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः' इति प्रयोगे[4] हेतोर्नासिद्धिः। २५
व्याप्तिस्तु साध्यविपक्षाऽतन्नियतत्वव्यापकात् सापेक्षत्वान्निवर्त्तमानमनपेक्षत्वं तन्नियतत्वेन व्याप्यते
इति प्रमाणसिद्धैव[5]। यतश्च न पूर्वोक्तेन प्रकारेण परतःप्रामाण्यनिश्चयः सम्भवति, ततो 'ये सन्देह-
विपर्ययविपर्यीकृतात्मतत्त्वाः' इति प्रयोगे[6] व्याप्त्यसिद्धिः। हेतोश्चासिद्धता सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये
सन्देह-विपर्ययाभावात्। तथाहि-ज्ञाने समुत्पन्ने सर्वेषाम् 'अयमर्थः' इति निश्चयो भवति, न
च प्रामाण्यस्य सन्देहे, विपर्यये वा सत्येष युक्तः। तदुक्तम्- ३०

"प्रामाण्यग्रहणात्[7] पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम्।
निरपेक्षं स्वकार्ये च"[8] [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ८३] इति।

स्वार्थनिश्चयो हि प्रमाणकार्यम्-न च तत्[9] प्रमाणान्तरग्रहणं चापेक्षत इति गम्यते-न चैतत्
संशय-विपर्ययविषयत्वे सम्भवतीति[10]।

अथ प्रमाणा-ऽप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यं रूपमिति न संवाद-विसंवादावन्तरेण तयोः प्रामा- ३५
ण्या-ऽप्रामाण्यनिश्चयः, तदसत्; अप्रमाणे तदुत्तरकालमवश्यंभाविनौ[11] बाधक-कारणदोषप्रत्ययौ,
तेन तत्राप्रामाण्यनिश्चयः, प्रमाणे तु तयोरभावात् कुतोऽप्रामाण्याशङ्का?। अथ तत्तुल्यरूपे
तयोर्दर्शनात् तत्रापि तदाशङ्का, साऽपि न युक्ता; त्रि-चतुरज्ञानापेक्षामात्रतस्तत्र तस्या
निवृत्तेः। न च तदपेक्षातः स्वतःप्रामाण्यव्याहतिः, अनवस्था चेत्याशङ्कनीयम्, संवादकज्ञान-

१ न जलाव-वा०, का०। २ अत्रैव पृष्ठे ८ पङ्क्तौ उक्त.-'भिन्नार्थम्' इति पक्षः। ३ पूर्वस्यापि-आ०, गु०, भा०। ४ प्रयोगोऽयम्-पृ० २, पं० ५। ५ "व्याप्ति प्रमाणसिद्धैव-इति पाठः"—भा० टि०। ६ अयमपि प्रयोग-पृ० २, पं० १४। ७ प्रामाण्यं ग्रहणात् पूर्वम्—वा०। ८ मुद्रितश्लोकवार्तिके तु एतद् एवं सपूर्णम्—"निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरे"। ९ न च तत्र प्रमाणान्तरं ग्रहणमपेक्षते—वा०, गु०। १० "निरपेक्षं स्वकार्ये" इत्यस्यैतत् तात्पर्यम्। ११-भाविबाधक-गु०।

स्याप्रामाण्याशङ्काव्यवच्छेदे एव व्यापारात्—अपरज्ञानानपेक्षणाच्च । तथाहि—अनुत्पन्नबाधके ज्ञाने परत्र बाध्यमानप्रत्ययसाधर्म्यादप्रामाण्याशङ्का, तस्यां सत्यां तृतीयज्ञानापेक्षा, तच्चोत्पन्नं यदि प्रथमज्ञानसंवादि, तदा तेन न प्रथमज्ञानप्रामाण्यनिश्चयः क्रियते, किंतु द्वितीयज्ञानेन यत् तस्याऽप्रामाण्यमाशङ्कितं तदेव तेनापाक्रियते; प्रथमस्य तु स्वत एव प्रामाण्यमिति । एवं तृतीयेऽपि ५ कथञ्चित् संशयोत्पत्तौ चतुर्थज्ञानापेक्षायामयमेव न्यायः । तदुक्तम्—

"एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते" ॥ इति [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ६१]

यत्र च दुष्टं कारणम्, यत्र च बाधकप्रत्ययः-स एव मिथ्याप्रत्ययः-इत्यस्याप्ययमेव विषयः । चतुर्थज्ञानापेक्षा त्वभ्युपगमवादत उक्ता, नतु तदपेक्षाऽपि भावतो विद्यते । अथ तृतीयज्ञानं द्वितीयज्ञानसंवादि, तदा प्रथमस्याप्रामाण्यनिश्चयः—स तु—तत्कृतोऽभ्युपगम्यते एव; किंतु द्वितीयस्य १० यदप्रामाण्यमाशङ्कितं तत् तेनाऽपाक्रियते, न पुनस्तस्य द्वितीयप्रामाण्यनिश्चायकत्वे व्यापारः । यत्र त्वभ्यस्ते विषयेऽर्थतथात्वशङ्का नोपजायते तत्र बलादुत्पाद्यमाना शङ्का तत्कर्तुरनर्थकारिणीत्यावेदितं वार्तिककृता—

"आशङ्केत हि यो मोहादजातमपि बाधकम् ।
१५ स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्" ॥ [ ] इति ।

न चैतदभिशापमात्रम्, यतोऽशङ्कनीयेऽपि विषयेऽभिशङ्किनां सर्वत्रार्थाऽनर्थप्राप्तिपरिहारार्थिनामिष्टा-ऽनिष्टप्राप्ति-परिहारसमर्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारासम्भवाद् न्यायप्राप्त एव क्षयः, स्वोत्प्रेक्षितनिमित्तनिबन्धनाया आशङ्कायाः सर्वत्र भावात् ।

प्रेरणाजनिता तु बुद्धिरपौरुषेयत्वेन दोषरहितात् प्रेरणालक्षणाच्छब्दादुपजायमाना लिङ्गा-२० ऽऽप्तोक्ता-ऽक्षबुद्धिवत् प्रमाणं सर्वत्र स्वतः । तदुक्तम्—

"चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गा-ऽऽप्तोक्ता-ऽक्षबुद्धिवत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १८४] इति ।

तस्मात् स्वतः प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं परत इति व्यवस्थितम् । अतः सर्वप्रमाणानां स्वतः २५ सिद्धत्वाद् युक्तमुक्तम्—'स्वतः सिद्धं शासनं नातः प्रकरणात् प्रामाण्येन प्रतिष्ठाप्यम्' । इदं त्वयुक्तम्—'जिनानाम्' इति, जिनानामसत्त्वेन शासनस्य तत्कृतत्वानुपपत्तेः उपपत्तावपि परतःप्रामाण्यस्य निषिद्धत्वादिति ॥

[उत्तरपक्षः—(१) उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते, यत्तावदुक्तम्—'अर्थतथाभावप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्', तदयुक्तम्; ३० पराभ्युपगतज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेन निषेत्स्यमानत्वात् । यदप्यन्यदभ्यधायि—'तस्य यथार्थप्रकाशकत्वं प्रामाण्यम्, तच्चोत्पत्तौ स्वतः, विज्ञानकारणचक्षुरादिव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात्' तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तिरविद्यमानस्यात्मलाभः, सा चेन्निर्हेतुका, "देश-काल-स्वभावनियमो न स्यात्" इत्यन्यत्र प्रतिपादितम् । किंच, गुणवच्चक्षुरादिसद्भावे सति यथावस्थितार्थप्रतिपत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टा इति तद्धेतुका व्यवस्थाप्यते, अन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनत्वादन्यत्रापि हेतुफलभावस्य, अन्यथा दोष-३५ वच्चक्षुराद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधायिनी मिथ्याप्रतिपत्तिरपि स्वतः स्यात् । तथाऽभ्युपगमे

"वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात्" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ५४]

इति वचो व्याहतमनुपज्येत । यदपि 'अत्यक्षाऽक्षाश्रितगुणसद्भावे प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः तत्पूर्वकानुमानस्यापि तद्ग्राहकत्वेनाव्यापारात् चक्षुरादिगतगुणानामसत्त्वात् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वं

१ अथ तत् तृतीय-भां० । २-रथस्था-ऽतथात्वशङ्का-भां० । ३-नर्थप्राप्ति-परिहारसमर्थ-[illegible] ।
४ पृ० १, पं० ३० । ५ पृ० २, पं० २ । ६ पृ० २, पं० १ । ७ "द्विविधस्य-इति मिथ्यात्व-[illegible]—" भां० टि० । ८ "अप्रामाण्य त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्व-ऽज्ञान-संशयैः' इति पूर्वार्धम् (अस्य)—भां० टि०

प्रामाण्यस्योत्पत्तावयुक्तम्' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्; अप्रामाण्योत्पत्तावप्यस्य दोषस्य समानत्वात्। तथाहि–'अतीन्द्रियलोचनाद्याश्रिता दोषाः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते, उतानुमानेन? न तावत् प्रत्यक्षेण, इन्द्रियादीनामतीन्द्रियत्वेन तद्गतदोषाणामप्यतीन्द्रियत्वेन तेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः। नाप्यनुमानेन, अनुमानस्य गृहीतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वाभ्युपगमात्, लिङ्गप्रतिबन्धग्राहकस्य च प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चात्र विषयेऽसम्भवात्, प्रमाणान्तरस्य चात्रानन्तर्भूतस्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाण- ५ त्वात्' इत्यादि सर्वमप्रामाण्योत्पत्तिकारणभूतेषु लोचनाद्याश्रितेषु दोषेष्वपि समानमिति तेषामप्यसत्त्वात् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धत्वादप्रामाण्यमप्युत्पत्तौ स्वतः स्यात्। यदपि 'अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः' इत्यादि 'यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानादुत्पादकं कारणमात्रमनुमिनोति किंतु सम्यग्ज्ञानाद्' इत्यन्तमभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्; यतो यदि लोकव्यवहारसमाश्रयणेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये व्यवस्थाप्येते तदाऽप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि १० परतो व्यवस्थापनीयम्। तथाहि–लोको यथा मिथ्याज्ञानं दोषवच्चक्षुरादिप्रभवमभिदधाति तथा सम्यग्ज्ञानमपि गुणवच्चक्षुरादिसमुत्थमिति तदभिप्रायादप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमप्युत्पत्तौ परतः कथं न स्यात्? तथाहि–तिमिरादिदोषावष्टब्धचक्षुष्को विशिष्टौषधोपयोगावाप्ताक्षिनैर्मल्यगुणः केनचित् सुहृदा 'कीदृक्षे भवतो लोचने वर्त्तेते' इति पृष्टः सन् प्राह–'प्राक् सदोषे अभूतामिदानीं समासादितगुणे संजाते' इति। न च नैर्मल्यं दोषाभावमेव लोको व्यपदिशति इति शक्यमभिधा- १५ तुम्, तिमिरादेरपि गुणाभावरूपत्वव्यपदेशप्राप्तेः; तथाच अप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वतः स्यात्। यदप्यभ्यधायि 'न च तृतीयं कार्यमस्ति' इति, तदप्यसम्यक्; तृतीयकार्याभावेऽपि पूर्वोक्तन्यायेन प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परतः सिद्धत्वात्। यच्च 'अपि चार्थतथाभावप्रकाशनलक्षणं प्रामाण्यम्' इत्यादि 'विश्वमेकं स्यादिति वचः परिप्लवेत' इतिपर्यवसानमभिहितम्, तदपि अविदितपराभिप्रायेण; यतो न परस्यायमभ्युपगमः–विज्ञानस्य चक्षुरादिसामग्रीत उत्पत्तावप्यर्थतथाभावप्रकाशनलक्ष- २० णस्य प्रामाण्यस्य नैर्मल्यादिसामग्र्यन्तरात् पश्चादुत्पत्तिः, किंतु गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानमागृहीतप्रामाण्यस्वरूपमेवोपजायत इति। ज्ञानवत् तदव्यतिरिक्तस्वभावं प्रामाण्यमपि परत इति गुणवच्चक्षुरादिसामग्र्यपेक्षत्वादुत्पत्तौ प्रामाण्यस्यानपेक्षत्वलक्षणस्वभावहेतुरसिद्धोऽनपेक्षत्वस्वरूप इति 'तस्मात्स्वत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात्' इत्याद्ययुक्तमभिहितम्। 'अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम्, शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति' इत्यादि यदभिधा- २५ नम्, तदप्यसमीचीनम्; एवमभिधानेऽयथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तेरप्यप्रामाण्यरूपाया असत्याः केनचित् कर्तुमशक्तेस्तदपि स्वतः स्यात्। यदपि 'एतच्च नैव सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते' इत्यादि 'तदपेक्षा न विद्यते' इतिपर्यन्तमभिहितम्, तदपि प्रलापमात्रम्; यतोऽनेन न्यायेनाप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वत एव स्यात्। तदपि हि विपरीतार्थपरिच्छेदशक्तिलक्षणं न तिमिरादिदोषसङ्गतिमत्सु लोचनादिषु अस्तीति। अपि च, ज्ञानरूपतामात्मन्यसतीमाविर्भावयन्तीन्द्रियादयो न ३० पुनर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिमिति न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः। कुतश्चैतदैश्चर्यं शक्तिभिः प्राप्तं यत इमाः स्वत एवोदयं प्रत्यासादितमाहात्म्याः, न पुनस्तदाधाराभिमता भावविशेषा इति? न च तास्तेभ्यः प्राप्तव्यतिरेकाः, यतः स्वाधाराभिमतभावकारणेभ्यो भावस्योत्पत्तावपि न तेभ्य एवोत्पत्तिमनुभवेयुः। व्यतिरेके, स्वाश्रयैस्ततोऽप्रभवन्त्यो न सम्बन्धमाप्नुयुः, भिन्नानां कार्यकारणभावव्यतिरेकेणापरस्य सम्बन्धस्याभावात्, आश्रयाश्रयिसम्बन्धस्यापि जन्यजनकभावाभावेऽतिप्रसङ्गतो ३५

१ पृ० २ पं० १९। २ वाऽत्र का०। ३ पृ० ३ पं० १५। ४ पृ० ३ पं० २९। ५ ग्रन्थाग्रम् ३०० श्लो०। ६ प्रभवमित्यभि-गु०। ७-दप्यप्रामाण्य-गु०। ८ पृ० ३ पं० ३०। ९ पृ० ३ पं० ३१। १० पृ० ३ पं० ३६। ११-लक्षणभाव-मा०, का०, गु०। १२ नैतद् ग्रन्थकारवचनम्, किंतु 'प्रामाण्यस्यानपेक्षत्वलक्षणस्वभावहेतु' इति वाक्यान्तर्गतस्य 'अनपेक्षत्वलक्षण' इति पदस्य केनचित् 'अनपेक्षत्वस्वरूप' इत्येवं कृतं विवरणं लेखकभ्रमेण ग्रन्थकारवचनमिव जातमिति अस्माकं भाति। १३ पृ० ४ पं० १। १४ पृ० ४ पं० ५। १५ सत्कार्यप्रदर्शन-वा०, वि०, हा०, भ० विना सर्वत्र। १६ पृ० ४ पं० ९। १७ पृ० ४ पं० १८। १८ "ज्ञाने"–गु० टि०। १९ "पूर्वमिति शेष." गु० टि०। २० ऐश्वर्यम् 'डे' प्रतावेव, अन्यत्र क्वचित् (वा०, मा०, हा०, वि०) आश्चर्यम्, क्वचित् (का०, भ०, आ०) आश्चर्यम्। २१ "ज्ञानविशेषा.–स्वोदयं प्रत्यासादितमाहात्म्या इति शेष." गु० टि०। २२-जनकभावभावे मा०।

निषेत्स्यमानत्वात् । धर्मत्वाच्छक्तेराश्रय इत्यप्ययुक्तम्, असति पारतन्त्र्ये परमार्थतस्तद्योगात् । पारतन्त्र्यमपि न सतः, सर्वनिराशंसत्वात् । असतोऽपि व्योमकुसुमस्येव न, तत्त्वादेव । अनिमित्ताश्चेमा न देश-काल-द्रव्यनियमं प्रतिपद्येरन्, तद्धि किञ्चित् क्वचिदुपलीयेत न वा यद् यत्र कथञ्चिदायत्तमनायत्तं वा । सर्वप्रतिबन्धविवेकिन्यश्चेच्छक्तयो नेमाः कस्यचित् कदाचिद् विरमेयुरिति
५ प्रतिनियतशक्तियोगिता भावानां प्रमाणप्रमिता न स्यात् । व्यतिरेकाऽव्यतिरेकपक्षस्तु शक्तीनां विरोधाऽनवस्थोभयपक्षोक्तदोषादिपरिहाराद् विनाऽनुद्घोष्यः । अनुभयपक्षस्तु न युक्तः, परस्परपरिहारस्थितरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वात् । न च विहितस्य पुनस्तस्यैव निषेधः, विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोधात् । ये त्वाहुः—"उत्तरकालभाविनः संवादप्रत्ययान्न जन्म प्रतिपद्यते शक्तिलक्षणं प्रामाण्यमिति स्वत उच्यते न पुनर्विज्ञानकारणान्नोपजायते" इति, तेऽपि न
१० सम्यक् प्रचक्षते; सिद्धसाध्यतादोषात्, अप्रामाण्यमपि चैवं स्वतः स्यात्, नहि 'तदप्युत्पन्ने ज्ञाने विसंवादप्रत्ययादुत्तरकालभाविनः तत्रोत्पद्यते' इति कस्यचिदभ्युपगमः । यदा च गुणवत्कारणजन्यता प्रामाण्यस्य शक्तिरूपस्य प्राक्तनन्यायादवस्थिता तदा कथमौत्सर्गिकत्वं तस्य दुष्टकारणप्रभवेषु मिथ्याप्रत्ययेष्वभावात्, परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकत्रासम्भवात्? तस्माद् "गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावाद् अप्रामाण्यद्वयासत्त्वेनोत्सर्गोऽनपोदित एवास्ते" इति वचः परिफल्गुप्रायम् ।
१५ इतश्चैतद्वचोऽयुक्तम्, विपर्ययेणाप्यस्योद्घोषयितुं शक्यत्वात् । तथाहि—दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावात् प्रामाण्यद्वयासत्त्वेनाप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इति ब्रुवतो न वक्त्रं वक्रीभवति ।

किंच, 'गुणेभ्यो दोषाणामभाव' इति न तुच्छरूपो दोषाभावो गुणव्यापारनिष्पाद्यः । तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पद्वारेण कारकव्यापारस्यासम्भवात् भवद्भिरनभ्युपगमाच्च । तुच्छाभावस्याभ्युपगमे वा—

२०　　"भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत् ।
　　अभावः संमतस्तस्य हेतोः किं न समुद्भवः?" ॥ [　　　]

इति वचो न शोभेत । तस्मात् पर्युदासवृत्त्या प्रतियोगिगुणात्मक एव दोषाभावोऽभिप्रेतः, ततश्च 'गुणेभ्यो दोषाभावः' इति ब्रुवता 'गुणेभ्यो गुणाः' इत्युक्तं भवति ।

न च गुणेभ्यो गुणाः कारणानामात्मभूता उपजायन्ते इति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वका
२५ रणेभ्यो गुणोत्पत्तिसद्भावाच्च । तदभावादप्रामाण्यद्वयासत्त्वमपि प्रामाण्यमभिधीयते, ततश्च गुणेभ्यः प्रामाण्यमुत्पद्यत इत्यभ्युपगमात् परतः प्रामाण्यमुत्पद्यत इति प्राप्तम् । ततश्च स्वार्थावबोधशक्तिरूपप्रामाण्यात्मलाभे चेत् कारणापेक्षा, काऽन्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात्? तेनायुक्तमुक्तम्—

"लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु" इति ।

३० घटस्य जलोद्वहनव्यापारात् पूर्वं रूपान्तरेण स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्तं मृदादिकारणनिरपेक्षस्य स्वकार्ये प्रवृत्तिरिति, अतो विसदृशमुदाहरणम् । उत्पत्त्यनन्तरमेव च विज्ञानस्य नाशोपगमात् कुतो लब्धात्मनो वृत्तिः स्वयमेव? तदुक्तम्—

　　"नहि तत् क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमाऽऽत्मकम् ।
　　येनार्थग्रहणे पश्चाद्व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ॥
३५　　तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार उच्यते ।
　　तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः" ॥ [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० ५५-५६] इति ।

---

१ सर्वत्र प्रति- भ० । २-निषेधस्य पर-मु० । ३ समानमेतत् शब्दश, अर्थतोऽपि अनेन पद्येन—"तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावत । अप्रामाण्यद्वयासत्त्व तेनोत्सर्गोऽनपोदित" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ६५] ४ "पदार्थान्तरेण विनिर्मुक्त—स्वरू-मित्र इति भावः; इत्यभूतो भाव एव अभाव—न पुनर्भावादतिरिक्त इत्यर्थ । अत्र दृष्टान्तोऽनुपलम्भ, यथा घटानुपलम्भो घटातिरिक्तस्य घटादिरूपलम्भे पर्यवस्यति, तथा दोषा (ऽभावा) भावान्तरे पर्यवसायी यतश्च इत्याशय इति" मु० टि० । ५ "अयमाशय—नहि गुणेभ्य प्रामाण्यमुत्पाद्यते, [किं] तर्हि ? दोषाभाव, तेन हि अप्रामाण्यकारणद्वयासत्त्वेन प्रामाण्य स्वत एवोत्पद्यते, निरोधकाभावे स्वतस्तत्त्वप्राप्तेः व्यवहारात् भाषाभावात्?" मु० टि० । ६ स्वपरार्थप्र-मु० । ७ पृ० ४५० १६ ।

तस्माज्जन्मव्यतिरेकेण बुद्धेर्व्यापाराभावात् तत्र च ज्ञानानां सगुणेषु कारणेष्वपेक्षावचनात् कुतः स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिरिति किं तद् ज्ञानस्य कार्यं यत्र लब्धात्मनः प्रवृत्तिः स्वयमेवेत्युच्यते ? स्वार्थपरिच्छेदश्चेत्, न; ज्ञानपर्यायत्वात् तस्यात्मानमेव करोतीत्युक्तं स्यात्, तच्चायुक्तम्। 'प्रमाणमेतद्' इत्यनन्तरं निश्चयश्चेत्, न, भ्रान्तिकारणसद्भावेन क्वचिदनिश्चयात् विपर्ययदर्शनाच्च। तस्माज्जन्मापेक्षया गुणवच्चक्षुरादिकारणप्रभवं प्रामाण्यं परतःसिद्धमिति 'अथ चक्षुरादिज्ञानकारणे–'[1] ५ इत्याद्ययुक्ततया स्थितम्।

अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायास्तु बुद्धेः स्वतःप्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमो न युक्तः, अपौरुषेयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणतद्ग्राहकप्रमाणाविषयत्वेनासत्त्वात्, सत्त्वेऽपि भवन्नीत्या तस्यैव गुणत्वात् तथाभूतप्रेरणाप्रभवाया बुद्धेः कथं न परतःप्रामाण्यम् ? किंच, अपौरुषेयत्वे प्रेरणावचसो गुणवत्पुरुषप्रणीतलौकिकवाक्येषु तत्त्वेन निश्चितं प्रामाण्यं गुणाश्रयपुरुषप्रणीतत्वव्यावृत्त्या १० तत् तत्र न स्यात्। तथा च—

> "प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
> कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाऽऽप्तोक्ताऽक्षबुद्धिवत्"॥ [श्लो० वा० सू० २,१८४] इति।

इत्ययं श्लोक एवं पठितव्यः—

> प्रेरणाजनिता बुद्धिरप्रमा गुणवर्जितैः। १५
> कारणैर्जन्यमानत्वादलिङ्गाऽऽप्तोक्तबुद्धिवत्॥

अथ प्रेरणावाक्यस्यापौरुषेयत्वे पुरुषप्रणीतत्वाश्रया यथा गुणा व्यावृत्तास्तथा तदाश्रिता दोषा अपि, ततश्च तद्व्यावृत्तावप्रामाण्यस्यापि प्रेरणाया व्यावृत्तत्वात् स्वतः सिद्धमुत्पत्तौ प्रामाण्यम्। नन्वेवं सति गुण–दोषाश्रयपुरुषप्रणीत(त्व)व्यावृत्तौ प्रेरणायां प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोर्व्यावृत्तत्वात् प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रामाण्याऽप्रामाण्यरहिता प्राप्नोति। ततश्च— २०

> प्रेरणाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणं न चाप्रमा।
> गुण–दोषविनिर्मुक्तकारणेभ्यः समुद्भवात्॥

इत्येवमपि प्राक्तनः श्लोकः पठितव्यः। अत एव यथा—

> "दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते।
> वेदे कर्तुरभावात्तु दोषाशङ्कैव नास्ति नः" ॥ [ ] २५

इत्ययं श्लोक एवं पठितस्तथैवमपि पठनीयः—

> गुणाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते।
> वेदे कर्तुरभावात्तु गुणाशङ्कैव नास्ति नः॥

न च यत्रापि गुणाः प्रामाण्यहेतुत्वेनाऽऽशङ्क्यन्ते तत्रापि गुणेभ्यो दोषाभाव इत्यादि वक्तव्यम्, विहितोत्तरत्वात्। अपि च, अपौरुषेयत्वेऽपि प्रेरणाया न स्वतः स्वविषयप्रतीतिजनकत्वा- ३० पारः—सदा सन्निहितत्वेन ततोऽनवरतप्रतीतिप्रसङ्गात्—किंतु पुरुषाभिव्यक्तार्थप्रतिपादकसमयाविर्भूतविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षायाः। ते च पुरुषाः सर्वे रागादिदोषाभिभूता एव भवताऽभ्युपगताः, तत्कृतश्च संस्कारो न यथार्थः—अन्यथा पौरुषेयमपि वचो यथार्थं स्यात्—अतोऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमेऽपि समयकर्तृपुरुषदोषकृताप्रामाण्यसद्भावात् प्रेरणायामपौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति। तदुक्तम्— ३५

> "असंस्कार्यतया पुम्भिः सर्वथा स्यान्निरर्थता।
> संस्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत्" ॥ [ ]

यदप्यभाणि 'तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्ष'[4]—इत्यादि, तदप्यचारु; अविनाभावनिश्चयस्यैव गुणत्वात्, तदनिश्चयस्य विपरीतनिश्चयस्य च दोषत्वात्। तदेवम् उत्पत्तौ प्रामाण्यं गुणापेक्षत्वात् परतः इति स्थितम्॥ ४०

---

१ पृ० ४ पं० १९। २ श्लोकवार्तिकगतद्वितीयसूत्रसम्बन्धिना ६८ श्लोकेन साम्योऽस्य भाव०। ३ पृ० १० पं० १७। ४ पृ० ४ पं० २१।

[उत्तरपक्षः-(२) कार्ये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

यदप्युक्तम् 'नापि स्वकार्ये प्रवर्तमानं प्रमाणं निमित्तान्तरापेक्षम्' इति, तदप्यसंगतम्; यतो यदि कार्योत्पादनसामग्रीव्यतिरिक्तनिमित्तानपेक्षं प्रमाणमित्युच्यते तदा सिद्धसाधनम्। अथ सामग्र्येकदेशलक्षणं(ण)प्रमाणं(ण)निमित्तान्तरानपेक्षम्, तदप्यचारु; एकस्य जनकत्वासंभवात्—
५ "न ह्येकं किंचिज्जनकम्, सामग्री वै जनिका" [ ] इति न्यायस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात्। किंच, नार्थपरिच्छेदमात्रं प्रमाणकार्यम्, अप्रमाणेऽपि तस्य भावात्। किं तर्हि? अर्थतथात्वपरिच्छेदः, स चेत् न ज्ञानस्वरूपकार्यः; भ्रान्तज्ञानेऽपि स्वरूपस्य भावात् तत्रापि सम्यगर्थपरिच्छेदः स्यात्। अथ स्वरूपविशेषकार्यो यथावस्थितार्थपरिच्छेदः इति नातिप्रसङ्गस्तर्हि स स्वरूपविशेषो वक्तव्यः— किमपूर्वार्थविज्ञानत्वम्, उत निश्चितत्वम्, आहोस्विद् बाधारहितत्वम्, उतस्विद् अदुष्ट-
१० कारणारब्धत्वम्, किं वा संवादित्वम् इति ? तत्र यद्यपूर्वार्थविज्ञानत्वं विशेषः, स न युक्तः; तैमिरिकज्ञानेऽपि तस्य भावात्। अथ निश्चितत्वम्, सोऽप्ययुक्तः; परोक्षज्ञानवादिनो भवतोऽभिप्रायेणासंभवात्। अथ बाधारहितत्वं विशेषः, सोऽपि न युक्तः; यतो बाधाविरहस्तत्कालभावी विशेषः, उत्तरकालभावी वा? न तावत् तत्कालभावी, मिथ्याज्ञानेऽपि तत्कालभाविनो बाधाविरहस्य भावात्। अथोत्तरकालभावी, तत्रापि वक्तव्यम्—किं ज्ञातः स विशेषः, उत अज्ञातः? तत्र
१५ न अज्ञातः, अज्ञातस्य सत्त्वेनाप्यसिद्धत्वात्। अथ ज्ञातोऽसौ विशेषः, तत्रापि वक्तव्यम्—उत्तरकालभावी बाधाविरहः किं पूर्वज्ञानेन ज्ञायते, आहोस्विदुत्तरकालभाविना ? तत्र न तावत् पूर्वज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः, तद्धि स्वसमानकालं संनिहितं नीलादिकमवभासयतु, न पुनः 'उत्तरकालमप्यत्र बाधकप्रत्ययो न प्रवर्त्स्यते' इत्यवगमयितुं शक्नोति; पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकालबाध्यत्वदर्शनात्। अथोत्तरज्ञानेन ज्ञायते, ज्ञायताम्, किंतूत्तरकालभावी बाधा-
२० विरहः कथं पूर्वज्ञानस्य विनष्टस्य विशेषो भिन्नकालस्य विनष्टं प्रति विशेषत्वायोगात्? किंच, ज्ञायमानत्वेऽपि केशोण्डुकादेरसत्यत्वदर्शनाद् बाधाऽभावस्य ज्ञायमानत्वेऽपि कथं सत्यत्वम्? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वादिति चेत्, तस्य कुतः सत्यत्वम् ? न प्रमेयसत्यत्वात्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। अपरबाधाऽभावज्ञानादिति चेत्, तत्राप्यपरबाधाऽभावज्ञानादित्यनवस्था। अथ संवादादुत्तरकालभावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते तर्हि संवादस्याप्यपरसंवादज्ञानात् सत्यत्वसिद्धिः, तस्या-
२५ प्यपरसंवादज्ञानादित्यनवस्था। किंच, यदि संवादप्रत्ययादुत्तरकालभावी बाधाऽभावो ज्ञायमानो विशेषः पूर्वज्ञानस्याभ्युपगम्यते तर्हि ज्ञायमानस्वविशेषापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तेत इति कथमनपेक्षत्वात् तत्र स्वतःप्रामाण्यम्? अपि च बाधाविरहस्य भवदभ्युपगमेन पर्युदासवृत्त्या संवादरूपत्वम्, 'बाधावर्जितं च ज्ञानं स्वकार्येऽन्यानपेक्षं प्रवर्त्तते' इति ब्रुवता संवादापेक्षं तत् तत्र प्रवर्त्तेत इत्युक्तं भवति। किंच, किं विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यते, आहो-
३० स्वित् प्रमेयम्, उतार्थक्रिया इति विकल्पत्रयम्। तत्र यदि विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यत इति पक्षः, स न युक्तः; विकल्पद्वयानतिवृत्तेः। तथाहि—विज्ञानं बाध्यमानं किं स्वसत्ताकाले बाध्यते, उत उत्तरकालम्? तत्र यदि स्वसत्ताकाले बाध्यत इति पक्षः, स न युक्तः, तदा विज्ञानस्य परिस्फुटरूपेण प्रतिभासनात्। न च विज्ञानस्य परिस्फुटप्रतिभासिनोऽभावस्तदैवेति वक्तुं शक्यम्, सत्याभिमतविज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गात्। अथोत्तरकालं बाध्यत इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; उत्तरकालं तस्य
३५ स्वत एव नाशाभ्युपगमाद् न तत्र बाधकव्यापारः सफलः—"दैवरक्ता हि किंशुकाः"। अथ प्रमेयं बाध्यते इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः; यतः प्रमेयं बाध्यमानं किं प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते, उताप्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शादिलक्षणेन इति विकल्पनाद्वयम्। तत्र यदि प्रतिभासमानेन

---

१ पृ० ४ प० २५ । २ स च ज्ञानस्वरूप—भां०, वां०, हा०, मां० । ३ ग्रन्थाग्रम् ४०० श्लो० ।
४ "वेदैकदेशविधितो यद् ज्ञानमुपजायते । अत परोक्ष तत् सर्वं प्रमाणं दोषवर्जितम् ॥ पौरुषेयत्वाद् अतोऽन्यद् विचिकित्सात्मकं भवेदित्याशय." मु० टि० । ५ "रञ्जनव्यापृति मा त्वं कुरु रजक! रञ्जने। यतः सन्ति सुलभा दैवरक्ता हि किंशुका ॥ इत्यादि इद रजक प्रति विरहिणीवाक्यम्" मु० टि० । ६ पृ० १३ प० २ लिखित 'अथ अप्रतिभासमानेन रूपेण' इत्युल्लेखम्, केवल 'वा०' प्रतौ च 'उत प्रतिभासमानरूपसहचारिणा' इति लभ्यमानं पाठं समीक्ष्य ज्ञायतेऽस्माभिर्यदत्र 'अप्रतिभासमानेन प्रतिभासमानरूपसहचारिणा' इति पाठो भवेद्—य एष च पाठोऽत्र मुद्रेगत ।

रूपेण, तदयुक्तम्; प्रतिभासमानस्य रूपस्यासत्त्वासंभवात्, अन्यथा सम्यग्ज्ञानावभासिनोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः। अथाप्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यत इति मतम्, तदप्ययुक्तम्; अप्रतिभासमानस्य रूपस्य प्रतिभासमानरूपादन्यत्वात्, न चान्यस्याभावेऽन्यस्याभावः, अतिप्रसङ्गात्। अथार्थक्रिया बाध्यते, ननु साऽपि किमुत्पन्ना बाध्यते, उतानुत्पन्ना ? यद्युत्पन्ना, न तर्हि बाध्यते; तस्याः सत्त्वात्। अथानुत्पन्ना, साऽपि न बाध्या; अनुत्पन्नत्वादेव। किंच, अर्थक्रियाऽपि पदार्थादन्या, ५ ततश्च तस्या अभावे कथमन्यस्यासत्त्वमतिप्रसङ्गादेव ? व्यवच्छेद्यासंभवे च 'बाधावर्जितम्' इति विशेषणस्याप्ययुक्तत्वान्न बाधाविरहोऽपि विज्ञानस्य विशेषः। अथादुष्टकारणारब्धत्वं विशेषः, सोऽपि न युक्तः; यतस्तस्याप्यज्ञातस्य विशेषत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वे वा कुतोऽदुष्टकारणारब्धत्वं ज्ञायते ? अन्यस्माददुष्टकारणारब्धाद् विज्ञानादिति चेत्, अनवस्था। संवादादिति चेत्, ननु संवादप्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणारब्धत्वं विशेषोऽन्यस्माददुष्टकारणारब्धात् संवादप्रत्ययाद् विज्ञायत इति १० सैवानवस्था भवतः संपद्यत इति। किंच, ज्ञानसव्यपेक्षमदुष्टकारणारब्धत्वविशेषमपेक्ष्य स्वकार्ये ज्ञानं प्रवर्त्तमानं कथं न तत् तत्र परतः प्रवृत्तं भवति ? तथा, कारणदोषाभावः पर्युदासवृत्त्या भवदभिप्रायेण कारणगुणः, ततश्च 'अदुष्टकारणारब्धम्' इति वदता 'गुणवत्कारणारब्धम्' इत्युक्तं भवति। कारणगुणाश्च प्रमाणेन स्वकार्ये प्रवर्त्तमानेनापेक्ष्यमाणनिश्चायकप्रमाणापेक्षा अपेक्ष्यन्ते, तदपि प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चयापेक्षं स्वकार्ये प्रवर्तत इत्यनवस्थादूषणं "जातेऽपि यदि विज्ञाने १५ तावन्नार्थोऽवधार्यते" इत्यादिना ग्रन्थेन परपक्षे आसज्यमानं स्ववधाय कृत्योत्थापनं भवतः प्रसक्तम्। अथादुष्टकारणजनितत्वनिश्चयमन्तरेणापि ज्ञानं स्वार्थनिश्चये स्वकार्ये प्रवर्त्तिष्यते, तदसत्; संशयादिविपर्यीकृतस्य प्रमाणस्य स्वार्थनिश्चायकत्वासंभवात्, अन्यथाऽप्रमाणस्यापि स्वार्थनिश्चायकत्वं स्यात्। तन्नादुष्टकारणारब्धत्वमपि विशेषो भवन्नीत्या संभवति। अथ संवादित्वं विशेषः, सोऽभ्युपगम्यत एव; किंतु 'संवादप्रत्ययोत्पत्तिनिश्चयमन्तरेण स न ज्ञातुं शक्यते' इति प्रतिपाद- २० यिष्यमाणत्वात् तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तत इति तत् तत्र परतः स्यात्। अत एव निरपेक्षत्वस्य असिद्धत्वात् पूर्वोक्तन्यायेन 'ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः' इति प्रयोगे नासिद्धो हेतुः। एतेनैव यदुक्तम्—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम्" ॥ [ ] इति, २५

तदपि निरस्तम्। यच्चोक्तम् 'यदि संवादापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते तदा चक्रकप्रसङ्गः' तदसङ्गतम्; 'यथावस्थितपरिच्छेदस्वभावमेतत् प्रमाणम्' इत्येवंनिश्चयलक्षणे स्वकार्ये यथा संवादापेक्षं प्रमाणं प्रवर्त्तते न च चक्रकदोषस्तथा प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। यदपि 'अथ गृहीताः कारणगुणाः' इत्याद्यभिधानम्, तदपि परसमयानभिज्ञतां भवतः ख्यापयति; 'कारणगुणग्रहणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते' इति परस्यानभ्युपगमात्। यच्चोक्तम् 'उपजायमानं प्रमाणमर्थपरिच्छेद- ३० शक्तियुक्तम्' इति, तत्राविसंवादित्वमेव अर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः—तच्च परतो ज्ञायते—तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते इति तत् तत्र परतः स्थितम्॥

[उत्तरपक्षः-(२) निश्चये प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरसनम्]

'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षम्' इत्युक्तं यत्, तदप्यसत्; यतो निश्चयस्तत्र भवन् किं निर्निमित्तः, उत सनिमित्तः इति कल्पनाद्वयम्। तत्र न तावन्निर्निमित्तः, प्रतिनियतदेश-काल- ३५ स्वभावाभावप्रसङ्गात्। सनिमित्तत्वेऽपि किं स्वनिमित्तः, उत स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः ? न तावत् स्वनिमित्तः, स्वसंविदितप्रमाणानभ्युपगमाद् मीमांसकस्य। अथ स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः, तत्रापि वक्तव्यम्—तन्निमित्तं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम् अन्यस्य तन्निश्चायकस्यासम्भवात् ? तत्र यदि प्रत्यक्षम्, तदयुक्तम्; प्रत्यक्षस्य तत्र व्यापारायोगात्—तद्धीन्द्रियसंयुक्ते विषये तद्व्यापारादुदयमासादयत् प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते, न चेन्द्रियाणामर्थापरोक्षतालक्षणेन फलेन, तत्संवेदनस्वरूपेण वा सम्प्र- ४०

---

१ 'वा०' विना सकलेष्वपि आदर्शेषु 'प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चायकं स्वकारणगुणनिश्चयापेक्षं स्वकार्ये' इति पाठः। २ पृ० ५ पं० ५। ३ आसज्यमानं कां०। ४ कृत्योत्थापनं भां०, वा०। ५ पृ० २ पं० १२। ६ पृ० ४ पं० २८। ७ पृ० ४ पं० ३७। ८ पृ० ५ पं० ११। ९ पृ० ५ पं० १५।

योगो येन तयोर्यथार्थत्वस्वभावं प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारजनितेन प्रत्यक्षेण निश्चीयते; नापि मनो-
व्यापारजेन प्रत्यक्षेण, एवंविधस्यानुभवस्याभावात्; नापि तयोरुत्पादकस्य ज्ञातृव्यापाराख्यस्य यथा-
र्थत्वनिश्चायकत्वं प्रामाण्यं बाह्येन्द्रियजन्येन मनोजन्येन वा प्रत्यक्षेण निश्चीयते, तेन सहेन्द्रियाणां
सम्बन्धाभावात् । न चेन्द्रियासम्बद्धे विषये ज्ञानमुपजायमानं प्रत्यक्षव्यपदेशमासादयतीत्युक्तम् ।
५ नाप्यनुमानतः प्रामाण्यनिश्चयः, पूर्वोक्तस्य फलद्वयस्य यथावस्थितार्थत्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चये
लिङ्गाभावात् । ज्ञातृव्यापारस्य तु पूर्वोक्तफलद्वयस्वभावस्वकार्यलिङ्गसम्भवेऽपि न यथार्थनिश्चायक-
त्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चायकत्वम्; यतस्तल्लिङ्गं संवेदनाख्यं यथार्थत्वविशिष्टं तन्निश्चये व्याप्रियेत,
निर्विशेषणं वा? प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणे प्रमाणं वक्तव्यम्, तच्च न सम्भवतीति
प्रतिपादितम् । निर्विशेषणस्य फलस्य प्रामाण्यप्रतिपादकत्वे मिथ्याज्ञानफलमपि प्रामाण्यनिश्चायकं
१० स्यादित्यतिप्रसङ्गः । तथैतत् स्यात् पूर्वोक्तं फलद्वयमर्थसंवेदन-अर्थप्रकटतालक्षणमनुभवाद्विनिश्ची-
यते, यथा तस्य स्वतः पूर्वोक्तस्वरूपनिश्चयस्तथा यथार्थत्वस्यापि, यथा हि तत् संवेद्यमानं नीलसं-
वेदनतया संवेद्यते तथा यथार्थत्वविशिष्टस्यैव तस्य संवित्तिः; नहि नीलसंवेदनादन्या यथार्थत्वसं-
वित्तिः । यद्येवम्, शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि अर्थसंवेदनस्वभावत्वाद् यथार्थत्वप्रसक्तिः । स्मृतिप्रमोषा-
दयस्तु निषेत्स्यन्ते इति नानुमानादपि तत्प्रामाण्यनिश्चयः । किंच, प्रत्यक्षाऽनुमानयोः प्रामाण्य-
१५ निश्चयनिमित्तत्वेऽभ्युपगम्यमाने स्वतःप्रामाण्यनिश्चयव्याहतिप्रसङ्गः, तन्नान्यनिमित्तोऽपि प्रामाण्य-
निश्चयः । यदुक्तम् 'नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽन्यापेक्षम्, तद्ध्यपेक्षमाणं किं कारणगुणानपेक्षते'
इत्यादि, तदनभ्युपगमोपालम्भमात्रम् । न ह्यस्मदभ्युपगमः—यदुत स्वकारणगुणज्ञानात् प्रामाण्यं
निश्चीयते, कारणगुणानां संवादप्रत्ययमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात्, संवादप्रत्ययात् तु कारणगुणपरि-
ज्ञानाभ्युपगमे तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्यापि सिद्धत्वाद् व्यर्थं गुणनिश्चयपरिकल्पनम्, प्रामाण्य-
२० निश्चयोत्तरकालं गुणज्ञानस्य भावात् तन्निश्चयस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽनुपयोगाच्च । नाप्येकदा संवादाद्
गुणान् निश्चित्य अन्यदा संवादमन्तरेणापि गुणनिश्चयादेव तत्प्रभवस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयः
इति वक्तुं शक्यम्, अत्यन्तपरोक्षेषु चक्षुरादिषु कालान्तरेऽपि निश्चितप्रामाण्यस्वकार्यदर्शनमन्तरेण
गुणानुवृत्तेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । न च क्षणक्षयिषु भावेषु गुणानुवृत्तिरेकरूपैव सम्भवति, अपरापर-
सहकारिभेदेन भिन्नरूपत्वात् । संवादप्रत्ययाद्यार्थक्रियाज्ञानलक्षणात् प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगम्यत
२५ एव—"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [ ] इति प्रमाणलक्षणाभिधानात् । न च संवादित्वलक्षणं
प्रामाण्यं स्वत एव ज्ञायत इति शक्यमभिधातुम्, यतः संवादित्वं संवादप्रत्ययजननशक्तिः
प्रमाणस्य; न च कार्यदर्शनमन्तरेण कारणशक्तिर्निश्चेतुं शक्या । यदाह—"न ह्यप्रत्यक्षे कार्ये कारणभाव-
गतिः" [ ] इति । तस्मादुत्तरसंवादप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । न च संवा-
दप्रत्ययात् पूर्वस्य प्रामाण्यावगमे संवादप्रत्ययस्याप्यपरसंवादात् प्रामाण्यावगम इत्यनवस्थाप्रस-
३० ङ्गात् प्रामाण्यावगमाभाव इति वक्तुं युक्तम्, संवादप्रत्ययस्य संवादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाऽभाव-
तोऽनवस्थाऽनवतारात् । न च प्रथमस्यापि संवादापेक्षा मा भूदिति वक्तव्यम्, यतस्तस्य संवाद-
जनकत्वमेव प्रामाण्यम्; तदभावे तस्य तदेव न स्यात् । अर्थक्रियाज्ञानं तु साक्षादविसंवादि, अर्थ-
क्रियालम्बनत्वात्; तस्य स्वविषयसंवेदनमेव प्रामाण्यम्—तच्च-स्वतः सिद्धमिति नान्यापेक्षा ।
तेन 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्यादि परस्य प्रलापमात्रम् । न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यवस्तुवृत्तिशङ्काया-
३५ मन्यप्रमाणापेक्षयाऽनवस्थाऽवतारः इति वक्तव्यम्, अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थक्रियानुभवस्वभावत्वेनार्थ-
क्रियामात्रार्थिनां 'भिन्नार्थक्रियात एतद् ज्ञानमुत्पन्नम्, उत तद्व्यतिरेकेण' इत्येवंभूतायाश्चिन्ताया
निष्प्रयोजनत्वात् । तथाहि—यथा 'अर्थक्रिया किमवयवव्यतिरिक्तेनावयविनाऽर्थेन निष्पादिता, उताऽ-
व्यतिरिक्तेन, आहोस्विदुभयरूपेण, अथानुभयरूपेण, किंवा त्रिगुणात्मकेन, परमाणुसमूहात्मकेन
वा, अथ ज्ञानरूपेण, आहोस्वित् संवृतिरूपेण' इत्यादिचिन्ताऽर्थक्रियामात्रार्थिना निष्प्रयोजना—
४० निष्पन्नत्वाद् वाञ्छितफलस्य—तथेयमपि 'किं वस्तुसत्यामर्थक्रियायां तत्संवेदनज्ञानमुपजायते,
आहोस्विदवस्तुसत्याम्' इति, तृड्-दाहविच्छेदादिकं हि फलमभिवाञ्छितम्, तच्चाभिनिष्पन्नं
तद्वियोगज्ञानस्य स्वसंविदितस्योदये इति तच्चिन्ताया निष्फलत्वम्, अवस्तुनि ज्ञानद्वयासंभवाच्च ।

---

१ पृ० १२ प० ३९ । २ पृ० १२ प० ४० । ३ मिथ्याज्ञाने फलमपि भा०, मां०, कां० । ४ नीलं संवेदन- गु०, भा०, हा० । ५ पृ० ५ पं० १५ । ६ मन्थाग्रम् ५०० । ७ स्वविषयं गु० विना सर्वत्र । वि० प्रतौ तु 'स्वविषयसंवेदन-' इति परिष्कृतम् । ८ पृ० ६ प० २५ ।

यत्र हि साधनज्ञानपूर्वकमर्थक्रियाज्ञानमुत्पद्यते तत्रावस्तुशंका नैवास्ति, न ह्यनम्भावभिज्ञाने संजाते प्रवृत्तस्य दाह–पाकाद्यर्थक्रियाज्ञानस्य संभव इत्यागोपालाङ्गनाप्रसिद्धमेतत्। न च स्वप्नार्थक्रियाज्ञानमर्थक्रियाऽभावेऽपि दृष्टमिति जाग्रदर्थक्रियाज्ञानमपि तथाऽऽशङ्काविषयः, तस्य तद्विपरीतत्वात्। तथाहि—स्वप्नार्थक्रियाज्ञानमप्रवृत्तिपूर्वं व्याकुलमस्थिरं च; तद्विपरीतं तज्जाग्रद्दशाभावि, कुतस्तेन व्यभिचारः? यदि चार्थक्रियाज्ञानमप्यर्थमन्तरेण जाग्रद्दशायां भवेत् कतरदन्यज्ञानमर्थाव्यभिचारि स्याद् यद्बलेनार्थव्यवस्था क्रियेत? परतःप्रामाण्यवादिनो बौद्धस्य प्रतिकूलमाचरामीत्यभिप्रायवता तस्यानुकूलमेवाचरितम्। स हि 'निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्' इत्यभ्युपगच्छत्येव, भवता तु जाग्रद्दशा–स्वप्नदशयोरभेदं प्रतिपादयता तत्साहाय्यमेवाचरितम्; न हि तद्व्यतिरिक्तः प्रत्ययोऽस्ति यस्यार्थसंसर्गः। न चावस्थाद्वयतुल्यताप्रतिपादनं त्वया क्रियमाणं प्रकृतोपयोगि। तथाहि—सांव्यवहारिकस्य प्रमाणस्य लक्षणमिदमभिधीयते–"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [ ] इति। तच्च सांव्यवहारिकं जाग्रद्दशाज्ञानमेव, तत्रैव सर्वव्यवहाराणां लोके परमार्थतः सिद्धत्वात्; स्वप्नप्रत्ययानां तु निर्विषयतया लोके प्रसिद्धानां प्रमाणतया व्यवहाराभावात् 'किं स्वतः प्रामाण्यमुत परतः' इति चिन्तायाः अनवसरत्वात् तत्र जाग्रज्ज्ञाने द्वितयदर्शनात् 'किं प्रमाणम्, किं वाऽप्रमाणम्, तथा किं स्वतः प्रमाणम्, किं वा परतः' इति चिन्तायाः पूर्वोक्तलक्षणे 'जाग्रत्प्रत्ययत्वे सति' इति विशेषणाभिधाने स्वप्नप्रत्ययेन व्यभिचारचोदनं प्रस्तावानभिज्ञतां परस्य सूचयति। अपि च, "अर्थक्रियाऽधिगतिलक्षणफलविशेषहेतुर्ज्ञानं प्रमाणम्" इति लक्षणे 'तत्फलं नैवं प्रमाणलक्षणानुगतमिति कथं तस्यापि प्रामाण्यमवसीयते' इति चोद्यानुपपत्तिः। यथा 'अङ्कुरहेतुर्बीजम्' इति बीजलक्षणे नाङ्कुरस्यापि बीजरूपताप्रसक्तिः, ततो न विदुषामेवं प्रश्नः 'कथमङ्कुरे बीजरूपता निश्चीयते' इति। यथा चाङ्कुरदर्शनाद् बीजस्य बीजरूपता निश्चीयते तथाऽत्राप्यर्थक्रियाफलदर्शनात् साधनज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयः। न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यन्यतः प्रामाण्यनिश्चयादनवस्था, अर्थक्रियाज्ञानस्य तद्रूपतया स्वत एव सिद्धत्वात्। तदुक्तम्—"स्वरूपस्य स्वतोगतिः" [ ] इति। न च स्वरूपे ज्ञानस्य भ्रान्तयः संभवन्ति, स्वरूपाभावे स्वसंवित्तेरप्यवेदनाभावप्रसङ्गात्। व्यतिरिक्तविषयमेव हि प्रमाणमधिकृत्योक्तम्—"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्" [ ] इति, तथा "प्रामाण्यं व्यवहारेणार्थक्रियालक्षणेन" [ ] इति च। तस्माद् यत् प्रमाणस्यात्मभूतमर्थक्रियालक्षणपुरुषार्थाभिधानं फलं यदर्थोऽयं प्रेक्षावतां प्रयासः, तेन स्वतःसिद्धेन फलान्तरं प्रत्यनङ्गीकृतसाधनान्तरात्मतया 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति प्रमाणलक्षणविरहिणा साधननिर्भासिज्ञानस्यानुत्क्रान्तरूपफलप्रापणशक्तिस्वरूपप्रामाण्याधिगमेऽनवस्थाप्रेरणा क्रियमाणा परस्यासङ्गतैव लक्ष्यते। अत एवेदमपि निरस्तं यदुक्तम् 'अनिश्चितप्रामाण्यादपि साधनज्ञानात् प्रवृत्तावर्थक्रियाज्ञानोत्पत्ताववाप्तफला अपि प्रेक्षावन्तो यथा साधनज्ञानप्रामाण्यविचारणायां मनः प्रणिदधति—अन्यथा तत्समानरूपापरसाधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चयपूर्विकाऽन्यदा प्रवृत्तिर्न स्यात्—तथाऽर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यविचारणायां प्रेक्षावत्त्वादेव ते आद्रियन्ते; अन्यथाऽसिद्धप्रामाण्यादर्थक्रियाज्ञानात् पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चय एव न स्यात्' इति। 'अवाप्तफलत्वमनर्थकम्' इति, तदप्ययुक्तम्; 'अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, साधनज्ञानस्य तु तज्जनकत्वेन प्रामाण्यम्' इति प्रतिपादितत्वात्। यदभ्यधायि–"यदि संवादात् पूर्वस्य प्रामाण्यं निश्चीयते तदा—

(margin line numbers: ५, १०, १५, २०, २५, ३०, ३५)

---

१ तत्र वस्तु–का०, गु०। २ डे०, क्ष० इत्युभयप्रतौ 'त्परतः' इति, एतच्च 'तत् परतः' इति सभाव्यते–सुघटं चैतत्। ३ चिन्तायाः पूर्वोक्तलक्षणे अनव—डे०। ४ तत्र जा–गु०। तत्राऽजा–भा०। ५ द्वितीय–गा०, का०, गु०। ६ चिन्ताया पूर्वोक्त—वा०। "अनवसर इत्यशुद्धः." गु० टि०। ७ सति निर्विशेषणाभिधाने अ०। सतीति विशेषणाभिधानस्वप्न—वा०। ८ प्रस्तावाभिज्ञतां सूचय–वा०। ९–हेतुबीज–भा०, वा०, हा०। १० तत्राप्यर्थ—वा०, विना सर्वत्र। ११ स्वरूपज्ञान–का०, गु०, अ०, आ०, । १२ "यथाऽऽह धर्मकीर्तिः" इत्युल्लिख्य श्लोकवार्तिकटीकायां पार्थसारथिमिश्रो वचनमेतद् उद्धृतवान्–(श्लो० वा० सू० २, श्लो० ७६) १३–कृतासाधना–वा०। १४ साधनानिर्भासिज्ञानस्य–हा०, त्रि०, आ०। १५ पृ० ६ पं० २४। १६ पृ० ७ पं० २। १७ पृ० ७ पं० २। १८ साधनस्य तु गु०। १९ पृ० १५ पं० २०।

श्रोत्रधीरप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गतेः" [श्लो० सू० २, श्लो० ७७] इति,

तदप्ययुक्तम्; गीतादिविषयायाः श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियानुभवरूपत्वेन स्वत एव प्रामाण्यसिद्धेः। तथा चित्रगतरूपबुद्धेरपि स्वत एव प्रामाण्यसिद्धिः, अर्थक्रियाऽनुभवरूपत्वात्। गन्ध-स्पर्श-रसबुद्धीनां त्वर्थक्रियानुभवरूपत्वं सुप्रसिद्धमेव। यदप्युक्तम् 'किमेकविषयम्, भिन्नविषयं वा
५ संवादज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकम्' इत्यादि, 'तत्रैकसङ्घातवर्त्तिनो विषयद्वयस्य रूप-स्पर्शादि-लक्षणस्यैकसामग्र्यधीनतया परस्परमव्यभिचारात् स्पर्शादिज्ञानं जाग्रदवस्थायामभिवाञ्छित-स्पर्शादिव्यतिरेकेण असंभवद् भिन्नविषयमपि स्वविषयाभावेऽप्याशङ्क्यमानरूपज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चाययतीति न तत्संगत एवम् (गतमेव)। अत एव रूपाद्यर्थाविनाभावित्वाद् ध्वनीनां तद्विशेष-शङ्कायां क्वचिद् वीणादिरूपप्रतिपत्तौ तद्विशेषशङ्काव्यावृत्तेस्तद्रूपदर्शनसंवादादपि प्रामाण्यनिश्चयः
१० सिद्धो भवति। यच्चोक्तम् 'किं संवादज्ञानं साधनज्ञानविषयं तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, उत भिन्नविषयम्' इत्यादि, तदप्यविदितपराभिप्रायस्याभिधानम्; न हि संवादज्ञानं तद्ग्राहकत्वेन तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, किन्तु तत्कार्यविशेषत्वेन; यथा धूमोऽग्निम् इति पराभ्युपगमः। यच्च संवादज्ञानात् साधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चये चक्रकदूषणमभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्; यदि हि प्रथम-मेव संवादज्ञानात् साधनज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत तदा स्यात् तद् दूषणम्, यदा तु वह्निरूप-
१५ दर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पंस्तत्स्पर्शमनुभवति, कृपालुना वा केनचित् तद्देशं वह्नेरानयने, तदाऽसौ वह्निरूपदर्शन-स्पर्शनज्ञानयोः संबन्धमवगच्छति—'एवंस्वरूपो भावः एवंभू-तप्रयोजननिर्वर्त्तकः' इति—सोऽवगतसंबन्धोऽन्यदाऽनभ्यासदशायामनुमानात् 'ममायं रूपप्रति-भासोऽभिमतार्थक्रियासाधनः, एवंरूपप्रतिभासत्वात्, पूर्वोत्पन्नैवंरूपप्रतिभासवत्' इत्यस्मात् साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत इति कुतश्चक्रकचोद्यावतारः? "अभ्यासदशायामपि
२० साधनज्ञानस्यानुमानात् प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते" इत्येके। न च तद्दशायामन्वय-व्यतिरेक-व्यापारस्यासंवेदनान्नानुमानव्यापार इत्यभिधातुं शक्यम्, अनुपलक्ष्यमाणस्यापि तद्व्यापारस्याभ्युप-गमनीयत्वात् अकस्माद् धूमदर्शनात् परोक्षाग्निप्रतिपत्ताविव; अन्यथा गृहीतविस्मृतप्रतिबन्धस्यापि तद्दर्शनादकस्मात् तत्प्रतिपत्तिः स्यात्। न चाध्यक्षैव साधनज्ञानस्य फलसाधनशक्तिरिति कथ-मध्यक्षेऽनुमानप्रवृत्तिः इति चोद्यम्, दृश्यमानप्रदेशपरोक्षाग्निसङ्गतेरिव तज्जननशक्तेरप्रत्यक्षत्वेन
२५ अनुमानप्रवृत्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यत्वात्। तदुक्तम्—

"तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः।
स्मरणादभिलापेन व्यवहारः प्रवर्त्तते" [ ] इति।

अपरे तु मन्यन्ते "अभ्यासावस्थायामनुमानमन्तरेणापि प्रवृत्तिः सम्भवति"। अथ अनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टा इत्यनुमानकार्या सा; नन्वेवं सत्यभ्यासदशायां विकल्पस्वरूपानुमान-
३० व्यतिरेकेणापि प्रत्यक्षात् प्रवृत्तिर्दृश्यते इति तदा तत्कार्या सा कस्मान्न भवति? तथाहि-प्रतिपा-दोद्धार न विकल्परूपानुमानव्यापारः संवेद्यते, अथ च प्रतिभासमाने वस्तुनि प्रवृत्तिः सम्पद्यत इति। अथादावनुमानात् प्रवृत्तिर्दृष्टेति तदन्तरेण सा पश्चात् कथं भवति? नन्वेवमादौ पर्यालो-चनाद् व्यवहारो दृष्टः, पश्चात् पर्यालोचनमन्तरेण कथं पुरःस्थितवस्तुदर्शनमात्राद् भवति इति वाच्यम्? यदि पुनरनुमानव्यतिरेकेण सर्वदा प्रवृत्तिर्न भवतीति प्रवर्त्तकमनुमानमेवेत्यभ्युपगमः,
३५ तथासति प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावात् तत्राप्यनुमानमेव तन्निश्चयव्यवहारकारणम्, तदप्यपरलिङ्ग-निश्चयव्यतिरेकेण नोदयमासादयतीत्यनवस्थाप्रसङ्गतोऽनुमानस्यैवाप्रवृत्तेर्न क्वचिद् प्रवृत्तिलक्षणो

---

१ 'वा०' विना सर्वत्र 'अपि'। २ पृ० ७ पं० ८। ३ -शङ्क्यमानस्य रूप-भां०, कां०। ४ पृ० ७ पं० १८। ५ साधनविषयं तस्य गु०। ६ साधनप्रामाण्य—गु०। ७ पृ० ५ पं० २५। ८ साधनस्य प्रामाण्यं—गु०। ९ अत्र 'स्पर्शमनुभवति' इति पूर्वोक्तमन्वेयम्। १० साधनस्य फल—गु०। ११ तद् दृष्टा चे (चै) व वा०। १२ प्रन्थाग्रम्—श्लो० ६००।

व्यवहार इत्यभ्यासावस्थायां प्रत्यक्षं स्वत एव व्यवहारकृद् अभ्युपेयम्। अनुमानं तु तादात्म्य-तदुत्पत्ति-प्रतिबन्धलिङ्गनिश्चयबलेन स्वसाध्यादुपजायमानत्वादेव तत्प्रापणशक्तियुक्तं संवादप्रत्ययोदयात् प्रागेव प्रमाणाभासविवेकेन निश्चीयतेऽतः स्वत एव। तथाहि—यद् यत उपजायते तत् तत्प्रापणशक्तियुक्तम्, तद्यथा-प्रत्यक्षं स्वार्थस्य, अनुमेयादुत्पन्नं चेदं प्रतिबद्धलिङ्गदर्शनद्वारायातं लिङ्गिज्ञानमिति तत्प्रापणशक्तियुक्तं निश्चीयत इति। मूढं प्रति विषयदर्शनेन विषयी व्यवहारोऽत्र ५ साध्यते, सङ्केतविषयख्यापनेन समये प्रवर्तनात्। तथाहि—प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारनिबन्धन एवानेन प्रामाण्यव्यवहारः प्रतिपन्नः, अव्यभिचारश्च नान्यस्तदुत्पत्तेः, सैव च ज्ञानस्य प्रापणशक्तिरुच्यते। तदुक्तम्—

"अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ [　　　] इति। १०

तस्मात् मूढं प्रति परतःप्रामाण्यव्यवहारः साध्यते। अनुमाने प्रामाण्यस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयानन्तरं स्वसाध्याव्यभिचारलक्षणस्य तत उत्पन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् न परतःप्रामाण्यनिश्चये चक्रकचोद्यस्यावतारः। प्रत्यक्षे तु संवादात् प्रागर्थादुत्पत्तिः अशक्यनिश्चया इति संवादापेक्षैवानभ्यासदशायां तस्य प्रामाण्याध्यवसितिर्युक्ता। अत उत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वस्य प्रतिपादितत्वाद् 'ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः। यतश्च सन्देह-विपर्ययविषयप्रत्यय-१५ प्रामाण्यस्य परतो निश्चयो व्यवस्थितोऽतः 'ये सन्देह-विपर्ययाध्यासितत्तनवः' इति प्रयोगे न व्याप्त्यसिद्धिः। यदप्युक्तम् 'सर्वप्राणभृतां प्रामाण्यं प्रति सन्देह-विपर्ययाभावादसिद्धो हेतुः' इत्यादि, तदप्यसत्; यतः प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रमाणाऽप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेतरे, ते च कासाञ्चिद् ज्ञानव्यक्तीनां विसंवाददर्शनाज्जाताशङ्का न ज्ञानमात्रात् 'एवमेवायमर्थः' इति निश्चिन्वन्ति, नापि तज्ज्ञानस्य प्रामाण्यमध्यवस्यन्ति; अन्यथैषां प्रेक्षावत्तैव हीयत इति सन्देहविषये कथं २० न सन्देहः? तथा कामलादिदोषप्रभवे ज्ञाने विपर्ययरूपताऽप्यस्तीति तद्बलाद् विपर्ययकल्पनाऽन्यज्ञानेऽपि सङ्गतैवेति प्रकृते प्रयोगे नासिद्धो हेतुरिति भवत्यतो हेतोः परतःप्रामाण्यसिद्धिः।

यदपि 'प्रमाण-तदाभासयोस्तुल्यं रूपम्' इत्याद्याशङ्क्य 'अप्रमाणे अवश्यंभावी बाधकप्रत्ययः, कारणदोषज्ञानं च' इत्यादिना परिहृतम्, तदपि न चारु; यतो बाध-कारणदोषज्ञानं मिथ्याप्रत्यये अवश्यंभावि, सम्यक्प्रत्यये तदभावो विशेषः प्रदर्शितः; स तु किं बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये २५ वा? पूर्वस्मिन् पक्षे भ्रान्तदृशस्तद्भावेऽपि तदग्रहणं दृष्टं कञ्चित् कालम्, एवमत्रापि तदग्रहणं स्यात्। तत्रैतत् स्याद् भ्रान्तदृशः कञ्चित् कालं तदग्रहेऽपि कालान्तरे बाधकग्रहणम्, सम्यग्दृशौ तु कालान्तरेऽपि तदग्रहः; नन्वेतत् सर्वविदां विषयः, नार्वाग्दृशां व्यवहारिणामस्मादृशाम्। बाधकाभावनिश्चयोऽपि सम्यग्ज्ञाने किं प्रवृत्तेः प्राग् भवति, उत प्रवृत्त्युत्तरकालम्? यदि पूर्वः पक्षः, स न युक्तः; भ्रान्तज्ञानेऽपि तस्य सम्भवात् प्रमाणत्वप्रसक्तिः स्यात्। अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं बाधकाभाव-३० निश्चयः, सोऽपि न युक्तः; बाधकाभावनिश्चयमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पन्नत्वेन तन्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च बाधकाभावनिश्चये प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनि किञ्चिन्निमित्तमस्ति। अनुपलब्धिर्निमित्तमिति चेत्, न; तस्या असम्भवात्। तथाहि—बाधकानुपलब्धिः किं प्रवृत्तेः प्राग्भाविनी बाधकाभावनिश्चयस्य प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनो निमित्तम्, अथ प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनी इति विकल्पद्वयम्। तत्र यदि पूर्वः पक्षः, स न युक्तः; पूर्वकालाया बाधकानुपलब्धेः प्रवृत्त्युत्तरकालभाविबाधकाभाव-३५

---

१ "अनुमानम् अनुमिति', स्वसाध्यात् स्वविषयीभूतवह्नेः उपजायमानत्वाद् एव प्रापणशक्तियुक्तं वह्निव्यवहारनिरूपितसङ्केतवद् इति। कस्मात्? अत आह 'तदुत्पत्ति-' इति—तस्य वह्नेः भेदाभेदरूपतादात्म्यं च, तदुत्पत्तिश्च (तत्) कारणकत्वम्, प्रतिबन्धश्च व्याप्यत्वं च इत्यर्थं -एतेषामन्यतमविषयकलिङ्गनिश्चयबलेन इत्यर्थ, अतः संवादप्रत्ययं नापेक्षत इत्याह 'संवाद'-इति। अतः स्वत एव वह्निव्यवहारकृत् इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह 'तद्यथा' इति। अयमाशय —प्रत्यक्षं यथा इन्द्रियसन्निकर्षबलेन स्वार्थीभूतरूपादित उत्पद्यते, अतो रूपम् 'रूपम्' इति शब्दप्रयोगनिरूपितशब्दवद् इति" गु० टि०। २ "प्रत्यक्षस्य इत्यर्थ -एतेन प्रत्यक्षस्य अर्थप्रभवत्वम्" गु० टि०। ३ पृ० २ पं० ५। ४ पृ० २ पं० १४। ५ पृ० ७ पं० २८। ६ पृ० ७ पं० ३५। ७ पृ० ७ पं० ३६। ८ बाधक-कारण- गु०।

निश्चयनिमित्तत्वासम्भवात्, न ह्यन्यकाला अनुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चयं विदधाति अतिप्रसङ्गात्। नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनी बाधकानुपलब्धिस्तन्निश्चयनिमित्तम्, प्राक् प्रवृत्तेः 'उत्तरकालं बाधकोपलब्धिर्न भविष्यति' इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुमशक्यत्वेन तस्या असिद्धत्वात्। नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविन्यनुपलब्धिस्तदैव निश्चीयमाना तत्कालभाविबाधकाभावनिश्चयस्य निमित्तं ५भविष्यतीति वक्तुं शक्यम्, तत्कालभाविनो निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वप्रतिपादनात्। किंच, बाधकानुपलब्धिः सर्वसम्बन्धिनी किं तन्निश्चयहेतुः, उताऽऽत्मसम्बन्धिनी इति पुनरपि पक्षद्वयम्। यदि सर्वसम्बन्धिनीति पक्षः, स न युक्तः, तस्या असिद्धत्वात्-न हि 'सर्वे प्रमातारो बाधकं नोपलभन्ते' इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम्। अथात्मसम्बन्धिनीत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः; आत्मसम्बन्धिन्या अनुपलब्धेः परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्। तन्न बाधाऽभावनिश्चयेऽनुपलब्धिर्नि-१०मित्तम्। नाऽपि संवादो निमित्तम्, भवदभ्युपगमेनानवस्थाप्रसङ्गस्य प्रतिपादितत्वात्। न च बाधाऽभावो विशेषः सम्यक्प्रत्ययस्य सम्भवति इति प्रागेव प्रतिपादितम्। कारणदोषाभावेऽप्ययमेव न्यायो वक्तव्य इति नासावपि तस्य विशेषः। किंच, कारणदोष-बाधकाभावयोर्भवदभ्युपगमेन कारणगुण-संवादकप्रत्ययरूपत्वस्य प्रतिपादनात् तन्निश्चये तस्य विशेषेऽभ्युपगम्यमाने परतः प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगत एव स्यात्, न च सोऽपि युक्तः, अनवस्थादोषस्य भवदभिप्रायेण प्राक् प्रति-१५पादितत्वात्। यदप्युक्तम् 'एवं त्रिचतुरज्ञान'-इत्यादि, तत्रैकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यम्, पुनरप्रामाण्यम्, पुनः प्रामाण्यम् इत्यवस्थात्रयदर्शनाद् बाधके, तद्बाधकादौ वाऽवस्थात्रयमाशङ्कमानस्य कथं परीक्षकस्य नापराऽपेक्षा येनानवस्था न स्यात्? यदप्युक्तम् 'अपेक्षातः' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, यतो नायं छलव्यवहारः प्रस्तुतो येन कतिपयप्रत्ययमात्रं निरूप्यते। न हि प्रमाणमन्तरेण बाधकाशङ्कानिवृत्तिः, न चाशङ्काव्यावर्तकं प्रमाणं भवदभिप्रायेण सम्भवतीत्युक्तम्। तथा कारण-२०दोषज्ञानेऽपि पूर्वेण जाताशङ्कस्य कारणदोषज्ञानान्तरापेक्षायां कथमनवस्थानिवृत्तिः? कारणदोषज्ञानस्य तत्कारणदोषग्राहकज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वाद् नात्रानवस्था। यदाह-

> "यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव मृग्यते।
> निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ५२] इति,

एतच्चानुद्घोष्यम्, प्रागेव विहितोत्तरत्वात्। न च दोषाज्ञानाद् दोषाभावः, सत्स्वपि दोषेषु २५तदज्ञानस्य सम्भवात्। सम्यग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्यं हि रूपं तिमिरादिनिमित्तमिन्द्रियदोषः, स चातीन्द्रियत्वाद् सन्नपि नोपलक्ष्यते। न च दोषा ज्ञानेन व्याप्ताः येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन्। दोषाभावज्ञाने तु संवादाद्यपेक्षायां सैवानवस्था प्राक् प्रतिपादिता। एतेनैतदपि निराकृतं यदुक्तं भट्टेन—

> "तस्मात् स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्।
> ३० बाध-कारणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥ [ ]
> पराधीनेऽपि चैतस्मिन्नानवस्था प्रसज्यते।
> प्रमाणाधीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥ [ ]
> प्रमाणं हि प्रमाणेन यथा नान्येन साध्यते।
> न सिध्यत्यप्रमाणत्वमप्रमाणात् तथैव हि" ॥ [ ] इति।

३५स्यान्मतम् "यद्यप्यन्यानपेक्षप्रमितिभावो बाधकप्रत्ययस्तथाऽप्यबाधकतया प्रतीत एवान्यस्याप्रमाणतामाधातुं क्षमो नान्यथेति, सोऽयमदोषः; यतः—

---

१ पृ० १७ पं० ३१। २ पृ० १२ पं० २५। ३ पृ० १३ पं० ७। ४ पृ० १२ पं० २८ तथा पृ० १० पं० २२। ५ तद्विशेषेऽभ्युपग—भां०। ६ पृ० ८ पं० ६। ७ अपेक्षतेत्यादि कां०, गु०, वि०, हा०। अपेक्ष्यतेत्यादि आ०, डे०, मां०, भा०। ८ पृ० ७ पं० ३९। ९-न्यज्ञानापेक्ष—गु०, भा०, डे०। १० "नास्ति बाधक यस्मिन् तद् अबाधकम्-तत्ता, तया इत्येवमत्र बहुव्रीहिः" मां० टि०। ११-न्यस्य प्रमाणता-कां०, डे०।

बाधकप्रत्ययस्तावदर्थान्यत्वावधारणम्।
सोऽनपेक्षप्रमाणत्वात् पूर्वज्ञानमपोहते॥ [ ]
तत्रापि त्वपवादस्य स्यादपेक्षा क्वचित् पुनः।
जाताशङ्कस्य पूर्वेण साऽप्यन्येन निवर्तते॥ [ ]
बाधकान्तरमुत्पन्नं यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम्।
ततो मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणता॥ [ ] ५
अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे कृते।
मूलाभावान्न विज्ञानं भवेद् बाधकबाधनम्॥ [ ]
ततो निरपवादत्वात् तेनैवाद्यं बलीयसा।
बाध्यते तेन तस्यैव प्रमाणत्वमपोद्यते॥ [ ] १०
एवं परीक्षकज्ञानत्रितयं नातिवर्तते।
ततश्चाजातबाधेन नाशङ्क्यं बाधकं पुनः॥ [ ] इति। तथाहि—अनेन[2]

सर्वेणापि ग्रन्थेन स्वतःप्रामाण्यव्याहतिः परिहृता, परीक्षकज्ञानत्रितयाधिकज्ञानानपेक्षयाऽनवस्था च" एतद् द्वितयमपि परपक्षे प्रदर्शितं प्राक्तनन्यायेन। यच्चान्यत् पूर्वपक्षे परतःप्रामाण्ये दूषणमभिहितं तच्चानभ्युपगमेन निरस्तमिति न प्रतिपदमुच्चार्य दूष्यते। १५

[प्रेरणाबुद्धेः प्रामाण्याभावः]

प्रेरणाबुद्धेस्तु प्रामाण्यं न साधननिर्भासिप्रत्यक्षस्येव संवादात्, तस्य तस्यामभावात्। नाप्यव्यभिचारिलिङ्गनिश्चयबलात् स्वसाध्यादुपजायमानत्वादनुमानस्येव। किंच, प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं स्वतःप्रामाण्यप्रसाधनप्रयासोऽयं भवताम्, चोदनाप्रभवस्य च ज्ञानस्य न केवलं प्रामाण्यं न सिध्यति, किंत्वप्रामाण्यनिश्चयोऽपि तव न्यायेन सम्पद्यते। तथाहि— २० यद् दुष्टकारणजनितं ज्ञानं न तत् प्रमाणम्, यथा तिमिराद्युपद्रवोपहतचक्षुरादिप्रभवं ज्ञानम्, दोषवत्प्रेरणावाक्यजनितं च 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिवाक्यप्रभवं ज्ञानमिति कारणविरुद्धोपलब्धिः। न चासिद्धो हेतुः, भवदभिप्रायेण प्रेरणायां गुणवतो वक्तुरभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वस्य प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने सिद्धत्वात्। अथ स्यादयं दोषो यदि वक्तृगुणैरेव प्रामाण्यापवादकदोषाणां निराकरणमभ्युपगम्यते, यावता वक्तुरभावेनापि निराश्रयाणां दोषाणामसद्भावोऽभ्युपगम्यत २५ एव। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः"॥ [श्लो॰वा॰सू॰२,६२-६३श्लो॰] इति। ३०

भवेदप्येवम्, यद्यपौरुषेयत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धं स्यात्, तच्च न सिद्धम्; तत्प्रतिपादकप्रमाणस्य निषेत्स्यमानत्वात्। अत एव चेदमप्यनुद्घोष्यम्—

"तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति"॥ [श्लो॰ वा॰ सू॰ २, ६८ श्लो॰]।

तेन गुणवतो वक्तुरनभ्युपगमाद् भवद्भिः अपौरुषेयत्वस्य चासम्भवाद् अनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वं ३५ हेतुः प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः सिद्धः; दोषजन्यत्व-अप्रामाण्ययोरविनाभावस्यापि मिथ्याज्ञानेऽन्यत्र निश्चितत्वात् तद्विरुद्धत्व-अनैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतोः प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने प्रामाण्याभावसिद्धिः।

---

१ चापवादस्य मु॰। २ एनेन मु॰। ३ "व्याहतं तत् (इति) शब्दार्थः"। ४ "बुद्धेरित्यर्थः"। ५ "सुलभा" मु॰ टि॰। ६ मन्यामम् ५०० श्लो॰।

[ज्ञातृव्यापारस्यैवाऽसिद्धिः]

किंच, प्रमाणे[1] सिद्धे सति 'किं तत्प्रामाण्यं स्वतः, परतो वा' इति चिन्ता युक्तिमती, भवद्भ्युपगमेन तु तदेव न सम्भवति । तथाहि—ज्ञातृव्यापारः प्रमाणं भवताऽभ्युपगम्यते[2], न चासौ युक्तः; तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाहि—प्रत्यक्षं वा तद्ग्राहकम्, अनुमानम्, अन्यद्वा प्रमाणा-
५न्तरम्? तत्र यदि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकमभ्युपगम्येत तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—स्वसंवेदनम्, बाह्येन्द्रियजम्, मनःप्रभवं वा ? न तावत् स्वसंवेदनं तद्ग्राहकम्, भवता तद्ग्राह्यत्वानभ्युपगमात् तस्य । नापि बाह्येन्द्रियजम्, इन्द्रियाणां स्वसंबद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात्; न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां संबन्धः, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् । नापि मनोजन्यं प्रत्यक्षं ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणग्राहकम्, तथाप्रतीत्यभावात् अनभ्युपगमाच्च । अथानुमानं तद्ग्राहकमभ्युपगम्यते, तदप्ययुक्तम्;
१०यतोऽनुमानमपि "ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे[3] बुद्धिः" इत्येवंलक्षणमभ्युपगम्यते । संबन्धश्चान्यसंबन्धव्युदासेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते[6] । यत उक्तम्- "संबन्धो हि न तादात्म्यलक्षणो गम्यगमकभावनिबन्धनम् । यथोहि तादात्म्यं न तयोर्गम्यगमकभावः, तस्य भेदनिबन्धनत्वात्; अभेदे वा साधनप्रतिपत्तिकाल एव साध्यस्यापि प्रतिपन्नत्वात् कथं गम्यगमकभावः ? अप्रतिपत्तौ वा यस्मिन् प्रतीयमाने यन्न प्रतीयते तत् ततो भिन्नम्, यथा घटे प्रतीयमा-
१५नेऽप्रतीयमानः पटः; न प्रतीयते चेत् साधनप्रतीतिकाले साध्यं तदा तत् ततो भिन्नमिति कथं तयोस्तादात्म्यम् ? किंच, यदि तादात्म्याद् गम्यगमकभावोऽभ्युपगम्यते तदा तादात्म्याऽविशेषाद् यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वस्य गमकम्, तथाऽनित्यत्वमपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गमकं स्यात् । अथ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेवानित्यत्वनियतत्वेन निश्चितम्, नानित्यत्वं तन्नियतत्वेन, निश्चयापेक्षश्च गम्यगमकभाव इति, तर्हि 'यस्मिन्निश्चीयमाने यन्न निश्चीयते' इत्यादि पूर्वोक्तमेव दूषणं
२०पुनरापतति । अपि च, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव अनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितमिति वदता स एवासदभ्युपगतो नियमलक्षणः संबन्धोऽभ्युपगतो भवति । नापि तदुत्पत्तिलक्षणः संबन्धो गम्यगमकभावनिबन्धनम्, तथाऽभ्युपगमे वक्तृत्वादेरप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्वं स्यात् । अथ सर्वज्ञत्वे वक्तृत्वादेर्बाधकप्रमाणाभावात् सर्वज्ञत्वादिभ्यो वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः सन्दिग्धेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वान्नायं गमकस्तर्हि धूमस्याप्यनग्नौ बाधकप्रमाणाभावात् ततो व्यावृत्तिः सन्दिग्धेति सन्दि-
२५ग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादग्निं प्रति गमकत्वं न स्यात् । अथ "कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यधर्मानुवृत्तितः; स तदभावेऽपि भवन् कार्यमेव न स्यात्" इत्यनग्नौ धूमस्य सद्भावबाधकं प्रमाणं विद्यत इति नासौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकस्तर्ह्येतत् प्रकृतेऽपि वक्तृत्वादौ समानमिति तस्याप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्वं स्यात् । किंच, कार्यत्वे सत्यपि वक्तृत्वादेः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनासर्वज्ञत्वं प्रत्यनियतत्वाद् यद्यगमकत्वं तर्हि स एवासदभ्युपगतो नियमलक्षणः संबन्धोऽभ्युपगतो भवति ।
३०अपि च, तादात्म्य—तदुत्पत्तिलक्षणसंबन्धाभावेऽपि नियमलक्षणसंबन्धप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोद्गमन-अद्यतनसवितृद्गम-गृहीताण्डपिपीलिकोत्सर्पण-एकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूनां यथाक्रमं भाविशकटोदय-समानसमयसमुद्रवृद्धि श्वस्तनभानूदय-भाविवृष्टि-तत्समानकालसिन्दूराकारणरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वं सुप्रसिद्धम् । संयोगादिलक्षणस्तु संबन्धो भवतैव साध्यप्रतिपादनाङ्गत्वेन निरस्त इति तं प्रति न प्रयस्यते ।

३५　　"एवं परोक्तसंबन्धप्रत्याख्याने कृते सति ।
　　नियमो नाम संबन्धः स्वमतेनोच्यतेऽधुना ॥ [　　　]

---

१ प्रामाण्ये मु०, हा०, वि०, आ० । २ अभ्युपगतो न चा—भां०, वा०, वि० । ३ "त्रिरू-पाल्लिङ्गगिणमुदायरूपस्य" । ४ "शिरम्" (एकदेश) मु० टि० । ५ वाक्यं चैतत् शाबरभाष्ये पञ्चमसूत्रव्याख्याने (पृ० ८—पं० ९ का०) । ६ अभ्युपगतो यत भां०, वा०, वि० । ७ अत्र 'संबन्धो हि न तादात्म्यलक्षण' इत्यत आरभ्य 'न त्रिविधानुमीयते' इत्यादि (पृ० २१ पं० ४) पर्यन्तं 'यत उक्तम्' अवबोध्यम् । ८ अत्र "तथाहि" (इति योज्यम्) मु० टि० ।

कार्यकारणभावादिसंबन्धानां द्वयी गतिः ।
नियमाऽनियमाभ्यां स्यादनियमादतद्गता ॥ [ ]
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् ।
नियमात् केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते" ॥ [ ] इत्यादि।

स च संबन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, उत व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण इति विकल्पद्वयम्। ५ तत्र यदि प्रथमो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तत्रापि वक्तव्यम्—किं प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, उतानुमानेन इति ? न तावत् प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, अन्वयस्य हि रूपम् 'तद्भावे एव भावः', न च ज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्य प्रत्यक्षेण सद्भावः शक्यते ग्रहीतुम्, तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् त्वयाऽनभ्युपगमाच्च। नापि ज्ञातृव्यापारसद्भावे एवार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सद्भावः प्रत्यक्षेण ज्ञातुं शक्यः, तस्यापीन्द्रियव्यापारजेन प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः; तदशक्तिश्च-अक्षाणां तेन १० सह संबन्धाभावात्। नापि स्वसंवेदनलक्षणेन प्रत्यक्षेण पूर्वोक्तस्य हेतोः सद्भावः शक्यो निश्चेतुम्, भवदभिप्रायेण तत्र तस्याव्यापारात्, तत्र प्रत्यक्षेण साध्यसद्भावे एव हेतुसद्भावलक्षणोऽन्वयो निश्चेतुं शक्यः। नाप्यनुमानेन तन्निश्चयः, अनुमानस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात्। न च तस्यान्वयः प्रत्यक्षसमधिगम्यः, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। अनुमानात् तन्निश्चयेऽनवस्थे-तरेतराश्रयदोषावनुषज्येते इति प्रागेव प्रतिपादितम्। न च प्रत्यक्षाऽनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सम्भवति। तत्र अन्व- १५ यनिश्चयद्वारेण ज्ञातृव्यापारे साध्ये पूर्वोक्तस्य हेतोर्नियमलक्षणः संबन्धो निश्चेतुं शक्यः। नापि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण, यतो व्यतिरेकः 'साध्याभावे हेतोरभाव एव' इत्येवंस्वरूपः; न च प्रकृतस्य साध्यस्याभावः प्रत्यक्षेण समधिगम्यः, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, अनभ्युपगमात्, अभावप्रमाणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। नाप्यनुमानादिसद्भावग्राहकप्रमाणनिश्चेयः, अत एव दोषात्। अथादर्शननिश्चेय इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; यतोऽदर्शनं किमनुपलम्भरूपम्, आहोस्विद् अभावप्रमाणस्वरूपम् इति वक्तव्यम् ? २० तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; यतोऽत्रापि वक्तव्यम्-अनुपलम्भः किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेतः, आहोस्विद् अदृश्यानुपलम्भः इति ? तत्र यद्यदृश्यानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकोऽभिप्रेतः, तदाऽत्रापि कल्पनाद्वयम्—किं स्वसंबन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायकः, उत सर्वसंबन्धी? यद्यात्मसंबन्धी तन्निश्चायकः, स न युक्तः; परचेतोवृत्तिविशेषैस्तस्यानैकान्तिकत्वात्। अथ सर्वसंबन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायक इत्यभ्युपगमः, अयमप्ययुक्तः; सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धत्वात्। अथ २५ दृश्यानुपलम्भस्तन्निश्चायक इति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः; यतो दृश्यानुपलम्भश्चतुर्धा व्यवस्थितः—स्वभावानुपलम्भः, कारणानुपलम्भः, व्यापकानुपलम्भः, विरुद्धविधिश्चेति। तत्र यदि स्वभावानुपलम्भस्तन्निश्चायकत्वेनाभिमतः, स न युक्तः; स्वभावानुपलम्भस्यैवंविधे विषये व्यापारासंभवात्। तथाहि--एकज्ञानसंसर्गिणस्तुल्ययोग्यतास्वरूपस्य भावान्तरस्याभावव्यवहारसाधकत्वेन पर्युदासवृत्त्या, तदन्यज्ञानस्वभावोऽसावभ्युपगम्यते; न च प्रकृतस्य साध्यस्य केनचित् सहैकज्ञानसंसर्गित्वं संभव- ३० तीति नात्र स्वभावानुपलम्भस्य व्यापारः। नापि कारणानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकः, यतः सिद्धे कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभावनिश्चायकत्वेन प्रवर्त्तते; न च प्रकृतस्य साध्यस्य केनचित् सह कार्यत्वं निश्चितम्, तस्याऽदृश्यत्वेन प्रागेव प्रतिपादनात्। 'प्रत्यक्षाऽनुपलम्भनिबन्धनश्च कार्यकारणभावः' इति कारणानुपलम्भोऽपि न तन्निश्चायकः। व्यापकानुपलम्भस्तु सिद्धे व्याप्यव्यापकभावे व्याप्याभावसाधकोऽभ्युपगम्यते । न च प्रकृतसाध्यव्यापकत्वेन कश्चित् पदार्थो ३५ निश्चेतुं शक्यः, प्रकृतसाध्यस्यादृश्यत्वप्रतिपादनात्; तत्र व्यापकानुपलम्भोऽपि तन्निश्चायकः। विरुद्धोपलब्धिरप्यत्र विषये न प्रवर्त्तते। तथाहि—एको विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् सहानवस्थानलक्षणो निश्चीयते शीतो-ष्णयोरिव विशिष्टात् प्रत्यक्षात्। न च प्रकृतं साध्यमविकलकारणं कस्यचिद् भावे निवर्त्तमानमुपलभ्यते तस्याऽदृश्यत्वादेव। द्वितीयस्तु परस्परपरिहार-

१ पृ० २० पं० ५। २ तस्यान्वयनिश्चयः प्रत्य- भा०, कां०। ३ प्र० पृ० पं० ७। ४ पृ० २ पं० ३२-३४। ५ पृ० २० पं० ५। ६ "अनेन हि सिद्धावस्थाऽभिहिता, तेन साध्यावस्थाया विरोधो न सम्भवति इति सूचितम्; एतेन मारणस्यैव विरोधः प्रदर्शित इति न भ्रमितव्यम्" गु० टि०।

स्थितिलक्षणः, सोऽपि लक्षणस्य स्वरूपव्यवस्थापकधर्मरूपस्य दृश्यत्वाभ्युपगमनिष्ठो दृश्यत्वाभ्युपगमनिमित्तप्रमाणनिबन्धनो न प्रकृतसाध्यविषये संभवति, तत्र ततोऽपि प्रस्तुतसिद्धिः। तत्र साध्यस्याभावनिश्चयोऽनुपलम्भनिबन्धनः। साधनाभावनिश्चयोऽपि नादृश्यानुपलम्भनिमित्तः, उक्तदोषत्वात्; दृश्यानुपलम्भनिमित्तत्वेऽपि न स्वभावानुपलम्भस्तन्निमित्तम्, उद्दिष्टविषयाभावव्यव-
५हारसाधकत्वेन 'तस्य' व्यापाराभ्युपगमात्। अनुद्दिष्टविषयत्वेऽपि 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र साधनाभावः' इत्येवं न ततः साधनाभावनिश्चयः, तन्निश्चयश्च नियमनिश्चयहेतुरिति न स्वभावानुपलम्भोऽपि तन्नियमहेतुः। नापि कारणानुपलम्भः, यतः कारणं ज्ञातृव्यापार एवार्थप्रकटतालक्षणस्य हेतोर्भवताऽभ्युपगम्यते, न चासौ प्रत्यक्षसमधिगम्य इति कुतस्तस्य सम्प्रति (तं प्रति) कारणत्वावगमः ? इति न कारणानुपलम्भोऽपि तदभावनिश्चयहेतुः। व्यापकानुपलम्भेऽप्ययमेव न्यायः,
१०यतो व्यापकत्वमपि पूर्वोक्तहेतुं प्रति ज्ञातृव्यापारस्यैवाभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथाऽन्यस्य व्यापकत्वे साध्यविपक्षाद् व्यापकनिवृत्तिद्वारेण निवर्तमानमपि साधनं न साध्यनियतं स्यात्। अथ यथा सत्त्वलक्षणो हेतुः क्षणिकत्वलक्षणसाध्यव्यतिरिक्तक्रम-यौगपद्यस्वरूपपदार्थान्तरव्यापकनिवृत्तिद्वारेणाऽक्षणिकलक्षणाद् विपक्षाद् व्यावर्त्तमानः स्वसाध्यनियतस्तथा प्रकृतोऽपि हेतुर्भविष्यति, असम्यगेतत्; यतस्तत्रापि यद्यर्थक्रियालक्षणसत्त्वव्यापके क्रम-योगपद्ये कुतश्चित् प्रमाणात् क्षणिके
१५सिद्धे भवतस्तदा तन्निवृत्तिद्वारेण विपक्षाद् व्यावर्त्तमानोऽपि सत्त्वलक्षणो हेतुः स्वसाध्यनियतः स्यात्, अन्यथा तत्र व्यापकवृत्त्यनिश्चये राश्यन्तरे क्षणिकाऽक्षणिकरूपे तस्याशङ्क्यमानत्वेन तद्व्याप्यस्यापि नैकान्ततः क्षणिकनियतत्वनिश्चयः। न च प्रकृतसाध्येऽयं न्यायः, तस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन हेतुव्यापकभावान्तराधिकरणत्वासिद्धेः; तत्र व्यापकानुपलम्भनिमित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः। नापि विरुद्धोपलब्धिनिमित्तः, प्रकृतसाध्यस्यात्यन्तपरोक्षत्वेन तदप्रतिपत्तौ तदभावनियत-
२०विपक्षस्याप्यप्रतिपत्तितस्तेन सहार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः। परस्परपरिहारस्थितलक्षणस्तु विरोधोऽन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरर्थप्रकाशनाऽप्रकाशनयोः सम्भवति, न पुनरर्थप्रकाशन-अज्ञातृव्यापारयोः, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वाभावात्। नापि ज्ञातृव्यापारनियतत्वादर्थप्रकाशनस्य साध्यविपक्षेण विरोध इति शक्यमभिधातुम्, अन्योन्याश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि-सिद्धे तन्नियतत्वे तद्विपक्षविरोधसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तन्नियतत्वसिद्धिरिति स्पष्ट एवेतरेतराश्रयो
२५दोषः। तत्र विरुद्धोपलब्धिनिमित्तोऽपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः। अथादर्शनशब्देन अभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तमभिधीयते, तदप्यनुपपन्नम्; तस्य तन्निमित्तत्वासम्भवात्। तथाहि-निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकस्वरूपतयाऽऽत्मनोऽपरिणामरूपं वा तदभ्युपगम्येत, तदन्यवस्तुविषयज्ञानरूपं वा गत्यन्तराभावात् ? तदुक्तम्—

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि"॥ [श्लो०वा०सू०५, अभावप०श्लो० ११]

तत्र यदि 'निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनात्मनोऽपरिणामलक्षणमभावाख्यप्रमाणं साधनाभावनियतसाध्याभावस्वरूपव्यतिरेकनिश्चयनिमित्तम्' इत्यभ्युपगमः, स न युक्तः; तस्य समुद्रोदकपलपरिमाणेनानैकान्तिकत्वात्। अथान्यवस्तुविषयविज्ञानस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तमिति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-किं तत् साध्यनियतसाधनस्वरूपादन्यद्
३५वस्तु, यद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानमित्युच्यते ? यदि यथोक्तसाधनस्वरूपव्यतिरिक्तं पदार्थान्तरं तदा वक्तव्यम्-तदेकज्ञानसंसर्गि साधनेन सह, उतान्यथा इति ? यदि यथोक्तसाधनेनैकज्ञानसंसर्गि तदा तद्विपर्यज्ञानात् सिध्यति यथोक्तसाधनस्याभावनिश्चयः प्रतिनियतविषयः, किन्तु 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्राचश्यंतया साधनस्याप्यभावः' इत्येवंभूतो व्यतिरेकनिश्चयो न ततः सिध्यति; सर्वोपसंहारेण साधनाभावनियतसाध्याभावनिश्चयश्च हेतोः साध्यनियतत्वलक्षणनियमनिश्चायक इति नैक-

---

१ पृ० २१ पं० २२। २ अन्यथा तद्व्यापकवृत्त्य-गु०। ३ प्रत्यासम्-श्लो० ८००। ४ 'समुद्रोदक इति पलानि'? इत्येव समुद्रोदकपल्यपरिमाणेन। ५ समुद्रोदकपरिमाणेन-वं०। ६ "एकसंसर्गिपदज्ञानमपरसंसर्गिप्रमाणम्" (इति नियमेन) गु० टि०। ७-'निश्चयस्य हेतोः' भा०, वा० विना सर्वत्र।-निश्चयहेतोः स०

ज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भादभावाख्यात् प्रमाणात् व्यतिरेकनिश्चयः। अथ तदसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भस्वरूपमभावाख्यं प्रमाणं साध्याभावे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम्, तदप्यसम्यक्; अतिप्रसङ्गात्–न हि पदार्थान्तरोपलम्भमात्रादन्यस्य तदतुल्ययोग्यतारूपस्य तेन सहैकज्ञानासंसर्गिणः पदार्थान्तरस्याभावनिश्चयः, अन्यथा सह्योपलम्भाद् विन्ध्याभावनिश्चयः स्यात्। अथ तथाभूतसाधनादन्यस्तदभावः, तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्, तद् विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिमित्तम्। ननु तदपि ५ ज्ञानं किं 'यत्र यत्र साध्याभावस्तत्र तत्र साधनाभावः' इत्येवं प्रवर्त्तते, उत 'क्वचिदेव साध्याभावे साधनाभावः' इत्येवम्? तत्र यद्याद्यः कल्पः, स न युक्तः; यथोक्तसाधनविविक्तसर्वप्रदेश-कालप्रत्यक्षीकरणमन्तरेण एवंभूतज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात्। सर्वदेशप्रत्यक्षीकरणे च कालादिविप्रकृष्टानन्तप्रदेशप्रत्यक्षीकरणवत् स्वभावादिव्यवहितसर्वपदार्थसाक्षात्करणात् स एव सर्वदर्शी स्यादित्यनुमानाश्रयणं सर्वज्ञाभावप्रसाधनं चानुपपन्नम्। अथ द्वितीयपक्षाभ्युपगमः, तदा भवति ततः प्रतिनियते १० प्रदेशे साध्याभावे साधनाभावनिश्चयः–घटविविक्तप्रत्यक्षप्रदेश इव घटाभावनिश्चयः–किंतु तथाभूतात् साध्याभावे साधनाभावनिश्चयान्न व्यतिरेको निश्चितो भवति। साधनाभावनियतसाध्याभावस्य सर्वोपसंहारेण निश्चये व्यतिरेको निश्चितो भवति; अन्यथा—यत्रैव साध्याभावे साधनाभावो न भवति तत्रैव साधनसद्भावेऽपि न साध्यमिति–न साधनं साध्यनियतं स्यादिति व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तो न हेतोः साध्यनियमनिश्चयः स्यात्; तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः। अथ न प्रकृतसाधनाभा- १५ वज्ञानं तद्विविक्तसमस्तप्रदेशोपलम्भनिमित्तम्–येन पूर्वोक्तो दोषः–किन्तु तद्विषयप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिमित्तम्। तदुक्तम्—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता"॥ [श्लो० वा० सू० ५, अभावप० श्लो० १]

नन्वत्रापि वक्तव्यम्–किं सर्वदेश-कालावस्थितसमस्तप्रमातृसंबन्धिनी तन्निवृत्तिस्तथाभूतसाधना- २० भावज्ञाननिमित्तम्, उत प्रतिनियतदेश-कालावस्थितात्मसम्बन्धिनी इति कल्पनाद्वयम्। तत्र यद्याद्या कल्पना, सा न युक्ता; तथाभूतायास्तन्निवृत्तेरसिद्धत्वात्। न चासिद्धाऽपि तथाभूतज्ञाननिमित्तम्, अतिप्रसङ्गात्–सर्वस्यापि तथाभूतज्ञाननिमित्तं स्यात् केनचित् सह प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाभावात्; अनभ्युपगमाच्च—नहि परेणापि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेरसिद्धाया अभावज्ञाननिमित्तताऽभ्युपगता[1], कृतयत्नस्यैव प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेरभावसाधनत्वप्रतिपादनात्— २५

"गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते।
तदाऽन्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते"॥ [श्लो० वा० सू० ५, अर्था० प० श्लो० ३८]

इत्यभिधानात्।

न चेन्द्रियादिवदज्ञाताऽपि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरभावज्ञानं जनयिष्यतीति शक्यमभिधातुम्, प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तुच्छरूपत्वात्। न च तुच्छरूपाया जनकत्वम्, भावरूपताप्रसक्तेः–एवंलक्षणत्वात् भाव ३० स्यात्; तन्न सर्वसंबन्धिनी प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिर्विपक्षे साधनाभावनिश्चयनिबन्धनम्। नाप्यात्मसंबन्धिनी तन्निमित्तम्, यतः साऽपि किं तादात्विकी, अतीताऽनागतकालभवा वा? न पूर्वा, तस्या गङ्गापुलिनरेणुपरिसंख्यानेनानैकान्तिकत्वात्। नोत्तरा, तादात्विकस्यात्मनस्तन्निवृत्तेरसंभवात् असिद्धत्वाच्च; तन्न आत्मसंबन्धिन्यपि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिस्तज्ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तम्; तन्न अन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमप्यभावाख्यं प्रमाणं व्यतिरेकनिश्चयनिमित्तम्।

[प्रसङ्गवशाद् अभावप्रमाणनिरसनम्] ३५

यच्च—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया"॥ [श्लो० वा० सू० ५, अभावप० श्लो० २७]

---

[1] –भ्युपगम्यते मु०।

इत्यभावप्रमाणोत्पत्तौ निमित्तप्रतिपादनम्, तत्र किं वस्त्वन्तरस्य प्रतियोगिसंसृष्टस्य ग्रहणम्, आहोस्विद् असंसृष्टस्य ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः, प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणे प्रतियोगिनः प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरे ग्रहणाद् नाभावाख्यप्रमाणस्य तत्र तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तिः; प्रवृत्तौ वा प्रतियोगिसत्त्वेऽपि तदभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तेर्विपर्यस्तत्वान्न प्रामाण्यम् । अथ ५प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणं तदा प्रत्यक्षेणैव प्रतियोग्यभावस्य गृहीतत्वात् तत्राभावाख्यं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं व्यर्थम् । अथ प्रतियोग्यसंसृष्टताऽवगमो वस्त्वन्तरस्याभावप्रमाणसंपाद्यस्तर्हि तदप्यभावाख्यं प्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणे सति प्रवर्त्तते, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसंपाद्य इत्यनवस्था । तथा, प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं किं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य, अथासंसृष्टस्य? यदि संसृष्टस्य तदा नाभावप्रमाणप्रवृत्तिरिति पूर्ववद्वाच्यम् । अथासंसृष्टस्य स्मरणम्, ननु प्रत्यक्षेण १०वस्त्वन्तरासंसृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणं नान्यथा, प्रत्यक्षेण च पूर्वप्रवृत्तेन वस्त्वन्तरासंसृष्टप्रतियोगिग्रहणे पुनरप्यभावप्रमाणपरिकल्पनं व्यर्थम्–

"वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अभावप० श्लो० २]

इत्यभिधानात् तदर्थं तस्य परिकल्पनम्, तच्च प्रत्यक्षेणैव कृतमिति तस्य व्यर्थता । अथात्राप्यभावप्रमाणसंपाद्यः प्रतियोगिनो वस्त्वन्तरासंसृष्टताग्रहस्तर्हि तथाभूतप्रतियोगिग्रहणे तथाभूतस्य तस्य स्मरणम्, १५तत्सद्भावे चाभावप्रमाणप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तस्यासंसृष्टताग्रहः, तद्ग्रहे च स्मरणमित्येवं चक्रकचोद्यं भवन्तमनुबध्नाति । नापि वस्तुमात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमित्यभिधातुं शक्यम्, तथाऽभ्युपगमे तस्य वस्त्वन्तरत्वासिद्धेः प्रतियोगिनोऽपि [1]प्रतियोगित्वस्य, इति न प्रतियोगिनो नियतरूपस्य स्मरणमिति सुतरामभावप्रमाणोत्पत्त्यभावः । किंच, यदि अभावाख्यं प्रमाणमभावग्राहकमभ्युपगम्यते तदा तमेवं प्रतिपादयतु, प्रतियोगिनस्तु निवृत्तिः कथं तेन प्रतिपादिता स्यात्? अथाभावप्रतिपत्तौ तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिः; २०ननु साऽपि निवृत्तिः प्रतियोगिस्वरूपासंस्पर्शिनी, ततश्च तत्प्रतिपत्तौ पुनरपि कथं प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः? तन्निवृत्तिसिद्धेरपरतन्निवृत्तिसिद्ध्यभ्युपगमे अपरा तन्निवृत्तिस्तथाऽभ्युपगमनीयेत्यनवस्था । किंच, अभावप्रतिपत्तौ प्रतियोगिस्वरूपं किमनुवर्त्तते, व्यावर्त्तते वा? अनुवृत्तौ कथं प्रतियोगिनोऽभावः? व्यावृत्तौ कथं प्रतिषेधः प्रतिपादयितुं शक्यः? तद्विविक्तप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिषेध इति चेत्, न, तदप्रतिभासने तद्विविक्ततायाः एव प्रतिपत्तुमशक्तेः । प्रतियोगिप्रतिभासाद् नायं दोष इति २५चेत्, क्व तर्हि विज्ञाने तस्य प्रतिभासः? यदि प्रत्यक्षे, न युक्तः; तत्सद्भावसिद्ध्या तन्निवृत्त्यसिद्धेः । स्मरणे तस्य प्रतिभास इति चेत्, न; तत्रापि येन रूपेण प्रतिभाति न तेनाभावः, येन न प्रतिभाति न तेन निषेधः, तदेवं यदि प्रतियोगिस्वरूपादन्योऽभावस्तथापि तत्प्रतिपत्तौ न तन्निवृत्तिसिद्धिः । अनन्यत्वेऽपि तत्प्रतिपत्तौ प्रतियोगिनः प्रतिपन्नत्वाद् न निषेधः । अपि च, तद् अभावाख्यं प्रमाणं निश्चितं सत् प्रकृताभावनिश्चयनिमित्तत्वेनाभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अनिश्चितम् इति विकल्पद्वयम् । ३०यम् । यद्यनिश्चितमिति पक्षः, स न युक्तः; स्वयमव्यवस्थितस्य खरविषाणादेरिव अन्यनिश्चायकत्वायोगात् । इन्द्रियादेस्त्वनिश्चितस्यापि रूपादिज्ञानं प्रति कारणत्वान्निश्चायकत्वं युक्तम्, न पुनरभावप्रमाणस्य, तस्यापरज्ञानं प्रति कारणत्वासम्भवात्; तदसम्भवश्च-प्रमाणाभावात्मकत्वेनावस्तुत्वात्, वस्तुत्वेऽपि तस्यैव प्रमेयाभावनिश्चयरूपत्वेनाभ्युपगमार्हत्वात् । नापि द्वितीयः पक्षः, यतस्तन्निश्चयोऽन्यस्मादभावाख्यात् प्रमाणा[2]दभ्युपगम्येत, प्रमेयाभावाद् वा? तत्र यदि प्रथमपक्षः, स ३५न युक्तः; अनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि-अभावप्रमाणस्याभावप्रमाणान्निश्चितस्याभावनिश्चायकत्वम्, तस्याप्यन्याभावप्रमाणाद् इत्यनवस्था । अथ प्रमेयाभावात् तन्निश्चयः, सोऽपि न युक्तः; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-प्रमेयाभावनिश्चयात् प्रमाणाभावनिश्चयः, सोऽपि प्रमाणाभावनिश्चयाद् इति इतरेतराश्रयत्वम् । नापि स्वसंवेदनात् प्रमाणाभावनिश्चयः, तस्य भवताऽनभ्युपगमात्, तत्र अभावाख्यं प्रमाणं सम्भवति । सम्भवेऽपि न तत् प्रमाणचिन्तार्हमिति प्रतिपादितम्, प्रतिपादयि-

---

१ "प्रतियोगिशब्देन संयस्वम्" गु० टि० । २ तथाभूतस्य स्मरणम् कां०, डा०, भा०, अ० । ३ तस्य वस्त्वन्तरत्वासिद्धो (द्धौ) न प्रतियोगिनो नियतरूपस्य स्मर—डे० । ४ अत्र 'असिद्धेः' इति अध्याहार्यम् । ५ प्रमाणमेव ।

प्यते च प्रमाणचिन्ताऽवसरे अत्रैव; तत्राभावप्रमाणादपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः; अतो न अदर्शननिमित्तोऽपि प्रकृतव्यतिरेकनिश्चयः; तदभावाद् न प्रकृतसाध्ये प्रकृतहेतोर्नियमलक्षणसंबन्धनिश्चयः।

न चान्वय-व्यतिरेकनिश्चयव्यतिरेकेणान्यतः कुतश्चित् तन्निश्चयः, नियमलक्षणस्य संबन्धस्य यथोक्तान्वय-व्यतिरेकव्यतिरेकेणासम्भवात्। तथाहि—य एव साधनस्य साध्यसद्भावे एव भावः ५ अयमेव तस्य साध्ये नियमः, साध्याभावे साधनस्यावश्यतयाऽभाव एव यः अयमेव वा तस्य तत्र नियमः। अतो यदेवान्वय-व्यतिरेकयोर्यथोक्तलक्षणयोर्निश्चायकं प्रमाणं तदेव नियमस्वरूपसम्बन्धनिश्चायकम्, तन्निश्चायकं च प्रकृतसाध्यसाधने हेतोर्न सम्भवतीति प्रतिपादितम्; तन्नानुमानादपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणसिद्धिः।

अथापि स्यात् बाह्येषु कारकेषु व्यापारवत्सु फलं दृष्टम्—अन्यथा सिद्धस्वभावानां कारकाणामेकं १० धात्वर्थं साध्यमनङ्गीकृत्य कः परस्परं सम्बन्धः—अतस्तदन्तरालवर्तिनी सकलकारकनिष्पाद्याऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपगन्तव्या इति प्रकृतेऽपि व्यापारसिद्धिरिति, एतदसम्बद्धम्; विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—व्यापारोऽभ्युपगम्यमानः किं कारकजन्योऽभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अजन्यः इति विकल्पद्वयम्।[1] तत्र यद्यजन्य इति पक्षः, सोऽयुक्तः; यतोऽजन्योऽपि किं भावरूपोऽभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अभावरूपः? यद्यभावरूप इत्यभ्युपगमः, सोऽप्ययुक्तः; यतोऽ- १५ भावरूपत्वे तस्यार्थप्रकाशलक्षणफलजनकत्वं न स्यात्, तस्य फलजनकत्वविरोधात्; अविरोधे वा फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थं स्यात्, तत एवाभिमतफलनिष्पत्तेर्विश्वमदरिद्रं च स्यात्; तन्नाभावरूपो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः। अथ भावरूपोऽभ्युपगमविषयः, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किमसौ नित्यः, आहोस्विद् अनित्यः इति? तत्र यदि नित्य इति पक्षः, सोऽसङ्गतः; नित्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमेऽन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गः, सुप्ताद्यभावः, सर्वैः सर्वज्ञताभावप्रसङ्गश्च; कारकान्वेषणवैयर्थ्यं तु २० व्यक्तम्। अथानित्य इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यलौकिकः; अजन्यस्य भावस्यानित्यत्वेन केनचिदनभ्युपगमात्। अथ यदेत्-मयैवाभ्युपगतः, तत्रापि वक्तव्यम्—किं कालान्तरस्थायी, उत क्षणिकः? यदि कालान्तरस्थायी, तदा "क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" [ ] इति वचः परिप्लवेत। कारकान्वेषणं चात्रापि पक्षे फलार्थिनामसङ्गतम्, कियत्कालस्थाय्यजन्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमे तत्कालं यावत् तत्फलस्यापि निष्पत्तेः आव्यापारविनाशमर्थप्रकाशलक्षणकार्य- २५ सद्भावादन्धत्व-मूर्छादीनामभावः स्यात्। अथ क्षणिक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; क्षणानन्तरं व्यापारासत्त्वेनार्थप्रतिभासाभावाद् अपगतार्थप्रतिभासं सर्वं जगत् स्यात्। अथ स्वत एव द्वितीयादिक्षणेषु व्यापारोत्पत्तेर्नायं दोषः, अजन्यत्वं तु तस्यापरकारकजन्यत्वाभावेन, नैतदस्ति; कारकाऽनायत्तस्य देश-काल-स्वरूपप्रतिनियमाभावस्वभावतायाः प्रतिपादनात्।[2] किंच, अनवरतक्षणिकाऽजन्यव्यापाराभ्युपगमे तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथैव भावात् सुप्ताद्यभावदोषस्तदवस्थः; तन्नाजन्य- ३० व्यापाराभ्युपगमः श्रेयान्। अथ जन्यो व्यापारः इति पक्षः कक्षीक्रियते, तदाऽत्रापि विकल्पद्वयम्—किमसौ जन्यो व्यापारः क्रियाऽऽत्मकः, उत तदनात्मकः इति? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; अत्रापि विकल्पद्वयानतिवृत्तेः। तथाहि—साऽपि क्रिया किं स्पन्दात्मिका, उत अस्पन्दात्मिका? यदि स्पन्दात्मिका तदाऽऽत्मनो निश्चलत्वादन्येषां कारकाणां व्यापारसद्भावेऽपि व्यापारो न स्यात्; यदर्थोऽयं प्रयासस्तदेव त्यक्तं भवतैवमभ्युपगच्छता। अथापरिस्पन्दात्मिका क्रिया ३५ व्यापारस्वभावा, न; तथाभूतायाः परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात् अभावस्य जनकत्वविरोधात्। न च क्रिया कारण-फलाऽपान्तरालवर्तिनी परिस्पन्दस्वभावा तद्विपरीतस्वभावा वा प्रमाणगोचरचारिणी इति न तस्याः सद्व्यवहारविषयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तमिति न क्रियाऽऽत्मको व्यापारः। नापि तदनात्मको व्यापारोऽङ्गीकर्तुं युक्तः, तत्रापि विकल्पद्वयप्रवृत्तेः। तथाहि—किमसावक्रियाऽऽत्मको व्यापारो बोधस्वरूपः, अबोधस्वभावो वा? यदि बोधस्वरूपः, प्रमातृवत्प्र ४० प्रमाणान्तरगम्यताऽभ्युपगन्तुं युक्ता। अथाबोधस्वभावः, नायमपि पक्षः; बोधात्मकज्ञातृव्यापारस्याबोधात्मकतयासम्भवात्—न हि चिद्रूपस्याचिद्रूपो व्यापारो युक्तः—'जानाति' इति च ज्ञातृव्यापारस्य बोधात्मकस्यैवाभिधानात्; तन्न अबोधस्वभावोऽपि व्यापारः। किंच, असौ ज्ञातृव्यापारो धर्मि-

1 अयं च विकल्पः पृ० २० दशमपङ्क्तित आरब्धः।
2 पृ० १० पं० २।

स्वभावः, उत धर्मस्वभावः इति पुनरपि कल्पनाद्वयम्। धर्मिस्वरूपत्वे[1] ज्ञातृवच्च प्रमाणान्तरागम्य-
त्वमित्युक्तम्। धर्मस्वभावत्वेऽपि धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तः, उभयम्, अनुभयं
चेति चत्वारो विकल्पाः। न तावद्व्यतिरिक्तः, तत्त्वे संबन्धाभावेन 'ज्ञातुर्व्यापारः' इति व्यपदेशा-
योगात्। अव्यतिरेके[2] ज्ञातैव, तत्स्वरूपवद् नापरो व्यापारः। उभयपक्षस्तु विरोधमपरिहृत्य
५ नाभ्युपगमनीयः। अनुभयपक्षस्तु अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकविधानेनापरनिषेधादयुक्त इति
प्रतिपादितम्[3]। किंच, व्यापारस्य कारकजन्यत्वाभ्युपगमे तज्जनने प्रवर्तमानानि कारकाणि किम्
अपरव्यापारभाञ्जि प्रवर्त्तन्ते, उत तन्निरपेक्षाणि इति विकल्पद्वयम्। यद्याद्यो विकल्पः, तदा
तद्व्यापारजननेऽपि तैरपरव्यापारभाग्भिः प्रवर्त्तितव्यम्, तज्जननेऽप्यपरव्यापारयुग्भिः प्रवर्त्तितव्य-
मित्यनवस्थितेर्न फलजननव्यापारोद्भूतिरिति तत्फलस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गाद् न व्यापारपरिकल्पनं
१० श्रेयः। अथ अपरव्यापारमन्तरेणापि फलजनकव्यापारजनने प्रवर्त्तन्ते[4] इति नायं दोषः, तर्हि
प्रकृतव्यापारमन्तरेणापि फलजनने प्रवर्त्स्यन्त इति किमनुपलभ्यमानव्यापारकल्पनप्रयासेन?
किंच, असौ व्यापारः फलजनने प्रवर्त्तमानः किमपरव्यापारसव्यपेक्षः, अथ निरपेक्षः इत्यत्रापि
कल्पनाद्वयम्। तत्र यद्याद्या कल्पना, सा न युक्ता; अपरापरव्यापारजननक्षीणशक्तित्वेन व्यापार-
स्यापि फलजनकत्वायोगात्। अथ व्यापारान्तरानपेक्ष एव फलजनने प्रवर्त्तते, तर्हि कारकाणामपि
१५ [5]व्यापारनिरपेक्षाणां फलजनने प्रवृत्तौ न कश्चिच्छक्तिव्याघातः सम्भाव्यते। अथ व्यापारस्य
व्यापारस्वरूपत्वान्नापरव्यापारापेक्षा, कारकाणां त्वव्यापाररूपत्वात् तदपेक्षा; का पुनरियं व्यापारस्य
व्यापारस्वभावता? यदि फलजनकत्वम्, तद् विहितप्रतिक्रियम्[6]। अथ कारकाश्रितत्वम्, तदपि
भिन्नस्य तज्जन्यत्वं विहाय न सम्भवतीत्युक्तम्[7]। अथ कारकपरतन्त्रत्वम्, तदपि न, अनुत्पन्नस्या-
सत्त्वात्, नाप्युत्पन्नस्य, अन्यानपेक्षत्वात्; तथापि तत्परतन्त्रत्वे कारकाणामपि व्यापारपरतन्त्रता
२० स्यात्। अथैवं पर्यनुयोगः सर्वभावप्रतिनियतस्वभावव्यावर्तक इत्ययुक्तः, तथाहि—एवमपि
पर्यनुयोगः सम्भवति-वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे आकाशस्यापि स स्यात्, इतरथा वह्नेरपि स न
स्यादिति। स्यादेतत् यदि प्रत्यक्षसिद्धो व्यापारस्वभावो भवेत्, स च न तथेति प्रतिपादितम्[8]।
तत एवोक्तम्—

"स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते।
२५ तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता" ॥ [ ]

तत्र व्यापारो नाम कश्चिद् यथाऽभ्युपगतः परैः।

अथानुमानग्राह्यत्वे स्यादयं दोषः, अत एवार्थापत्तिसमधिगम्यता तस्याभ्युपगता। ननु दृष्टः
श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टकल्पनाऽर्थापत्तिः, तत्र कः पुनरसौ भावो व्यापारव्यतिरे-
केण नोपपद्यते यो व्यापारं कल्पयति? अर्थ इति चेत्, का पुनरस्य तेन विनाऽनुपपद्यमानता?
३० नोत्पत्तिः, स्वहेतुतस्तस्याः भावात्। किंच, असावर्थः किम् एकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं
कल्पयति, उत सर्वज्ञातृव्यापारमन्तरेण इति वक्तव्यम्। तत्र यदि सकलज्ञातृव्यापारमन्तरेणेति पक्षः,
तदा अन्धानामपि[9] रूपदर्शनं स्यात् तद्व्यापारमन्तरेणार्थाभावात् सर्वज्ञताप्रसङ्गश्च। अथ एकज्ञातृ-
व्यापारमन्तरेणानुपपत्तिस्तर्हि यावदर्थसद्भावस्तावत् तस्यार्थदर्शनमिति सुप्तार्थभावः। अथ अर्थध-
र्मोऽर्थप्रकाशतालक्षणो[10] व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति, ननु साऽप्यर्थप्रकाशताऽर्थधर्मो
३५ यद्यर्थ एव तदाऽर्थपक्षोक्तो दोषः। अथ तद्व्यतिरिक्तः, तदा तस्य स्वरूपं वक्तव्यम्। तस्यानुभूयमा-
नता सा इति चेत्, न; पर्यायमात्रमेतत्, न तत्स्वरूपप्रतिपत्तिरिति स एव प्रश्नः। किंच, प्रका-
शोऽनुभवश्च ज्ञानमेव, तदनवगमे तत्कर्मतायाः सुतरामनवगम इत्यर्थप्रकाशता-अनुभूयमानते
स्वरूपेणानवगते कथं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पिके? किंच, अर्थप्रकाशतालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथा-
नुपपद्यत्वेनानिश्चितस्तं कल्पयति, आहोस्विद् निश्चित इति? तत्र यद्याद्यः कल्पः, स
४० न युक्तः; अतिप्रसङ्गात्। तथाहि—यद्यनिश्चितोऽपि तथात्वेन स तं परिकल्पयति तदा[11] यथा तं

१ पृ० २५ प० ४०। २ वा०, पू०, बा० विना सर्वत्र अव्यतिरिक्ते। ३ पृ० १० प० ६। ४ बा०,
पू०, वा० विना प्रवर्तन्ते नायं। ५ व्यापारजननिरपेक्षाणां आ०, गु०, डे०, भा०, हा०। ६ पृ० २५
प० १५। ७ पृ० ९ पं० ३४। ८ पृ० २० प० ५। ९ भा०, पू०, बा० विना सर्वत्र तदन्धाना-।
१० स्वभावधर्मः भा०। ११ 'तदा यथा तं परिकल्पयति' इत्यय पाठ बा०, पू०, वा० भिन्न महादि।

परिकल्पयति तथा येन विनाऽपि स उपपद्यते तमपि किं न कल्पयति विशेषाभावात्? अथा-
निश्चितोऽपि तेन विनाऽनुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स तं परिकल्पयति तर्हि लिङ्गस्यापि नियतत्वेना-
निश्चितस्यापि स्वसाध्यगमकत्वं स्यात्, तथा च अर्थापत्तिरेव परोक्षार्थनिश्चायिका नानुमानमिति
षट्प्रमाणवादाभ्युपगमो विशीर्येत । अथ अन्यथानुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स धर्मस्तं परिकल्पयति,
तदा वक्तव्यम्-क्व तस्यान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयः? यदि दृष्टान्तधर्मिणि तदा लिङ्गस्यापि तत्र नियतत्व- ५
निश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिः स्यात्, एवं चार्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भूतेति पुनरपि प्रमाणषट्का-
भ्युपगमो विशीर्येत । अथ साध्यधर्मिणि तन्निश्चय इत्यनुमानात् पृथगर्थापत्तिः, तदात्रापि वक्तव्यम्-
कुतः प्रमाणात् तस्य तन्निश्चयः? यदि विपक्षेऽनुपलम्भात्, तन्न युक्तम्; सर्वसम्बन्धिनोऽनुप-
लम्भस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात्, आत्मसंबन्धिनस्तु अनैकान्तिकत्वादिति नान्यथाऽनुपपद्यमानत्व-
निश्चयः । किंच, अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थानुभूयमानतालक्षणस्यार्थधर्मस्य य एव स्वप्रकल्प्यार्थाभावेऽ- १०
वश्यंतयाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चयः स एव स्वप्रकल्प्यार्थसद्भावे एवोपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यर्था-
पत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, स्वसाध्यानुमापकस्य च लिङ्गस्य न कश्चिद्विशेष इत्यनुमाननिरासेऽर्थापत्तेरपि
निरासः कृत एवेति नार्थापत्तेरपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणनिश्चायकत्वम् । येऽपि "संवित्त्याख्यं
फलं ज्ञातृव्यापारसद्भावे सामान्यतोदृष्टं लिङ्गम्" आहुः, तन्मतमप्यसम्यक्; यतः संवेदनाख्यस्य
लिङ्गस्य किम् अर्थप्रतिभासस्वभावत्वम्, उत तद्विपरीतत्वम् इति कल्पनाद्वयम् । तत्रार्थप्रति- १५
भासस्वभावत्वे किमपरेण ज्ञातृव्यापारेण कथितेन इति वक्तव्यम् । तदुत्पत्तिस्तेन विना न
सम्भवतीति चेत्, न; इन्द्रियादेस्तदुत्पादकस्य सद्भावाद् व्यर्थं तत्परिकल्पनम् । क्रियामन्तरेण
कारककलापात् फलानिष्पत्तेः तत्कल्पनेति चेत्, नन्विन्द्रियादिसामग्र्यस्य क्व व्यापारः इति
वक्तव्यम् । क्रियोत्पत्ताविति चेत्, साऽपि क्रिया क्रियान्तरमन्तरेण कथं कारककलापादुपजायते
इति पुनरपि तदेव चोद्यम् । क्रियान्तरकल्पनेऽनवस्था प्राक् प्रतिपादितैव; तन्नार्थप्रतिभास- २०
स्वभावत्वेऽन्यो व्यापारः कल्पनीयः, निष्प्रयोजनत्वात् । अथ द्वितीया कल्पनाऽभ्युपगम्यते, साऽपि
न युक्ता; यतोऽर्थस्य संवेदनं तद् भवज् ज्ञातृव्यापारलिङ्गतां समासादयति, सा च तदसंवेदन-
स्वभावस्य कथं सङ्गता? शेषं तु पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते । किंच, अर्थप्रतिभासस्वभावं
संवेदनम्, ज्ञाता, तद्व्यापारश्च बोधात्मको नैतत् त्रितयं क्वचिदपि प्रतिभाति । अथ 'घटमहं
जानामि' इति प्रतिपत्तिरस्ति, न चैषा निह्नोतुं शक्या, नाप्यस्याः किञ्चिद् बाधकमुपलभ्यते, तत् २५
कथं न त्रितयसद्भावः? तथाहि—'अहम्' इति ज्ञातुः प्रतिभासः, 'जानामि' इति संवेदनस्य,
'घटम्' इति प्रत्यक्षस्यार्थस्य, व्यापारस्य त्वपरस्य प्रमाणान्तरतः प्रतिपत्तिरित्यभ्युपगमः, अयुक्तमेतत्;
यतः कल्पनोद्भूतशब्दमात्रमेतत्, न पुनरेव वस्तुत्रयप्रतिभासः । अत एवोक्तमाचार्येण-"एकमेवेदं
संविद्रूपं हर्ष-विषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं समुत्पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्" [ ]
किंच, व्यापारनिमित्ते कारकसंबन्धे विकल्पद्वयम्—किं पूर्वं व्यापारः पश्चात् संबन्धः, उत पूर्वं संबन्धः ३०
पश्चाद् व्यापारः? पूर्वस्मिन् पक्षे न व्यापारार्थः संबन्धः, पूर्वमेव व्यापारसद्भावात् । उत्तरस्मिन्
पुनर्विकल्पद्वयम्-संबन्धे सति किं परस्परसापेक्षाणां स्वव्यापारकर्तृत्वम्, उत निरपेक्षाणाम्?
सापेक्षत्वे स्वव्यापारकर्तृत्वानुपपत्तिः, अनेकजन्यत्वात् तस्य । निरपेक्षत्वे किं मीलनेन? ततश्च
संसर्गावस्थायामपि स्वव्यापारकरणादनवरतफलसिद्धिः, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा; तन्न युक्तं व्यापा-
रस्याप्रतीयमानस्य कल्पनम् । को ह्यन्यथा संभवति फलेऽप्रतीयमानकल्पनेनात्मानमायासयति? ३५
अन्यथासंभवश्च-इन्द्रियादिषु सत्सु फलस्य प्रागेव दर्शितः, इन्द्रियादेस्तथाभ्युपगमनीयत्वात् ।

इतोऽपि संवेदनाख्यं फलमपरोक्षं व्यापारानुमापकमयुक्तम्, स्वदर्शनव्याघातप्रसक्तेः ।
तथाहि—भवता शून्यवाद-परतःप्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगतः, विपरीतख्यातौ
तयोरवश्यंभावित्वात् । तथाहि—तस्यामन्यदेश-कालोऽर्थस्तद्देश-कालयोरसन् प्रतिभाति; न च

---

१ प्रन्याप्रम् श्लो० १००० । २ पृ० १८ पं० ७ । ३ पृ० १८ पं० ८ । ४ लक्षणार्थधर्म-कां० ।
५ पृ० २६ पं० ९ । ६ अर्थानुसारेण विचारणाद् अत्र 'ततश्चाऽसंसर्गा-' इति पाठो युक्तः, 'वि०' प्रतावपि पश्चात्
परिष्कृतः एष पाठो दृष्टः । ७ प्र० पृ० पं० १७ । ८ अयं 'तथाहि' शब्दः इत आरभ्य 'प्रतिभासाभावः प्रसक्तः'
(पृ० २८ पं० १२) इतिपर्यन्तं योज्यः ।

तद्देशाद्यसत्त्वस्यात्यन्तासत्त्वस्य चासत्प्रतिभासे कश्चिद्विशेषः, यथाऽन्यदेशाद्यवस्थितमाकारं कुत-
श्चिद् भ्रमनिमित्ताद् ज्ञानं दर्शयति तथा अविद्यावशादत्यन्तासन्तमपि किं न दर्शयति? तथा च
कथं शून्यवादाद् मुक्तिः? तथा परतःप्रामाण्यमपि मिथ्यात्वाशङ्कायां कस्यचिज्ज्ञानस्य बाधका-
भावान्वेषणाद् वक्तव्यम्, तदन्वेषणे च सापेक्षत्वं प्रमाणानामपरिहार्यं विपरीतख्यातौ, ततो न
५ कस्यचिद् ज्ञानस्य मिथ्यात्वम्; तदभावाज्ञान्यदेश–कालाकारार्थप्रतिभासः; नापि बाधकाभावा-
पेक्षा। भ्रान्ताभिमतेषु तु तथाव्यपदेशः स्मृतिप्रमोषात्। तथाहि—'इदं रजतम्' इति प्रतीतौ
'इदम्' इति पुरोऽवस्थितार्थप्रतिभासम्, 'रजतम्' इति पूर्वावगतरजतस्मरणं सादृश्यादेः कुत-
श्चिन्निमित्तात्, तच्च स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृतिप्रमोष उच्यते। यत्र 'स्मरामि' इति
प्रत्ययस्तत्र स्मृतेरप्रमोषः, यत्र तु स्मृतित्वेऽपि 'स्मरामि' इति रूपाप्रवेदनं कुतश्चित् कारणात् तत्र
१० स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते। अस्मिन् मते 'रजतम्' इति यत् फलसंवेदनं तत् किं प्रत्यक्षफलस्य सतः,
किं वा स्मृतेः? यदि प्रत्यक्षफलस्य तदा यथा 'इदम्' इति प्रत्यक्षफलं प्रतिभाति तथा 'रजतम्'
इत्यपि, ततश्च तुल्ये प्रतिभासे 'एकं प्रत्यक्षम्, अपरं स्मरणम्' इति किंकृतो विशेषः? अथोक्तम्–
'स्मरणस्यापि सतस्तद्रूपानवगमात् तेनाकारेणावगमः' तत् किं 'रजतम्' इत्यत्राप्रतिपत्तिरेव?
तस्यां चाभ्युपगम्यमानायां कथं स्मृतिप्रमोषः? अन्यथा मूर्छाद्यवस्थायामपि स्यात्। अथ 'इदम्'
१५ इति तत्र प्रत्ययाभावान्नासौ, ननु 'इदम्' इत्यत्रापि वक्तव्यम्–किमाभाति? पुरोऽवस्थितं शुक्ति-
शकलमिति चेत्, ननु किं प्रतिभासमानत्वेन तत् तत्र प्रतिभाति, उत सन्निहितत्वेन? प्रतिभा-
समानत्वेन तथाऽभ्युपगमे न स्मृतिप्रमोषः, शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने
कुतो रजतस्मरणसंभावना? नहि घटग्रहणे पटस्मरणसंभवः। अथ शुक्तिका–रजतयोः सादृश्यात्
शुक्तिप्रतिभासे रजतस्मरणम्, न; तस्य विद्यमानत्वेऽप्यकिंचित्करत्वात्। यदा ह्यसाधारणधर्माध्या-
२० सितं शुक्तिस्वरूपं प्रतिभाति तदा कथं सदृशवस्तुस्मरणम्? अन्यथा सर्वत्र स्यात्। सामान्यमात्र-
ग्रहणे हि तत् कदाचिद् भवेदपि, नासाधारणस्वरूपप्रतिभासे; तत्र 'इदम्' इत्यत्र शुक्तिकाशकलस्य
प्रतिभासनात् तथाव्यपदेशः। सन्निहितत्वेनाप्रतिभासमानस्यापि तद्विषयत्वाभ्युपगमे इन्द्रिय-
संबद्धानां तद्देशवर्त्तिनामण्वादीनामपि प्रतिभासः स्यात्। न चाप्रतिभासमानानामिन्द्रियादीनामिव
प्रतीतिजनकानामपि तद्विषयता सङ्गच्छते, तत्र 'इदम्' इत्यत्र शुक्तिकाशकलप्रतिभासः। नापि
२५ 'रजतम्' इत्यत्र स्मृतित्वेऽपि तस्याः स्वरूपेणानवगमात् 'प्रमोषः' इत्यभ्युपगमो युक्तः। अथ
स्मृतिरप्यनुभवत्वेन प्रतिभातीति तत्प्रमोषोऽभ्युपगम्यते, नन्वेवं सैव शून्यवाद–परतःप्रामाण्य-
भयादनभ्युपगम्यमाना विपरीतख्यातिरापतिता। न चात्राप्रतिपत्तिरेव, 'रजतम्' इत्येवं स्मरणस्या-
नुभवस्य वा प्रतिभासनात्। इदमत्रैदंपर्यम्—अर्थसंवेदनमपरोक्षं सामान्यतोदृष्टं लिङ्गं यदि ज्ञातृ-
व्यापारानुमापकमभ्युपगम्यते तदा स्मृतिप्रमोषे 'रजतम्' इत्यत्र संवेदनम्, उतासंवेदनम्?
३० प्रतिभासोत्पत्तेः संवेदनेऽपि रजतमनुभूयमानतया न संवेद्यते, स्मृतिप्रमोषाभावप्रसङ्गात्। नापि
स्मर्यमाणतया, प्रमोषाभ्युपगमात्। विपरीतख्यातिस्तु नाभ्युपगम्यते, तद् 'रजतम्' इत्यत्र संवेदन-
स्यापरोक्षत्वाभ्युपगमेऽपि प्रतिभासाभावः प्रसक्तः। किंच, स्मृतिप्रमोषः पूर्वोक्तदोषद्वयभयाद-
भ्युपगतः, तच्च तदभ्युपगमेऽपि समानम्। तथाहि–सम्यग्रजतप्रतिभासेऽपि आशङ्कोत्पद्यते—
'किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोषः, उत सम्यगनुभवः' इति सापेक्षत्वाद् बाधकाभावो(वा)न्वेषणे
३५ परतःप्रामाण्यम्। तत्र च भवन्मतेनानवस्था प्रदर्शितैव। यत्र हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालभावी
बाधकप्रत्ययः, यत्र तु तदभावस्तत्र स्मृतिप्रमोषासम्भव इति कथं न बाधकाभावापेक्षायां परतः-
प्रामाण्यदोषभयस्यावकाशः? शून्यवाददोषभयमपि स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेऽवश्यंभावि। तथाहि—
घस्त्रश्रीहर्षाद्याकारः, अनुत्पन्नशङ्खचक्रवर्त्याद्याकारश्च ज्ञाने यः प्रतिभाति सोऽवश्यं ज्ञानरचितोऽसन्
प्रतिभाति; रजतादिस्मृतेरप्यसन्निहितरजताकारप्रतिभासस्वभावत्वात् तत्सत्त्वं तदुत्पत्तावसन्नि-
४० हितं नोपयुज्यत इति असदर्थविषयत्वे ज्ञानस्य कथं शून्यवादभयाद् भवतः स्मृतिप्रमोषवादिनो
मुक्तिः? तत्र स्मृतिप्रमोषः। कश्चायं स्मृतिप्रमोषः? किं स्मृतेरभावः, उतान्यावभासः, आहो-
स्विद् अन्याकारवेदित्वम् इति विकल्पाः। तत्र नासौ स्मृतेरभावः, प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्।

१ अत्यन्तासत्त्वमपि गु०। २ प्र० पृ० ५० ८। ३ "सादृश्यस"। ४ "यथार्थज्ञानस्थलेऽपि" गु० टि०। ५ बाधकान्वेषणे वा०, पू०, बा० विना सर्वत्र। ६–स्वभावत्वात् सत्त्वं तदु–भा०, वि०, ब०, पू०, बा०।–स्वभावत्वात् तत् सत्त्वं तदु–दे०, आ०, गु०, भा०।

अथान्यावभासोऽसौ, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं तत्कालोऽन्यावभासोऽसौ, अथोत्तरकालभावी? यदि तत्कालभावी अन्यावभासः स्मृतेः प्रमोषस्तदा घटादिज्ञानं तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात् । अथोत्तरकालभाव्यसौ तस्याः प्रमोषः, तदप्ययुक्तम्; अतिप्रसङ्गात्—यदि नामोत्तरकालमन्यावभासः समुत्पन्नः, पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगतस्य तत्त्वे किमायातम्? अन्यथा सर्वस्य पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वप्रसङ्गः । अथान्याकारवेदित्वं तस्या असौ, तदा विपरीतख्यातिः ५ स्यात् न स्मृतिप्रमोषः । कश्चासौ विपरीत आकारस्तस्याः? यदि स्फुटार्थावभासित्वम्, तदसौ प्रत्यक्षस्याकारः कथं स्मृतिसम्बन्धी? तत्सम्बन्धित्वे वा तस्याः प्रत्यक्षरूपतैव स्यात् न स्मृतिरूपता । अत एव शुक्तिकायां रजतप्रतिभासस्य न स्मृतिरूपता तत्प्रतिभासेन व्यवस्थाप्यते, तस्य प्रत्यक्षरूपतया प्रतिभासनात् । नापि बाधकप्रत्ययेन तस्याः स्मृतिरूपता व्यवस्थाप्यते, यतो बाधकप्रत्ययः तत्प्रतिभातस्यार्थस्यासद्रूपत्वमावेदयति, न पुनस्तज्ज्ञानस्य स्मृतिरूपताम् ।१० तथाहि—बाधकप्रत्यय एवं प्रवर्त्तते—'न इदं रजतम्', न पुनः 'रजतप्रतिभासः प्रकृतः स्मृतिः' इति । तन्न स्मृतिप्रमोषरूपता भ्रान्तदशामभ्युपगन्तुं युक्ता; अतो नायमपि सत्पक्षः । तन्नार्थसंवेदनस्वरूपमप्यपरोक्षं सामान्यतोदृष्टं लिङ्गं प्राभाकरैरभ्युपगम्यमानं ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणानुमापकमिति मीमांसकमतेन प्रमाणस्यैवासिद्धत्वात् कथं यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिस्वभावस्य प्रामाण्यस्य स्वतः सिद्धिः? न हि धर्मिणोऽसिद्धौ तद्धर्मस्य सिद्धिर्युक्ता, अतो न सर्वत्र स्वतः प्रामाण्यसिद्धि-१५ रिति स्थितम् ॥

[वेदाऽपौरुषेयत्वपरीक्षणम्]

शब्दसमुत्थस्य तु अभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा अपौरुषेयत्वस्यासम्भवाद् गुणवत्पुरुषप्रणीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः; अथ तत्प्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते तदा तत्समुत्थज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह–'जिनानाम्' राग-द्वेषमोह-२० लक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां 'शासनं' तदभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम् ।

न चात्रेदं प्रेर्यम्–यदि जिनशासनं जिनप्रणीतत्वेन सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम्—अन्यथा प्रामाण्यस्याप्यनभ्युपगमनीयत्वादिति प्रसङ्गसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाभिप्रेतम्—तत्किमिति बौद्धयुक्त्याऽऽर्हतेन त्वया स्वतःप्रामाण्यनिरासोऽभिहितः? यतः सर्वसमयसमूहात्मकत्वमेव आचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् । यद् वक्ष्यत्यस्यैव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ । यथा— २५

> 'भद्दं मिच्छदंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
> जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स' ॥ [तृतीयकाण्डे गाथा ७०]
> इत्यादि ।

अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थितः । अन्यत्राप्यन्यमतोपक्षेपेणान्यमतनिरासेऽयमेवाभिप्रायो द्रष्टव्यः, सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणां सम्यग्मतत्वेन, विपरीतानां विपर्ययत्वेनाचार्यस्येष्टत्वात् ।३० अत एवोक्तमनेनैव द्वात्रिंशिकायाम्—

> "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
> न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः" ॥ [चतुर्थद्वात्रिंशिकायां श्लो० १५]

अथापि स्यात्, यदि प्रामाण्यापवादकदोषाभावो गुणनिमित्त एव भवेद् तदा स्यादेतत् ३५ प्रसङ्गसाधनम्, यावताऽपौरुषेयत्वेनापि तस्य सम्भवात् कथं प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः? असदेतत्; अपौरुषेयत्वस्यासिद्धत्वात् । तथाहि—किमपौरुषेयत्वं शासनस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभ्युपगम्यते, उत पर्युदासरूपम्? तत्र यदि प्रसज्यरूपं तदा किं सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उत अभावप्रमाणवेद्यम्? यदि सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, तदयुक्तम्; सदुपलम्भकप्रमाणविषयस्याभावत्वानुपपत्तेः, अभावत्वे वा न तद्विषयत्वम्, तस्य तद्विषयत्वविरोधाद् अनभ्युपगमाच्च । अभाव-४०

१ प्रमेयकमलमार्तण्डे (पृ० १६, प्रथम पृ०–पं० १) अत्र स्थले एव पाठ —"समुत्पन्नस्तर्हि पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेन असौ नाभ्युपगमनीय"। २–नाभ्युपगम्य तत्त्वे (स्यत्वे) वा०, पू०, बा० ।–नाभ्युपगतत्त्वे किमा–भ० । ३ मन्यामम्–११०० । ४ मीमांसकमते प्रमाण–वा०, वि० । ५ 'तद्' इति प्रमाणम् ।

प्रमाणग्राह्यत्वाभ्युपगमेऽपि वक्तव्यम्—किमभावप्रमाणं ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणम्, उत अन्यज्ञान-स्वरूपम्? प्रथमपक्षेऽपि किं सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मस्वरूपम्, आहोस्विद् निषेध्यविषयप्रमाण-पञ्चकविनिर्मुक्तात्मलक्षणम् इति? प्रथमपक्षे नाऽभावपरिच्छेदकत्वम्, परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात्; सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तदभावात्। निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मनोऽपि नाभाव-
५ व्यवस्थापकत्वम्, आगमान्तरेऽपि तस्य सद्भावेन व्यभिचारात्। तदन्यज्ञानमपि यदि तदन्यसत्ता-विषयं स्यान्नाभावप्रमाणं स्यात्, तस्य सद्विषयत्वविरोधात्। 'पौरुषेयत्वादन्यस्तदभावस्तद्विषयज्ञानं तदन्यज्ञानम्' अभावप्रमाणमिति चेत्, अत्रापि वक्तव्यम्—किमस्योत्थापकम्? प्रमाणपञ्चका-भावश्चेत्, नन्वत्रापि वक्तव्यम्—किमात्मसंबन्धी, सर्वसंबन्धी वा प्रमाणपञ्चकाभावस्तदुत्थापकः? न सर्वसंबन्धी, तस्यासिद्धत्वात्। नात्मसंबन्धी, तस्यागमान्तरेऽपि सद्भावेन व्यभिचारित्वात्।
१० आगमान्तरे परेण पुरुषसद्भावाभ्युपगमात् प्रमाणपञ्चकाभावो नाभावप्रमाणसमुत्थापक इति चेत्, न; पराभ्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्। प्रमाणत्वे वा वेदेऽपि नाभावप्रमाणप्रवृत्तिः, परेण तत्रापि कर्तृपुरुषसद्भावाभ्युपगमात्; प्रवृत्तौ वाऽऽगमान्तरेऽपि स्यात्, अविशेषात्। न च वेदे पुरुषाभ्यु-पगमः परस्य मिथ्या, अन्यत्रापि तन्मिथ्यात्वप्रसक्तेः। किंच, प्रमाणपञ्चकाभावः किं ज्ञातोऽभाव-प्रमाणजनकः, उताज्ञातः? यदि ज्ञातस्तदा न तस्यापरप्रमाणपञ्चकाभावाद् ज्ञप्तिः, अनवस्था-
१५ प्रसङ्गात्। नापि प्रमेयाभावात्, इतरेतराश्रयदोषात्। अथाज्ञातस्तज्जनकः, न; समयानभिज्ञस्यापि तज्जनकत्वप्रसङ्गात्; न चाज्ञातः प्रमाणपञ्चकाभावोऽभावज्ञानजनकः, 'कृतयत्नस्यैव प्रमाणपञ्चका-भावोऽभावज्ञापकः' इत्यभिधानात्। न च इन्द्रियादेरिव अज्ञातस्यापि प्रमाणपञ्चकाभावस्याभावज्ञान-जनकत्वम्, अभावस्य सर्वशक्तिरहितस्य जनकत्वविरोधात्; अविरोधे वा भावेऽपि 'अभावः' इति नाम कृतं स्यात्। न तुच्छात् तदभावात् तदभावज्ञानम्, किन्तु प्रमाणपञ्चकरहितादात्मन इति
२० चेत्, न, आगमान्तरेऽपि तथाभूतस्यात्मनः सम्भवाद् अभावज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। प्रमेयाभा-वोऽपि तद्धेतुस्तदभावान्नागमान्तरेऽभावज्ञानमिति चेत्, न, अभावाभावः प्रमेयसद्भावः, तस्य प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनानिश्चये कथमभावाभावप्रतिपत्तिः? अभावज्ञानाभावात् तत्प्रतिपत्तिर्न तदुपलम्भकप्रमाणसद्भावादिति चेत्, न, अभावज्ञानस्य प्रमेयाभावकार्यत्वात् तदभावादभावा-भावावगतिः, कार्याभावस्य कारणाभावव्यभिचारात्, अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावप्रतीतावपि नेष्ट
२५ सिद्धिः। क्वचित् प्रदेशे घटाभावप्रतिपत्तिस्तु न घटज्ञानाभावात् किन्त्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्त-रोपलम्भात्। न च पुरुषाभावाभावप्रतिपत्तावयं न्यायः, तदेकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदप्य-भावात्। न पुरुष एव तदेकज्ञानसंसर्गी, पुरुषभावाऽभावयोर्विरोधेनैकज्ञानसंसर्गित्वा-सम्भवात्; सम्भवेऽपि न पुरुषोपलम्भभावात् तदभावाभावप्रतिपत्तिः, तदुपलम्भस्यैव तत्प्रतिपत्तिरूपत्वात्; अत एव विरुद्धविधिरप्यत्र न प्रवर्त्तेत इति। किंच, कस्याभावज्ञानाभावात्
३० प्रमेयाभावाभावः—वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा? यदि वादिनोऽभावज्ञानाभावान्नागमा-न्तरे प्रमेयाभावः, वेदेऽपि मा भूत्, तत्रापि प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावस्याविशेषात्। अथागमा-न्तरे वादि-प्रतिवादिनोरुभयोरप्यभावज्ञानाभावान्न प्रमेयाभावः, वेदे तु प्रतिवादिनोऽभावज्ञा-नाभावेऽपि वादिनोऽभावज्ञानसद्भावात्, न; वादिनो यदभावज्ञानं तत् साङ्केतिकम्, नाभावफलो-त्पन्नम् आगमान्तरे प्रतिवादिनः अप्रामाण्याभावज्ञानवत्; न च साङ्केतिकादभावज्ञानादभा-
३५ वसिद्धिः, अन्यथाऽऽगमान्तरेऽपि ततोऽप्रामाण्याभावसिद्धिप्रसङ्गः, तत्रागमान्तरे वादिनोऽभाव-ज्ञानाभावाद् गतिः। नापि प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावात् तत्र तद्गतिः, वेदेऽपि तत्प्रसङ्गात्।

---

१ जैन-बौद्ध-स्थूलादिशास्त्रान्तरे। २ सद्विषयत्वस्य विरोधात् गु०। ३-ज्ञाने जनकः वा०, गु०। ४ पृ० २३ प० २५। ५ प्रमाणपञ्चकाभावात् पौरुषेयत्वाभावज्ञानम्। ६ प्रमेयाभावान्नाभावाभावगतिः सा०, गं०। प्रमेयाभावकार्यत्वात् तदभावाभावगतिः दा०। ७-न्नाभावाभावगतिः भां०, वा०, बं०, ऐ०, गु०, आ०, मां०। -न्नाभावगतिः वि०, पू०, भा०। -न्नाभावानगतिः पा०, पू०, वा०। ८ कार्य-भावस्य पा०, पू०, मां०, वा०। कार्यभावस्याकारणाभावव्यभिचारात् सा०, ग०। ९-ज्ञानासंसर्गी वि०, पू०। १० तत्रापि वादिनोऽभाव-भा०, पू०, वा०। ११ अत्र 'न प्रमेयाभावाभावः' इति पूर्णीयम्। १२ जैनराद्धे। १३-भावाद्गतिः भां०, पां०, गु०। १४ प्रमेयाभावाभावगतिः।

मस्ति? नापि विधिवाक्यादपरस्य भवद्भिः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, अभ्युपगमे वा पौरुषेयत्वमेव स्यात्। तथाहि तत्प्रतिपादकानि वेदवचांसि श्रूयन्ते–

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८, मं० १०, सू० १२१]
"तस्यैव चैतानि निःश्वसितानि" [बृह० उ० अ० २, ब्रा० ४, सू० १०]
"याज्ञवल्क्य इतिहोवाच" [बृह० उ० अ० २, ब्रा० ४, सू० १]

५ तत्र शब्दादपि तत्सिद्धिः। नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः, यदि हि चोदनासदृशं वाक्यमपौरुषेयत्वेन किंचित् सिद्धं स्यात् तदा तत्सादृश्योपमानेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुपमानात् सिद्धं स्यात्; न च तत् सिद्धम्, इत्युपमानादपि न तत्सिद्धिः। नाप्यर्थापत्ते, अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य वेदे[1] कस्यचिद्धर्मस्याभावात्। नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदस्यापौरुषेयत्वं १० परिकल्पयति, आगमान्तरेऽपि तस्य धर्मस्य भावादपौरुषेयत्वं स्यात्। न चासौ तत्र मिथ्या, वेदेऽपि तन्मिथ्यात्वप्रसङ्गात्। अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात् पुरुषाणां च सर्वेषामपि आगमादिषु रक्तत्वात् तद्द्वेषजनितस्याऽप्रामाण्यस्य तत्र संभवाद् नाऽप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मस्तत्र सत्यः, वेदे त्वप्रामाण्यजनकदोषास्पदस्य पुरुषस्य कर्तुरभावादप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मः सत्यः। कुतः पुनस्तत्र पुरुषाभावो निश्चितः? अन्यतः प्रमाणादिति चेत्, तदेवोच्यताम्, १५ किमर्थापत्त्या? अर्थापत्तितश्चेत्, न; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि–अर्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्यासिद्धिः, एतत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। चक्रकचोद्यं चात्रापि। तथाहि–यद्यप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदेऽपौरुषेयत्वं कल्पयति, आगमान्तरेऽप्यसौ धर्मस्तत् किं न कल्पयति? तत्र पुरुषदोषसम्भवादसौ धर्मो मिथ्या तेन तत्र तत्र कल्पयति। वेदे कुतः पुरुषाभावः? अर्थापत्तेश्चेत्, तदाऽऽगमान्तरे स स्याद् इत्यादि २० तदेवावर्त्तत इति चक्रकानुपरमः। नाप्यतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदे पुरुषाभावं कल्पयति, आगमान्तरेऽपि समानत्वात्[2]। न चाप्रामाण्याभावे पुरुषाभावः सिध्यति, कार्याभावस्य कारणाभावं प्रति व्यभिचारित्वेनान्यथानुपपन्नत्वासम्भवात्। अप्रतिबद्धासमर्थस्य पुरुषस्याभावसिद्धावपि न सर्वथा पुरुषाभावसिद्धि, पुरुषमात्रस्यापि निराकरणादिष्टसिद्धिश्च अप्रामाण्यकरणस्य तत्कर्तृत्वेनासाकमप्यनिष्टत्वात्। नापि प्रामाण्यधर्मोऽन्यथाऽनुपपद्यमानो वेदे २५ पुरुषाभावं साधयति, आगमान्तरेऽपि तुल्यत्वात्। शेषमत्र चिन्तितमिति न पुनरुच्यते।

[पूर्वपक्षः–शब्दनित्यत्वसाधनम्]

परार्थवाक्योच्चारणान्यथाऽनुपपत्तेस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, अयमर्थः–स्वार्थेनावगतसंबन्धः शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति, अन्यथाऽगृहीतसंकेतस्यापि पुंसस्ततो वाच्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्। स च संबन्धावगमः प्रमाणत्रयसंपाद्यः। तथाहि–यदैको वृद्धोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्गतये प्रतिपादयति– ३० 'देवदत्त! गामभ्याज एनां शुक्लां दण्डेन' इति–तदा पार्श्वस्थितोऽव्युत्पन्नसङ्केतः शब्दाऽर्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टादर्शनाद् अनुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिमवगच्छति, तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या शब्दस्य च तत्र वाचिकां शक्तिं स एव परिकल्पयति। स च प्रमाणत्रयसंपाद्योऽपि सङ्गत्यवगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात् संभवति, वाक्यात् संमुग्धार्थप्रतिपत्तावयवशक्त्यावापोद्धाराभ्यां निश्चयात्। न चास्थिरस्य पुनः पुनरुच्चारणं संभवति, तदभावे ३५ नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां वाचकशक्त्यवगमः, तदसत्त्वाद् न प्रेक्षावद्भिः परावबोधाय वाक्यमुच्चार्यम्, उच्चार्यते च परावबोधाय वाक्यम्, अतः परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते धूमादिरिव

---

१ मन्थाग्रम्–१२००। २ सिद्धवेदे अ०। सिद्धे वेदे आ०। ३ अत्र 'तद्द्वेषजनितस्याऽप्रामाण्यस्य' इति पाठः सुयोग्यः। ४–गमान्तरे समानमित्यादि वा०, पू०, बा० विना सर्वत्र। ५ त–पुरुषाभाव–स्यात्। ६ प्रतिबद्धासमर्थस्य वा०, पू०, बा०। ७–कारणस्य वि०। ८ अप्रामाण्यकारणस्य कस्यचित् पुरुषस्य वेदकर्तृत्वेन। ९ प्रत्यक्ष–अनुमान–अर्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयसंपाद्य, एतच्च 'गामभ्याज एनां शुक्लां दण्डेन' अत्र वाक्ये एव दर्शयति। १० स एव गु०। ११ आयापो–द्धाराभ्याम् वि०। अयापो–द्धाराभ्याम् आ०, स०, हे०, का०। आयापो–द्धाराभ्याम् भा०, गु०, वा० ग०।

गृहीतसम्बन्धोऽर्थप्रतिपादकः शब्दो नित्यः । तदुक्तम्–"दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः" इति ।
अथ मतम्–भूयो भूय उच्चार्यमाणः शब्दः सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति,
न पुनर्नित्यत्वात्; तन्न किंचिन्नित्यत्वपरिकल्पनेन प्रमाणबाधितेन, तदयुक्तम्; सादृश्येन शब्दा-
दर्थाप्रतिपत्तेः—नहि सदृशतया शब्दः प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किन्त्वेकत्वेन । तथा-
ह्येवं प्रतिपत्तिः—'य एव संबन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायम्' इति । किंच, सादृ- ५
श्यादर्थप्रतिपत्तौ भ्रान्तः शब्दादर्थप्रत्ययः स्यात् । न ह्यन्यस्मिन् गृहीतसङ्केतेऽन्यस्मादर्थप्रत्ययोऽ-
भ्रान्तः, यथा गोशब्दे गृहीतसंबन्धेऽश्वशब्दाद् गवार्थप्रत्ययः । न च भूयोऽवयवसामान्ययो-
गस्वरूपं सादृश्यं शब्दे संभवति, विशिष्टवर्णात्मकत्वाच्छब्दस्य; वर्णानां च निरवयवत्वात् ।
न च समानस्थान–करणजन्यत्वलक्षणं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्, परकीयस्थान–करणादेरती-
न्द्रियत्वेन तज्जन्य(न्यत्व)स्यापि प्रतिपत्तेः । न च गत्वादिविशिष्टानां गादीनां वाचकत्वमभ्युपगन्तुं १०
युक्तम्, गत्वादिसामान्यस्याभावात्; तदभावश्च गादीनां नानात्वायोगात्, तदयोगश्च प्रत्यभिज्ञया
गादीनामेकत्वनिश्चयात् । अत एव न सामान्यनिबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा, भेदनिबन्धनस्य
सामान्यस्यैव गादिष्वभावात् कुतस्तन्निबन्धना गादिषु प्रत्यभिज्ञा? किंच, किं गत्वादीनां वाच-
कत्वम्, उत गादिव्यक्तीनाम्? न तावद् गत्वादीनाम्, नित्यत्वेनासदभ्युपगमाश्रयणप्रसङ्गात् ।
नापि गादीनां वाचकत्वम्, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि–किं गत्वादिविशिष्टं व्यक्तिमात्रं वाचकम्, १५
उत गादिव्यक्तिविशेषः? तत्र न तावद् गादिव्यक्तिविशेषः, सामान्ययुक्तस्यापि तस्यानन्वयात्;
अनन्विताच्च नार्थप्रतिभासः । नापि गादिव्यक्तिमात्रम्, यतस्तदपि व्यक्तिमात्रं किं सामान्यान्तर्भू-
तम्, उत व्यक्त्यन्तर्भूतम् इति कल्पनाद्वयम् । यदि सामान्यान्तःपाति तदा पुनरपि नित्यस्य
वाचकत्वम् इत्यसत्पक्षप्रवेशः । अथ व्यक्त्यन्तर्भूतमिति पक्षस्तदाऽनन्वयदोषस्तदवस्थित इति ।
किंच, यद्यनित्यः शब्दस्तदाऽऽलम्बनरहिताच्छब्दप्रतिभासमात्रादर्थप्रतिपत्तिरभ्युपगता स्यात् । २०
तथाहि—शब्दश्रवणम्, ततः सङ्केतकालानुभूतस्मरणम्, ततः तत्सदृशत्वेनाध्यवसायः, न चैता-
वन्तं कालं शब्दस्यावस्थानं भवत्परिकल्पनया, तद् वाचकशून्यात् तत्प्रतिभासादर्थप्रतिपत्तिः स्यात् ।
अतोऽर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गाद् नानित्यत्वं शब्दस्य ॥

[उत्तरपक्षः–शब्दनित्यत्वनिरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते, यदुक्तम्'दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः, अनित्यत्वे पुनः पुनरुच्चारणा- २५
संभवाद् न समयग्रहः, तदभावे शब्दादर्थप्रतिपत्तिर्न स्यादिति परार्थशब्दोच्चारणान्यथाऽनुपपत्ते-
र्नित्यः शब्दः' तदयुक्तम्; अनित्यस्यापि धूमादेरिवावगतसंबन्धस्यार्थप्रत्यायकत्वसंभवात् शब्दस्य;
न हि धूमादीनामप्येकैव व्यक्तिरग्न्यादिप्रतिपादिका किन्त्वन्यैव । न चानाश्रितसमानपरिणतीनां
सर्वधूमादिव्यक्तीनामर्वाग्दृशा स्वसाध्येन संबन्धः शक्यो ग्रहीतुम्, असाधारणरूपेण सर्वधूमा-
दिव्यक्तीनामदर्शनात् । न च लिङ्गाऽनुमेयसामान्ययोस्तत्र संबन्धग्रहणम्, शब्देऽप्यस्य न्यायस्य ३०
समानत्वात् । न च 'धूमत्वाद् मया प्रतिपन्नोऽग्निः' इति प्रतिपत्तिः किन्तु धूमादिति । सा च
लिङ्गाऽनुमेययोः सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयोः संबन्धग्रहणे सति सामान्यविशिष्टाग्निव्यक्त्यव-
गमे युक्ता, न च धूमसामान्यादग्निसामान्यस्य । यथा च सामान्यविशिष्टस्य विशेषस्य अनुमेय-
त्वम् वाच्यत्वं वाऽभ्युपगमनीयम्—अन्यथा सामान्यमात्रस्य दाहाद्यर्थक्रियाऽजनकत्वे ज्ञानाद्य-
र्थक्रियायाश्च सामान्यसाध्यायास्तत्रैव समुद्भूतेर्दाहाद्यर्थिनामनुमेय–वाच्यप्रतिभासात् प्रवृत्त्यभा ३५
वेन लिङ्गि–वाच्यप्रतिभासयोरप्रामाण्यप्रसङ्गः—तथा धूम–शब्दयोस्तद्विशिष्टयोः तत्त्वमभ्युपगन्त-
व्यम्, न्यायस्य समानत्वात् । न चानुमेयत्व–वाच्यत्वसामान्यं व्यक्तिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानं तां
लक्षयतीति लक्षणया प्रवृत्तिर्भविष्यतीति वक्तुं शक्यम्, क्रमप्रतीतेरभावात्–नहि लिङ्ग–वाचकज-

---

१ "वेदस्य" गु० टि० । २ "नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्" मीमांसादर्शने १-१-१८ । ३ तदप्य-
युक्तम् भा० । ४ स्थानानि उच्चारणस्थानानि, करणानि उच्चारणप्रयत्नाः । ५ तज्जन्यतस्याऽपि डे०, च-पू०,
वा० । ६ पृ० ३२ पं० ३६ । ७ (वा) "समुच्चायक. गु० भा० टि० । ८ वाच्यत्वं सामान्यं
वा०, पू०, भा०, बा० ।

नितलिङ्गि—वाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यप्रतिभासः पश्चाद् व्यक्तिप्रतिभास इति क्रमप्रतीत्यनुभवः। 'न च लक्षणा संभवति' इति प्रपञ्चतः प्रतिपादयिष्याम इत्यास्तां तावत् । एवं सामान्यविशिष्ट-धूमादिलिङ्गस्य गमकत्ववद् गत्वादिविशिष्टगादिवाचकत्वे न किञ्चिन्नित्यत्वेन, तदभावेऽपि धूमादिभ्य इवार्थप्रतिपत्तिसंभवात्। अथ धूमादौ सामान्यस्य संभवात् पूर्वोक्तेन न्यायेन गमकत्व-
५ मस्तु, शब्दे तु न किंचित् सामान्यमस्ति यद्विशिष्टस्य शब्दस्य वाचकभावः। शब्दत्वमिति चेत्, न; गोशब्दस्य शब्दत्वविशिष्टस्य स्ववाच्ये न संबन्धग्रहः । न च शब्दत्वमपि गादिषु विद्यते गोशब्दत्व-गत्वादीनां तु सत्त्वे का कथा। शब्दत्वादीनां त्वभावो वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसन्धानाभावात्; यत्र सामान्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसन्धानं दृष्टम् यथा शावलेयग्रहणे बाहुलेयस्य, वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसन्धानम्, तन्न तत्र शब्दत्वादिसंभवः, एतदयुक्तम्;
१० यतः किमिदमनुसन्धानं भवतोऽभिप्रेतं यद् वर्णान्तरे गृह्यमाणे वर्णान्तरस्य नास्तीति प्रतिपाद्यते? यदि गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि वर्णः' इत्यनुसन्धानाभावः, तदयुक्तम्; एवंभूतानुसन्धानस्यानुभूयमानत्वेनाभावासिद्धेः। अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादिः' इत्यनुसन्धानाभावान्न सामान्यसद्भावस्तदाऽत्यल्पमिदमुच्यते, शावलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि बाहुलेयः' इत्यनुसन्धानाभावाद् गोत्वस्याप्यभावः प्रसक्तः। अथ तत्र 'गौर्गौः' इत्यनुग-
१५ ताकारप्रत्ययस्याबाधितस्य सद्भावाद् न गोत्वासत्त्वम्, एतद् गादिष्वपि समानम्—तत्रापि 'वर्णो वर्णः' इत्यनुगताकारस्याबाधितस्य प्रत्ययस्य सद्भावात् कथं न वर्णेषु वर्णत्वस्य, गादिषु गत्वादेः, शब्दे शब्दत्वस्य संभवो निमित्तस्य समानत्वात्? तथाहि—समानाऽसमानरूपासु व्यक्तिषु क्वचित् 'समाना' इति प्रत्ययोऽन्वेति, अन्यत्र व्यावर्त्तते, यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था नान्यत्र, सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपि समाना इति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्था? यदि पुन-
२० र्गादिष्वनुगताकारप्रत्ययसत्त्वेऽपि न गत्वादिसामान्यमभ्युपगम्यते तर्हि शावलेयादिष्वपि न गोत्वसामान्यमभ्युपगमनीयम्, न हि तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यद् निमित्तमुत्पश्यामः। अक्षजन्यत्वम् अबाधितत्वादि च प्रत्ययस्योभयत्रापि विशेषः समानः। यदि चानुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविशेषविषयत्वे सत्यपि गत्वादेरभावः, गादेरपि व्यावृत्ततथाभूतप्रत्ययविषयस्याभावः स्यात्, ततश्च कस्य दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यत्वं साध्येत? अथ गादौ श्रोत्र-
२५ ग्राह्यत्वनिमित्तोऽनुगतः प्रत्ययो न सामान्यनिमित्तः, तदप्ययुक्तम्; श्रोत्रग्राह्यत्वस्यातीन्द्रियत्वेनानवगमे निमित्ताग्रहणे तद्ग्रहणनिमित्तानुगतप्रत्ययस्य गादावभावप्रसङ्गात्। न च प्रत्यभिज्ञया गादीनामेकत्वसिद्धेर्भेदनिबन्धनस्य तेषु गत्वादिसामान्यस्याभाव इति युक्तमभिधानम्, गाद्येकत्वग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेश-नखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात्। अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादौ प्रत्यभिज्ञाया बाधितत्वेन भ्रान्तत्वं न पुनर्गादौ, ननु तत्र प्रत्यभिज्ञायाः किं बाधकम्? अन्तरालेऽ-
३० दर्शनमिति चेत्, ननु गादावप्यन्तरालेऽदर्शनं समानम्। अथ दलितपुनरुदिते नखशिखरादावभावनिमित्तमन्तरालेऽदर्शनम्, न गादावभावनिमित्तम्; किं पुनरत्रादर्शननिमित्तमिति वक्तव्यम्। किमत्र वक्तव्यम् अभिव्यक्तेरभावः।

अथ केयमभिव्यक्तिर्यदभावादन्तराले गाद्यप्रतिपत्तिः? वर्णादिसंस्कारः। अथ कोऽयं वर्णादिसंस्कारः? आत्म-मनःसंयोगपूर्वकप्रयत्नप्रेरितेन कोष्ठ्येन वायुना ताल्वादिसंयोग-विभा-
३५ गवशात् प्रतिनियतवर्णाद्यभिव्यञ्जकत्वेन भेदमासादयता वक्तृमुखसमीपगतैः स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षेण, तद्देशस्य च तूलादेः प्रेरणात् कार्यानुमानेन, देशान्तरे शब्दोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्त्या च प्रतीयमानेन नित्यसर्वगतस्य गकारादेर्वर्णस्य, श्रोत्रस्य, उभयस्य चाऽऽवारकाणां वायूनामपनयनं यथाक्रमं वर्णसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारश्चेति चेत्, ननु 'वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिः' इत्यभ्युपगमे आवारकवायुभिर्विज्ञानजननशक्तिप्रतिघाताद् वर्णोऽपान्तराले ज्ञानं न जनयतीति
४० अभ्युपगन्तव्यम्; सा च शक्तिर्वर्णस्वरूपात् कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगन्तव्या, एकान्तभेदे ततो वर्णादनुपकारे 'तस्य शक्तिः' इति संबन्धानुपपत्तेः; उपकारे या तदुपकारिका अपरा शक्तिर-

१ म धाम्म् ११०० । २-वता वक्तुमुखसमीपगतैः भा०, पू०, भा० ।

भ्युपगन्तव्या, तस्या अपि ततो भेदेऽनवस्था; अभेदे प्रथमैव शक्तिः कथञ्चिदभिन्नाऽभ्युपगमनीया, एवं हि पारम्पर्यपरिश्रमः परिहृतो भवति । तथाभ्युपगमे च तच्छक्तिप्रतिघाते वर्णस्वरूपमेव तद्भिन्नमावारकेण प्रतिहतं भवति; ततश्च कथं नानित्यत्वम् ? व्यञ्जकेनापि शक्तिप्रतिबन्धापनयनद्वारेण विज्ञानजननशक्त्याविर्भावेन वर्णस्वरूपमेवाविर्भावितं भवतीति कथं न वर्णस्य व्यञ्जकजन्यत्वम् ? व्यञ्जकावाप्तविज्ञानजननस्वरूपो वर्णो यदि तेनैव स्वरूपेणावतिष्ठते तदा सर्वदा तदवभासिज्ञानप्रसङ्गः, सर्वदा तज्जननस्वभावस्य भावात्, 'सहकार्यपेक्षा च नित्यस्य न भवति' इति प्रतिपादयिष्यामः । अजनने वा न तत्स्वभावतेति प्रथममपि ज्ञानं न जनयेत्, यो हि यन्न जनयति न स तज्जननस्वभावः, यथा शालिबीजं यवाङ्कुरमजनयन्न तज्जननस्वभावम्, न जनयति च वर्णो व्यञ्जकाभिमतवाय्वभिव्यक्तोऽपि सर्वदा स्वप्रतिभासिज्ञानमिति न सर्वदा तज्जननस्वभावः । तत्स्वभावाभावे चोत्तरकाले तदेवानित्यत्वमिति व्यर्थमभिव्यक्तिकल्पनम् । अपि च, वर्णाभिव्यक्तिपक्षे कोष्ठ्येन वायुना यावद्वेगमभिसर्पता यावान् वर्णविभागोऽपनीतावरणः कृतस्तावत एव श्रवणं स्यात् न समस्तस्य वर्णस्येति खण्डशस्तस्य प्रतिपत्तिः स्यात् । अथ वर्णस्य निरवयवत्वादेकत्रोत्सारितावरणः सर्वत्रापनीतावरण इति नायं दोषस्तर्हि निर्विभागत्वादेवैकत्रानपनीतावरणः सर्वत्र तथेति मनागपि श्रवणं न स्यात् । सर्वत्र सर्वात्मना वर्णस्य परिसमाप्तत्वात् सामस्त्येन श्रवणाभ्युपगमे वर्णस्याव्यापकत्वम् अनेकत्वं च दुर्निवारम् । यदि चैकत्राभिव्यक्तो निर्विभागत्वेन सर्वत्राभिव्यक्तस्तदा सर्वदेशावस्थितैस्तस्य श्रवणं स्यात् । यदप्युच्यते—यथैवोत्पद्यमानोऽयमुत्पत्तिवादिनां पक्षे दिगादीनामविभागादविभक्तदिगादिसंबन्धित्वेन स्वरूपेणासर्वगतोऽपि सर्वान् प्रति भवन्नपि न सर्वैरवगम्यते किन्तु यच्छरीरसमीपवर्त्ती वर्ण उत्पन्नस्तैनैवासौ गृह्यते तथाऽसत्पक्षेऽपि स्वतः सर्वगतोऽपि वर्णो न सर्वैर्दूरस्थैरवगम्यते किन्तु यच्छरीरसमीपस्थोऽभिव्यक्तस्तैरेवेति व्यञ्जकध्वनिसन्निधानाऽसन्निधानकृतं वर्णस्य श्रवणम् अश्रवणं च युक्तम् । एतदेवाह—

> "यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते ॥
> दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि ।
> तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः ॥
> तैरेव गृह्यते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन" । इति, [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० ८४-८६]

तदपि प्रलापमात्रम्, यतो यदि व्यञ्जका वायवो यत्रैव संनिहितास्तत्रैव वर्णसंस्कारं कुर्युस्तदा स्यादप्येतत्, किन्तु तथाभ्युपगमे वर्णस्य सावयवत्वम् अनभिव्यक्तस्वरूपादभिव्यक्तस्वरूपस्य च भेदादनेकत्वं च स्यात् । सर्वात्मना तु संस्कारे—

> "यच्छरीरसमीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः ।
> तैर्यथा श्रूयते शब्दस्तथा दूरगतैर्न किम्"[1] ? ॥ [ ]

उत्पत्तिपक्षे तु अव्यापकत्वाद् यत्समीपवर्त्ती वर्ण उत्पन्नस्तैनैवासौ गृह्यते न दूरस्थैरिति युक्तम् । "दिग्देशाद्यविभागेन" इति चातीवासङ्गतम्, अविभागस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽसंभवेनानभ्युपगमात् । किंच, व्यापकत्वेन वर्णानामेकवर्णाऽऽवरणापाये समानदेशत्वेन सर्वेषामनावृतत्वाद् युगपत् सर्ववर्णश्रुतिश्च स्यात् । अथापि स्यात् प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथाऽनुपपत्त्या व्यञ्जकभेदसिद्धेः प्रतिनियतैर्व्यञ्जकैः प्रतिनियताऽऽवारकनिराकरणद्वारेण प्रतिनियतवर्णसंस्काराद् न युगपत्सर्ववर्णश्रुतिदोषः, स्यादेतद् यदि व्यञ्जकानां वायूनां भेदः स्यात्, स चावारकभेदनिबन्धनः, अन्यथा तदभेदेऽभिघावारकापनेतृत्वेन कुतो व्यञ्जकभेदः ? आवारकभेदोऽपि वर्णदेशभेदनिबन्धनः, अन्यथा समानदेशानां यदेवैकस्यावारकं तदेवापरस्यापि इत्यावारकभेदो न स्यात् । देशभेदोऽपि वर्णानामव्यापकत्वे सति स्यात्, व्यापकत्वे तु परस्परदेशपरिहारेण वर्णानामवस्थानाभावाश्च देशभेदः । न चाव्यापकत्वं वर्णानामभ्युपगम्यते भवद्भिरिति न देशभेदः, तदभावान्नावारकभेदः, तदसत्त्वाच्च व्यञ्जकभेद इति युगपत्सर्ववर्णश्रुतिरिति तदवस्थो दोषः । नाप्यावारकाणां न वर्णपि-

१–शस्तत्प्रतिप-मु० । २ ईदृशस्तु पाठः बा०, पू०, बा०, चं-ल० प्रतिष्वेव, अन्यत्र सर्वत्र—काणां वर्णपिधायक-इति । किन्तु डे०, भा० प्रतौ 'पूर्वोक्तदोषाभाव इति वक्तुं शक्यम्' इत्यस्य स्थाने 'पूर्वोक्तदोषाभाव इति वक्तुं न शक्यम्' इति पाठः ।

धायकत्वेनावारकत्वं किन्तु वर्णे दृश्यस्वभावखण्डनात्; व्यञ्जकानामपि न तदावारकापनेतृत्वेन
व्यञ्जकत्वं किन्तु वर्णे दृश्यस्वभावाधानादिति पूर्वोक्तदोषाभाव इति वक्तुं शक्यम्, यत एवमभि-
धाने स्ववाचैव तस्य परिणामित्वमभिहितं स्यादित्यविप्रतिपत्तिप्रसङ्गः; तत्र वर्णसंस्कारोऽभिव्य-
क्तिरिति पक्षो युक्तः। नापि श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरिति पक्षो युक्तः, तस्मिन्नपि पक्षे सकृत् सं-
५ स्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपत् शृणुयात्; नह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः संनिहितं स्वविषयं किञ्चित्
पश्यति किञ्चिन्नेति दृष्टम्। अथ व्यञ्जकानां वायूनां भिन्नेषु कर्णमूलावयवेषु वर्त्तमानानां संस्का-
राधायकत्वेनार्थापत्त्या प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणया प्रतिनियतवर्णग्राहकत्वेन सं-
स्काराधायकत्वस्य प्रतीतेर्नैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपद् गृह्णातीति। तथाहि–
वायवीयशब्दपक्षे यथा गकारादेर्निष्पत्त्यर्थं प्रयत्नप्रेरितो वायुर्नान्यं वर्णमुत्पादयति तथाऽसत्पक्षेऽ-
१० प्यन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारे समर्थो नान्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्कारं विधास्यति। येषां तु ताल्वादि-
संयोग-विभागनिमित्तः शब्द इति पक्षस्तेषां यथाऽन्यगकारादिजनकैः संयोग-विभागैर्नान्यो वर्णो
जन्यते तथाऽसत्पक्षेऽपि नान्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्काराधायकव्यञ्जकप्रेरकैरन्यवर्णग्राहकश्रोत्रसंस्का-
राधायकवायुप्रेरणं क्रियत इत्युत्पत्त्य-भिव्यक्तिपक्षयोः कार्यदर्शनान्यथाऽनुपपत्त्या समः सामर्थ्य-
भेदः प्रयत्न-विवक्षयोः सिद्धः। अतश्च यदुक्तं कैश्चित् "समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु व्यञ्जकेषु न दृष्टो
१५ नियमः" इति, एतदयुक्तम्; अर्थापत्तेर्दृष्टान्तानपेक्षत्वात्, दृष्टश्च तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिः, भूमेरुद-
दकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिभेद इति कथं न व्यञ्जकनियमः? तदुक्तम्—

"व्यञ्जकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता॥
जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते।
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथाऽन्यं न करोति वः॥
२० तथाऽन्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति।
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्नान्यो वर्णो यथैव हि॥
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः।
तस्मादुत्पत्त्य-भिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः॥
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात् प्रयत्न-विवक्षयोः"। इति, [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० ७९–८३]
२५

एतदसंबद्धम्; इन्द्रियसंस्कारकाणां व्यञ्जकानां समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु प्रतिनियतवि-
षयग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारकत्वस्य कदाचिददर्शनात्; नह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं
स्वविषयं किञ्चित् पश्यति, किञ्चिन्नेत्युपलब्धम्। तथा बाधिर्यनिराकरणद्वारेण बलातैलादिना
संस्कृतं श्रोत्रं स्वग्राह्यान् गकारादीन् वर्णानविशेषेणैवोपलभमानमुपलभ्यते; एवं घ्राणादीनीन्द्रि-
३० याणि स्वव्यञ्जकैः संस्कृतानि स्वविषयग्राहकत्वेनाविशेषेण प्रवर्त्तमानानि प्रतीयन्त इति प्रकृतेऽप्य-
यमेव न्यायो युक्तः। यश्च तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिः, भूमेस्तूदकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिरिति व्यञ्जकं
प्रति नियमो दर्शितः सोऽपि विषयसंस्कारकव्यञ्जकप्रतिनियमः नेन्द्रियसंस्कारकव्यञ्जकप्रतिनि-
यमः। विषयसंस्कारकेष्वप्ययं नियमो भिन्नदेशेषु दर्शितः न समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्येषु। तत
इन्द्रियसंस्कारकेषु समानेन्द्रियग्राह्ये समानदेशेऽर्थे प्रतिनियतविषयग्राहकत्वेन इन्द्रियान्तरविषय-
३५ ग्राहकत्वेन च इन्द्रियसंस्कारकत्वस्यादर्शनाद् अत्यन्तासंभविनो नार्थापत्तिसामर्थ्यात् कल्पना
युक्ता; कारकाणां तु प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वस्यान्यत्राप्युपलब्धेः प्रतिनियतवर्णोत्पादनसामर्थ्यभेदस्य
ताल्वादिष्वर्थापत्तितः कल्पना संभाव्यत एव। किंच, इन्द्रियं संस्कुर्वद् व्यञ्जकं यदि यथावस्थित-
वर्णग्राहकत्वेनेन्द्रियसंस्कारं विदध्यात् तदा सकलनभस्तलव्यापिनो गादेः प्रतिपत्तिः स्यात्,
न चासौ दृष्टा; अथान्यथा, न तर्हि वर्णस्वरूपप्रतिभास इति न तत्स्वरूपसिद्धिः; तन्न श्रोत्रसंस्का-
४० रोऽप्यभिव्यक्तिः। नाप्युभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, प्रत्येकपक्षोक्तदोषप्रसङ्गात्। न चान्यप्रकारः
संस्कारोऽभिव्यक्तिः संभवति, तद् अभिव्यक्तेरसंभवाद् नानभिव्यक्तिनिमित्तोऽन्तराले गादीनाम-

१ च कां०, गु०। २ बला–गु०। ३ प्र० पृ० पं० १६।

रुपलम्भः किन्तु दलितनखशिखरादिष्विवैभावनिमित्त इति लूनपुनर्जातनखादिष्विवापान्तरालादर्शनेन गादिप्रत्यभिज्ञाया बाध्यमानत्वादप्रामाण्यम् ।

अथ खण्डितपुनरुदितकररुहसमूहविषयाया अपि प्रत्यभिज्ञायास्तत्सामान्यविषयत्वेन नाप्रामाण्यम्, तस्यास्तद्विषयतयाऽबाध्यमानत्वात्; न चायं प्रकारो गादिविषयप्रत्यभिज्ञायाः सम्भवति, तथाभूतकेशादिष्विव गादिभेदविषयाबाधितप्रतिभासाभावेन तद्भेदासिद्धौ 'समानानां भावः सामान्यम्' इति कृत्वा तत्र सामान्यस्यैवासम्भवात्, असदेतत्; गादिष्वपि 'पूर्वोपलब्धगादेः सकाशाद् अयमल्पः महान् कर्कशः मधुरो वा गादिः' इत्यबाधिताक्षजप्रतिभाससद्भावेन भेदनिबन्धनसामान्यसम्भवस्य न्यायानुगतत्वात् । न च यथा तुरगजवस्य पुरुषेऽध्यारोपात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययः व्यपदेशश्च तथा व्यञ्जकध्वनिगतस्याल्प-कर्कशादेर्गादावुपचारात् तथाप्रत्ययः व्यपदेशश्चेत्यभ्युपगन्तुं शक्यम्, तथाऽभ्युपगमे वाहीके गोप्रत्ययवद् गादिप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेन गादिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्, नहि भ्रान्तप्रत्ययसंवेद्या द्विचन्द्रादयः स्वरूपसंगतिमनुभवन्ति । न चाल्प-महत्त्वप्रत्यययोर्भ्रान्तत्वे अल्प-महत्त्वे एव गादिविषये अव्यवस्थितस्वरूपे न पुनर्गादिको वर्णः, तत्प्रत्ययस्याभ्रान्तत्वात्; न चान्यविषयप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्य तथाभावोऽतिप्रसङ्गादिति वक्तुं युक्तम्, यतो यद्यल्प-महत्त्वादिधर्मव्यतिरिक्तस्य गादेर्द्वित्वरहितस्येव निशीथिनीनाथस्य प्रत्ययविषयत्वं स्यात् तदैव तद् युज्येतापि वक्तुम्; न च स्वप्नेऽपि तद्धर्मानध्यासितो गादिः केनचित् प्रतीयत इति कथं तस्य महत्त्वादिधर्मैरहितस्य स्वरूपव्यवस्था ? अत एव महत्त्वादिधर्मयुक्तस्य सर्वदा प्रतीयमानत्वाद् गादेर्न तद्धर्मयुक्ततया प्रतीयमानस्य उपचरितप्रत्ययविषयता । तदुक्तम्—

"यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथाऽपि वा ।
स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते" ॥ [ ] इति ।

तत्र व्यञ्जकधर्माध्यारोपादुपचरितप्रत्ययविषयत्वं तथाभूतस्य गादेः, सर्वभावानामुपचरितप्रत्ययविषयत्वेन स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । न च व्यञ्जकस्य प्रदीपादेरल्प-महत्त्वभेदाद् व्यङ्ग्यस्य घटादेरल्प-महत्त्वभेदप्रतिभासो दृष्टः । अथ व्यञ्जकधर्मानुकारित्वं व्यङ्ग्ये उपलभ्यते । तथाहि-एकस्वरूपमपि मुखं खड्गे प्रतिबिम्बितं दीर्घम्, आदर्शे वर्तुलम्, नीलकाचे गौरमपि श्यामं व्यञ्जकधर्मानुकारितया प्रतिभासविषयमुपलभ्यत इति प्रकृतेऽपि तथा स्यात्, एतदप्यसङ्गतम्, दृष्टान्तमात्रादर्थासिद्धेः, तस्य हि साध्य-साधनप्रतिबन्धसाधकप्रमाणविषयतया साध्यसिद्धावुपयोगो न स्वतन्त्रस्य, अन्यथा—

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः" [अमृतबिन्दु-उपनि० श्लो० १२, पृ० १५]

इत्यादिदृष्टान्तमात्रतोऽद्वैतवादिनोऽपि पुरुषाद्वैतसिद्धेः शब्दस्वरूपस्याप्यभावात् कस्योपचाराद् महत्त्वादिप्रतिभास इत्युच्यते ? मुखादीनां च छाया खड्गादौ संक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभाति न मुखादयः । न च गादीनां छाया व्यञ्जकध्वनिसंक्रान्ता तद्धर्मानुकारिणी प्रतिभातीति शक्यं वक्तुम्, शब्दस्य भवताऽमूर्त्तत्वेनाभ्युपगमात्, अमूर्त्तस्य च मूर्त्तध्वनौ छायाप्रतिबिम्बनाऽसंभवात्; मूर्त्तानामेव हि मुखादीनां मूर्त्ते आदर्शादौ छायाप्रतिबिम्बनं दृष्टं नामूर्त्तानामात्मादीनाम् । अदृष्टे च ध्वनौ छाया प्रतिबिम्बिताऽपि न गृह्येत कथं तद्धर्मानुकारितया प्रतीतिविषयः ? न च ध्वनेः शब्दप्रतिभासकाले श्रवणप्रतिपत्तिविषयत्वम्, उभयाकारप्रतिपत्तेरसंवेदनात्; तत्र व्यञ्जके ध्वनौ प्रतिबिम्बिता गकारादिच्छाया प्रतिभाति । नाप्यमूर्त्ते गादौ ध्वनिच्छायाप्रतिबिम्बनं युक्तम्, अमूर्त्ते आकाशादौ घटादिच्छायाप्रतिबिम्बनानुपलब्धेः । तदयुक्तमुक्तम् 'खड्गादौ दीर्घमुखादिप्रतिभासवद् अल्प-महत्त्वादियुक्तशब्दप्रतिभासः' इति, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यात् । अतोऽबाधितमहत्त्वादिभेदभिन्नगादिप्रतिभासाद् गादिभेदसिद्धेस्तन्निबन्धनस्य सामान्यस्य गादौ सद्भावात् तन्निबन्धना प्रत्यभिज्ञा दलितोदितनखशिखरादिष्विव गादावभ्युपगमनीया । अत एव धूमादीनामिवानित्यत्वेऽपि गादीनां सामान्यसद्भावतः सङ्केतग्रहस्य सम्भवाद्

१ ग्रन्थाग्रम् १४०० । २ "सामान्यविषयत्वप्रयोज्यबाध्यमानत्वप्रयोज्याप्रामाण्याभावरूपः" गु० टि० । ३-भ्रान्तित्वे का०, गु० । ४ प्रतिबिम्बसाधक का०, गु० । ५ अत्र 'इति' शब्दाहार्यम् । ६ प्र० पृ० पं० २१ ।

न परार्थशब्दोच्चारणान्यथाऽनुपपत्त्या तन्नित्यत्वकल्पना युक्ता, तद् गत्वादिविशिष्टस्य गादेरवि-
वक्षितविशेषस्य स्वार्थेन[1] सङ्गत्यवगमेन न किञ्चिन्नित्यत्वेन। यथा गोत्वादिविशिष्टस्य गोव्यक्तिमा-
त्रस्य वाच्यत्वे न कश्चिद्दोषस्तद्वद् वाचकत्वेऽपि, तद् अर्थप्रतिपादकत्वस्य अन्यथापि सम्भवात्
'दर्शनस्य परार्थत्वाद् नित्यः शब्दः' इत्ययुक्तमभिहितम्[2]। यत् पुनरुक्तम्[3] 'सदृशत्वेनाग्रहणाद् न
५ सादृश्यादर्थप्रतिपत्तिः' इति, तत्र यदि सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं व्यक्तेः सादृश्यमभिप्रेतं तदा
तस्य यथा व्यक्तिविशेषणस्य[4] वाचकत्वं तथा प्रतिपादितम्[5]। अथ अन्यथाभूतं सादृश्यमत्र विव-
क्षितं तदा तस्य वाचकत्वानभ्युपगमात् स एव परिहारः। यत्तूक्तम्[6] 'वर्णानां निरवयवत्वाद् न
भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यस्य सम्भवः', तदत्यन्तासङ्गतम्; वर्णानां भाषावर्गणा-
रूपपरिणतपुद्गलपरिणामस्यैव[7] सावयवत्वात्।

१० अथ पौद्गलिकत्वे वर्णानां महती अदृष्टकल्पना प्रसज्यते। तथाहि-शब्दस्य श्रवणदेशाऽऽग-
मनम्, मूर्त्ति-स्पर्शादिमत्त्वं च अनुपलभ्यमानं परिकल्पनीयम्। तेषां च मूर्त्ति-स्पर्शानां सताम-
प्यनुद्भूतता कल्पनीया, त्वगग्राह्यत्वं च परिकल्पनीयम्। ये चान्ये सूक्ष्मा भागास्तस्य कल्प्यन्ते
तेषां च शब्दकरणवेलायां सर्वथाऽनुपलभ्यमानानां कथं रचनाक्रमः क्रियताम्? उपलभ्यमान-
त्वेऽपि कीदृशाद् रचनाभेदाद् गकारादिवर्णभेदः? द्रवत्वेन च विना कथं वर्णावयवानां परस्प-
१५ रतः संश्लेषो वर्णनिष्पादकः? यद्यपि च कथञ्चित् कर्त्रा निष्पादिता वर्णास्तथापि आगच्छतां कथं
न वायुना विश्लेषः? लघूनां तदवयवानामुदकादिनिबन्धनाभावात् नियद्धानामप्यागच्छतां वृक्षा-
द्यभिहतानां विश्लेषो लोष्टवत्। न चैकशब्दस्यैकश्रोत्रप्रवेशे मूर्तत्वेन प्रतिबद्धत्वादन्येषां श्रोतॄणां
तद्देशाव्यवस्थितानामपि श्रवणमुपपद्यते, प्रयत्नान्तरस्यासत्त्वेन पुनर्निष्क्रमणासम्भवात्। न चैकगो-
शब्दापेक्षयाऽवान्तरवर्णनानात्वकल्पनायामस्ति प्रयोजनम्, एकस्मादेव गोशब्दादर्थप्रतीतेः, अतो
२० गकारादिवर्णनानात्वमदृष्टं परिकल्पनीयम्। न चैकस्यैव गोशब्दावयविनः सर्वासु दिक्षु गमनं
युज्यत इत्यनेकाऽदृष्टपरिकल्पना स्यात्। तदुक्तम्—

"शब्दस्याऽऽगमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते॥
मूर्त्ति-स्पर्शादिमत्त्वं च तेषामनिभवः सताम्।
त्वगग्राह्यत्वमन्ये च सूक्ष्मा भागाः प्रकल्पिताः॥
२५ तेषामदृश्यमानानां कथं च रचनाक्रमः?।
कीदृशाद् रचनाभेदाद् वर्णभेदश्च जायताम्?॥
द्रवत्वेन विना चैषां संश्लेषः कल्प्यतां कथम्?।
आगच्छतां च विश्लेषो न भवेद् वायुना कथम्?॥
लघवोऽवयवा ह्येते नियद्धा न च केनचित्।
३० वृक्षाद्यभिहतानां तु विश्लेषो लोष्टवद् भवेत्॥
एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां च पुनः श्रुतिः।
न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम्॥
न चैकस्यैव सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते"। [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० १०७-११३]
इति,

३५ एतद् भवत्पक्षेऽपि सर्वं समानम्। तथाहि-'वायोरागमनं तावददृष्टं परिकल्प्यते' इत्याद्यपि वक्तुं
शक्यत एव, केवलं वर्णस्थाने वायुशब्दः पठनीय इति कथं न भवत्पक्षेऽपि भूयस्यदृष्टपरिक-
ल्पना? अपि च, भवत्पक्षेऽयमपरः परिकल्पनागौरवदोषः सम्पद्यते—वर्णस्य पूर्वाऽपरकोट्योः
सर्वत्र देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वं परिकल्पनीयम्, तस्य चावारकाः स्तिमिता वायवः प्रमाणतोऽ-
नुपलभ्यमानास्तदपनोदकाश्चान्ये तथाभूता एव व्यञ्जकाः परिकल्पनीयाः, तेषां चोभयरूपाणामपि
४० शक्तिनानात्वं परिकल्पनीयम्। असत्पक्षे तत् सर्वमपि नास्तीति कथमदृष्टपरिकल्पना गुर्वी?

---

१ स्वार्थे संगत्यवगमे न वा०, पू०, बा०। २ पृ० ११ पं० १। ३ पृ० ११ पं० ३। ४ शक्ति-
विशेषणस्य वा०, पू०, बा० विना सर्वत्र। ५ पृ० १४ पं० ३। ६ पृ० ११ पं० ८। ७ -मत्स्यैव (-मशे-
षैव) वा०, बा०, पू०।

पौद्गलिकत्वं च शब्दस्य अम्बरगुणप्रतिषेधप्रस्तावे प्रमाणोपपन्नं करिष्यत इत्यास्तां तावत् । यत् पुनर्भ्रान्तत्वं शब्दादर्थप्रत्ययस्याभिहितं तद् धूमालिङ्गालिङ्गिप्रत्ययेन प्रत्युक्तम् । 'गत्वादिविशिष्टस्य गादेर्वाचकत्वमयुक्तम्, गत्वादेः सामान्यस्यासम्भवात्', तद् अनन्तरं निराकृतम् । यत् पुनरुक्तम् 'गादिव्यक्तिमात्रं गत्वादिविशिष्टं नोपपद्यते, तस्य सामान्य-विशेषयोरन्यतरत्रान्तर्भावे एकत्र वाचकस्य नित्यत्वप्रसङ्गात्, अन्यत्रानन्वयात् वाचकत्वायोगात्' एतदसारम्; व्यक्तिमात्रस्य सामान्यविशिष्टस्य पूर्वं वाचकत्वव्यवस्थापनात्, ता एव व्यक्तयोऽविवक्षितासाधारणविशेषाः सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रशब्दाभिधेयाः । ५

किंच, किं वर्णानां नित्यत्वमभ्युपगम्यते, उत वर्णक्रमस्य, आहोस्विद् वर्णाभिव्यक्तेः, किं वा तत्क्रमस्य? तत्र न तावदभिव्यक्तेर्नित्यत्वम्, तस्या निषिद्धत्वात्, अनिषेधेऽपि पुरुषप्रयत्नप्रेरितवायुजन्यत्वेनापौरुषेयत्वासम्भवात् । नाप्यभिव्यक्तिक्रमस्य, अभिव्यक्त्यभावे तत्क्रमस्याप्यभावात्, १० तत्पौरुषेयत्वे तस्यापि पौरुषेयत्वात् । अथैवं पौरुषेयत्वस्यानादिसिद्धस्य केनचिदादावकृतस्य सर्वपुरुषैः परिग्रहात् पुरुषाणां स्वातन्त्र्याभावादपौरुषेयत्वमुच्यते । तदुक्तम्—

"वक्ता नहि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते ।
यथैवास्य परैरुक्तः तथैवैनं विवक्षति ॥
परोऽप्येवं ततश्चास्य संबन्धवदनादिता । १५
तेनेयं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता ॥
यत्ततः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" । [श्लो० वा० सू० ६, श्लो० २८८-२९०] इति,

एतदसंबद्धम्; अपौरुषेयत्वप्रतिपादकप्रमाणस्यासिद्धत्वात् । अथ वर्णक्रमस्यापौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते, तदप्यचारु; वर्णानां नित्यत्वेन कालकृतस्य तन्तुपटवद्, व्यापकत्वेन देशकृतस्य मुक्ताव- २० लीमुक्ताफलमालावद् अस्यासंभवात् ।

अथ वर्णानामपौरुषेयत्वमङ्गीक्रियते, तदप्यसङ्गतम्; "य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः" इत्यभिधानाद् वेदवल्लोकायतशास्त्रमपि प्रमाणं स्यादिति तदर्थानुष्ठानं भवतः प्रसज्यते । लौकिके च वाक्ये यो विसंवादः क्वचिदुपलभ्यते स भवन्नीत्या न प्राप्नोति । अथ लौकिक-वैदिकशब्दयोर्भेदोऽभ्युपगम्यते, तथा (तदा) रागादिसमन्वितत्वाभ्युपगमात् सर्वपु- २५ रुषाणां न तेषां यथावस्थितवेदार्थपरिज्ञानम्; स्वयं वेदोऽपि न भवतां वेदार्थं प्रतिपादयति; नापि वेदार्थप्रतिपादकमपौरुषेयं वेदव्याख्यानमवगतार्थं सिद्धं येन ततो वेदार्थप्रतिपत्तिः; लौकिकशब्दानुसारेण वेदशब्दार्थप्रकल्पनमपि तद्भेदाभ्युपगमेऽनुपपन्नमिति न वेदार्थप्रसिद्धिः स्यादिति न वैदिक-लौकिकशब्दयोर्भेदाभ्युपगमः श्रेयानिति लौकिकवद् वैदिकस्यापि पौरुषेयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । न च लौकिक-वैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाविशेषे, सङ्केतग्रहणव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे, ३० अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे सम्यते (समाने)अपरो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः, लौकिकाः पौरुषेयाः स्युः । तथा नियोगे चार्थप्रत्यायनमुभयोरपि । न च नित्यत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्, उपलभ्यन्ते च यत्र पुरुषैः सङ्केतितास्तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्तः; अन्यथा नियोगाद्यर्थभेदपरिकल्पनमसारं स्यात् । अतः पौरुषेयत्वमनुमानादवसीयते । तथाहि—ये नररचितरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः, यथाऽभिनवकूप-प्रासादादिरचनाऽविशिष्टा ३५ जीर्णकूप-प्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति प्रयोगः । न चात्राऽऽश्रयासिद्धो हेतुः, वैदिकीनां रचनानां प्रत्यक्षत उपलब्धेः । नाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, अभिनव-

१ पृ० ३३ पं० ६ । २ पृ० ३३ पं० २७ । ३ पृ० ३३ पं० १० । ४ पृ० ३४ पं० ३ । ५ पृ० ३३ ० १८ । ६ पृ० ३४ पं० ३ । ७ पृ० ३४ पं० ३३ । ८ वा०, पू०, वा०, मां० विना सर्वत्र सम्यते । सत्यतो ० ०, गु० । प्रमेयकमलमार्तण्डे अत्र स्थले एवं पाठः—"न च लौकिक-वैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाविशेषे, सङ्केतग्रहणसापेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे, अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेण अश्रवणे समाने अन्यो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः ०ब्दा", लौकिकास्तु पौरुषेयाः स्यु."—(पृ० ११६, पं० ६-७) । ९ नियोगः संकेतः । नियोगं भा०, गु०, वि०, ०० विना । १० वियोगाद्यर्थ-वा०, गु०, भा० विना । ११ नररचितरचना- गु० ।

कूप-प्रासादादिषु पुरुषपूर्वकत्वेऽस्य साध्यधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य सिद्धत्वात्। न च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्, वैदिकीषु वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रमाणाभावेन तस्याभावात्। न चाऽप्रामाण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्र इति शक्यमभिधातुम्, तथाभूतस्य विशेषस्य विद्यमानस्यापि पौरुषेयत्वानिराकरणात्; यादृशो हि विशेष उपलभ्यमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति तादृशस्य विशेष-
५स्याभावादविशिष्टत्वमुच्यते, न पुनः सर्वथा विशेषाभावात्; एकान्तेनाविशिष्टस्य कस्यचिदभावात्। अप्रामाण्याभावलक्षणश्च विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति, न च गुणवन्तमप्रामाण्यनिवर्त्तकम्। न च गुणवतः पुरुषस्याभावात् अन्यस्य च तेन विशेषेण निवर्त्तितत्वात् सिद्धमेवापौरुषेयत्वं वेदे इत्यभ्युपगमनीयम्, अपौरुषेयत्वस्य निराकृतत्वात्; गुणवत्पुरुषाभावेऽप्रामाण्याभावलक्षणस्य विशेषस्याभावप्रसङ्गात्। न च गुणवतः पुरुषस्यान्येन विशेषेण निराकरण-
१०मिति तथाभूतविशेषस्याभावाद् नासिद्धो नररचितवचनरचनाऽविशिष्टत्वलक्षणो हेतुः। पौरुषेयेषु प्रासादादिषु नररचितरचनाऽविशिष्टत्वदर्शनादपौरुषेयेष्वाकाशादिष्वदर्शनाच्च नानैकान्तिकः। अथापौरुषेयेष्वदृष्टमपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वं तत्र विरोधाभावादाशङ्क्यमानं सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम्, न, अपौरुषेयेष्वपि नररचितरचनाऽविशिष्टत्वस्य भावे पौरुषेयत्वेन निश्चितेषु प्रासादादिषु सकृदपि तस्य सद्भावो न स्यात्, अन्यहेतुकस्य ततः कदाचिदप्यभावात्।
१५भावे वा तद्धेतुक एवासाविति नापौरुषेये तस्य सद्भावः शङ्कनीयः। अत एव न विरुद्ध, पक्षधर्मत्वे सति विपक्ष एव वृत्तिर्यस्य स विरुद्धः, न चास्य विपक्षे वृत्तिरिति प्रतिपादितम्। नापि कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाऽप्रयोजकत्वानि हेतोर्दोषाः सम्भवन्ति। तथाहि—प्रत्यक्षाऽऽगमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वमुच्यते, न च यत्र स्वसाध्याविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्त्तमानः स्वसाध्यं व्यवस्थापयति तत्रैव प्रमाणान्तरं प्रवृत्तिमासादयत् तमेव
२०धर्मं व्यावर्त्तयति; एकस्यैकदैकत्र विधि-प्रतिषेधयोर्विरोधात्। तत्र बाधाऽविनाभावयोः सम्भव इति न कालात्ययापदिष्टत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः संभवति। प्रकरणसमत्वमपि प्रतिहेतोर्विपरीतधर्मसाधकस्य प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भाव उच्यते, न च स्वसाध्याविनाभूतहेतुसाधितधर्मणो धर्मिणो विपरीतत्वं संभवतीति न विपरीतधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति न प्रकरणसमत्वमविनाभूतस्य हेतोर्दोषः। अप्रयोजकत्वं तु पक्षधर्माऽन्वय-व्यतिरेका-
२५णामन्यतमरूपाभावः, न च प्रकृते हेतौ तदभाव इति दर्शितम्। अथाऽनुमानलक्षणयुक्तस्य प्रत्यनुमानस्यापौरुषेयत्वसाधकस्य सद्भावात् प्रकरणसमता प्रकृतस्य हेतोः, अनुमानबाधितत्वं वा पक्षस्य दोषः; प्रत्यनुमानं च दर्शितम्—

"वेदाध्ययनमखिलं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययनं यथा"॥ [श्लो० वा० सू० ७, श्लो० ३६६] इति।

३०न चैतदाशङ्कनीयम्—एवंविधे प्रत्यनुमानेऽभ्युपगम्यमाने कादम्बर्यादीनामप्यपौरुषेयत्वसिद्धिः, यतस्तेषु बाणादीनां कर्तृणां निश्चयः; तथाहि—कालिदासकृतत्वेन कुमारसंभवादीनि काव्यानि अविगानेन स्मर्यन्ते। अथ वेदेऽपि कर्तृस्मरणमस्ति, तथा च केचिद् हिरण्यगर्भं वेदानां कर्तारं स्मरन्ति, अपरे अष्टकादीन् ऋषीन्, सत्यम्, अस्ति न त्वविगीतं यथा भारतादिषु, तथा छिन्नमूलं च। स्मरणस्यानुभवो मूलम्, न च वेदे कर्तृस्मरणस्य केनचित् प्रमाणेन मूलानुभवो व्यवस्थापयितुं
३५शक्यः; यदपि कर्तृसद्भावप्रतिपादकं वचनं कैश्चित् स्मृतम्—"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १०, सू० १२१] इत्यादि, तदपि मन्त्राऽर्थवादानां श्रूयमाणेऽर्थे प्रामाण्यायोगाद् न तत्सद्भावावेदकम्। तदुक्तम्—

"भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते।
वेदे तु तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना"॥ [श्लो० वा० सू० ७, श्लो० ३६७],

४०एतदप्ययुक्तम्, यतः किमत्र प्रतिसाधनत्वेन विवक्षितम्? किमध्ययनशब्दवाच्यत्वम्, उत कर्तृ-

१ न च प्रामाण्याभावलक्षणो मा०, बा०, पू० विना सर्वत्र। २ निश्चितेषु एषु प्रासा-गु०। ३ प्र० पृ० प० ११। ४ धर्मिणि गु०। [?] पृ० ३९ प० २६।

स्मरणम्? पूर्वस्मिन् पक्षे निर्विशेषणो वा हेतुरपौरुषेयत्वप्रतिपादकः, कर्त्रस्मरणविशिष्टो वा? निर्विशेषणस्य निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् । किंच, किं यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, उत अन्यथाभूतानाम्? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथान्यथाभूतानां तदा सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतानामेव साधयति न च सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येन अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनेदृशत्वात्; स्यादेतद् यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादनेऽप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात्, यावता गुणवद्वक्तुरभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोदितत्वात् सापवादं प्रामाण्यमित्युक्तम् । तथाभूतां च प्रेरणामतीन्द्रियदर्शनशक्तिविकला अपि कर्तुं समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात्? अथ न गुणवद्वक्तृकृतत्वेन चोदनाया अप्रामाण्यनिवृत्तिः किन्त्वपौरुषेयत्वेन, ततो नायं दोषः; ननु कुतः पुनरपौरुषेयत्वं चोदनाया अवगतम्? यद्यन्यतोऽनुमानात् तदा तत एवापौरुषेयत्वसिद्धेर्व्यर्थं प्रकृतमनुमानम् । अत एवानुमानाच्चेत्, नन्वतोऽनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणाया अप्रामाण्याभावः, तदभावाच्च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषसङ्गावः । अतः स्थितमेतत्–तथाभूतानां तथाभूताध्ययनसाधने सिद्धसाधनम्; तच्च निर्विशेषणो हेतुः प्राक्तनोऽपौरुषेयत्वं साधयति । अथ सविशेषणो हेतुः पूर्वोक्तः प्रकृतसाध्यगमकस्तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद् विशेष्योपादानमनर्थकम् ।

भवतु विशेषणस्यैव गमकत्वं सर्वथा अपौरुषेयत्वसिद्ध्या नः प्रयोजनमिति चेत्, असदेतत्; यतः कर्त्रस्मरणं विशेषणं किमभावाख्यं प्रमाणम्, अर्थापत्तिः, अनुमानं वा? यद्यभावाख्यमिति पक्षः, स न युक्तः; अभावप्रमाणस्य प्रामाण्याभावात् । किंच, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिबन्धना अस्य प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते भवता "प्रमाणपञ्चकं यत्र" [श्लो० वा० सू० ५, अभाव० श्लो० १] इत्याद्यभिधानात्, न च प्रमाणपञ्चकस्य वेदे पुरुषसद्भावाऽऽवेदकस्य निवृत्तिः, नररचितरचनाऽविशिष्टत्वस्य पौरुषेयत्वप्रतिपादकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात् । न चास्याऽप्रामाण्यमभिधातुं शक्यम्, यतोऽस्याऽप्रामाण्यं किम् अभावप्रमाणबाधितत्वेन, उत स्वसाध्याविनाभावित्वाभावेन? तत्र न तावदभावप्रमाणबाधितत्वेन, चक्रकदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—न यावदभावप्रमाणप्रवृत्तिर्न तावत् प्रस्तुतानुमानबाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत् सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिः, यावच्च न तस्य निवृत्तिर्न तावत् तन्निबन्धना अभावाख्यप्रमाणप्रवृत्तिः, तदप्रवृत्तौ च नानुमानबाधेति दुरुत्तरं चक्रकम्; तन्नाभावप्रमाणबाधितत्वात् प्रस्तुतानुमानस्याप्रामाण्यम् । न चाबाधितत्वमनुमानप्रामाण्यनिबन्धनम्—तथाऽभ्युपगमे तस्य प्रामाण्यमेव न स्यात्; तस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् । तथाहि—बाधाऽभावो नानुपलम्भान्निश्चीयते, विद्यमानबाधकेष्वपि बाधानुपलम्भस्य भावात् । नापि बाधकाभावज्ञानात्, यतस्तदपि ज्ञानं यदि तदैव बाधकाभावं निश्चाययति तदा न तत् प्रामाण्यनिबन्धनम्; तथाभूतज्ञानस्य संभवद्बाधकेष्वपि भावात् । अथ सर्वदा तद् बाधकाभावं निश्चाययति, तदसत्; 'न पूर्वं बाधकमत्र प्रवृत्तम्, नाप्युत्तरकाले प्रवर्त्तिष्यते' इत्येवंभूतस्य ज्ञानस्यार्वाग्दृशामभावात्; भावे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वाद् न 'प्रेरणैव धर्मे प्रमाणम्' इत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन तद्विषयतत्प्रामाण्यावधारणोपपत्तिः स्यात्—किन्तु निश्चितस्वसाध्याविनाभूतलिङ्गप्रभवत्वम् । स्वसाध्याविनाभावनिश्चायकं च प्रकृतस्य हेतोः पौरुषेयत्वेन कार्यकारणभावनिश्चायकम्, तदेव च स्वसाध्यविपर्यये तस्य सद्भावबाधकम्, तस्य च प्रकृते हेतौ सत्त्वेन दर्शितत्वाद् न तत्प्रभवस्यानुमानस्याप्रामाण्यम्; अत एव स्वसाध्याविनाभावित्वाभावेन तस्य अप्रामाण्यम् इति द्वितीयोऽपि पक्षो न युक्तः; तन्नाभावाख्यं कर्त्रस्मरणलक्षणं प्रमाणम् अपौरुषेयत्वसाधकम्, नापि पौरुषेयत्वबाधकम् । अथ अर्थापत्तिः कर्त्रस्मरणम्, तदप्यसङ्गतम्; अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्; तद्दूषणेऽस्य पक्षस्य दूषितत्वात् । अथानुमानम्, तदप्यसङ्गतम्; 'अपौरुषेयो वेदः कर्त्रस्मरणात्' इत्येवंप्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात् । अथ 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति हेतुप्रयोगान्न व्यधिकरणत्वदोषस्तर्हि अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं भारतादिषु निश्चितकर्तृकेष्वपि विद्यत इत्यनै-

1 'अध्ययनम्' इति शेषः। 2 पृ० ११ पं० २२। 3 पृ० ३९ पं० ३५। 4 संभवाद् बाधके-भां०, मां०, मु०। 5-कृतहेतौ भां०, मां०, श०। 6 पृ० ४० पं० १३।
स० त० ६

कान्तिकत्वम्। अथ आगमान्तरे परैः कर्तुः स्मरणात् ततो व्यावृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपौरुषेयत्वेन व्याप्यत इति नानैकान्तिकत्वम्, न; परकीयस्य कर्तुः स्मरणस्य भवता प्रमाणत्वेनानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा परैर्वेदेऽपि कर्तुः स्मरणात् 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति प्रतिवाद्यसिद्धो भवन् भवतोऽप्यसिद्धः स्यात्। अथ वेदे सविगानं कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेः कर्तृस्मरणमसत्यम्। तथाहि–
५ केचिद् हिरण्यगर्भम्, अपरेऽष्टकादीन् वेदस्य कर्तॄन् स्मरन्तीति कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिः। नन्वेवं कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवासत्यं स्यात् तत्र, न कर्तृमात्रस्मरणम्; अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेः कर्तृमात्रस्मरणस्यासत्यत्वेन तत्राप्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य सद्भावात् पुनरप्यनैकान्तिकत्वं प्रकृतहेतोः। अथ वेदे कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिरिति तत्र कर्तृस्मरणमसत्यम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तिर्न कर्तृमात्रे, तेन तत्र कर्तुः
१० स्मरणस्य विरुद्धस्य सत्यत्वाद् नास्मर्यमाणकर्तृकत्वं तेषु वर्त्तत इति नानैकान्तिकत्वम्। ननु 'वेदे सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः' इत्येवं कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्तेर्यदि कर्तृस्मरणं मिथ्या तदा कर्तृस्मरणवद् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमप्यसत्यं स्यात्, विप्रतिपत्तेरविशेषात्; तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतुः। एतेन 'सत्यम्, वेदे कर्तृस्मरणमस्ति न त्वविगीतं, यथा भारतादिषु' इति निरस्तम्। यदप्युक्तम् 'तथा छिन्नमूलं च वेदे कर्तृस्मरणम्। तस्यानुभवो मूलम्, न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन
१५ विद्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्; यतः किं प्रत्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलत्वम्, उत प्रमाणान्तरेण? तत्र यदि प्रत्यक्षेणेति पक्षस्तदा वक्तव्यम्—किं भवत्सम्बन्धिना प्रत्यक्षेण तत्र तदनुभवाभावः, उत सर्वसम्बन्धिना तत्र तदनुभवाभावः? यदि भवत्संबन्धिना, तदाऽऽगमान्तरेऽपि तत्कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावादनैकान्तिकः पुनरपि हेतुः। अथ सर्वसंबन्धिना प्रत्यक्षेणाननुभवः, असावसिद्धः; न ह्यर्वाग्दृशा
२० 'सर्वेषामत्र तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवृत्तिमत्' इति निश्चेतुं शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वासिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। अथ प्रमाणान्तरेण तदनुभवाभावः तत्रापि वक्तव्यम्—आगमलक्षणं किं तत् प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते, उत अनुमानस्वरूपम् अपरस्य प्रामाण्यासम्भवात्? तत्र यद्यागमलक्षणेन तदननुभव इति पक्षः, स न युक्तः; "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८, मं० १०, सू० १२१] इत्यादेरागमस्य तत्र तत्सद्भावाऽऽवेदकस्य संभ-
२५ वात्। न च मन्त्रार्थवादानां स्वरूपार्थे प्रामाण्याभाव इति वक्तुं शक्यम्, यतो मन्त्रार्थवादानां स्वाभिधेयप्रतिपादनद्वारेण कार्यार्थोपयोगिता; तेषां तत्राप्रामाण्ये विध्यर्थाङ्गताऽपि न स्यात्। अथानुमानेन तत्र तदननुभवः, सोऽपि न युक्तः; अनुमानेन तत्र तदनुभवस्य प्रतिपादितत्वात्। अथानुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं यद्यस्माभिर्हेतुत्वेनोच्येत तदा पूर्वोक्तप्रकारेणासिद्धत्वाऽनैकान्तिकत्वे स्याताम्, न तु तत्कर्त्रनुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः किन्तु तदभावपूर्वकम्।
३० नन्वत्रापि यदि तदभावः प्रमाणान्तरात् सिद्धस्तदाऽस्यानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न च तदभावप्रतिपादकमन्यत् प्रमाणमस्तीत्युक्तम्। अस्मादेव अनुमानात् तदभावसिद्धिस्तदाऽतोऽनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिध्यति, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानात् तदभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषात् तदवस्थं सविशेषणस्याप्यस्य हेतोरसिद्धत्वम्। अथ मतं यत्र सिद्धकर्तृकेषु भावेष्वस्मर्यमाणकर्तृकत्वं तत्र कर्तुः स्मरणयोग्यता नास्तीति निर्विशेषणस्यानैकान्तिकत्वम्; वैदि-
३५ कीनां तु रचनानां सति पौरुषेयत्वेऽवश्यं पुरुषस्य कर्तुः तदर्थानुष्ठानसमयेऽनुष्ठातृणा स्मरणं स्यात्, ते हि अदृष्टफलेषु कर्मस्वेवं निर्विचिकित्साः प्रवर्त्तन्ते यदि तेषां तद्विषयः सत्यत्वनिश्चयः, तस्याप्येवंभावो यदि तदुपदेष्टुः स्मरणम्, यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात् स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात् प्रवर्त्तन्ते-पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनानुष्ठीयते—एवं वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु तत्र स्मरणं स्यात्; न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातृणां त्रैवर्णिकानां कर्तुः स्मरणमस्ति, अतः स्मरण-
४० योग्यस्य कर्तुरस्मरणात् अपौरुषेयो वेदः; एवं चायं हेत्वर्थः-कर्तुः स्मरणयोग्यत्वेऽपि सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् अपौरुषेयो वेदः। न चैवंविधस्य हेतोः सिद्धकर्तृकेषु भावेषु वृत्तिः, अतो नानैकान्तिकः; यत्र पौरुषेयत्वं तत्र सविशेषणो हेतुर्न संभवतीति विरुद्धत्वमपि न विद्यते, विपक्षे वर्त्तमानः

---

१ पृ० ४० पं० ११। २ पृ० ४० पं० ११। ३ स्वरूपेऽर्थे भां०। ४ पृ० ३९ पं० १५। ५ पृ० ३९ पं० १८–पृ० ३१ पं० ९। ६ "ब्राह्मण-वैश्य-क्षत्रियाणाम्" बृ०, भा० टि०।

सपक्षेऽसन् विरुद्ध उच्यते, अस्य तु सविशेषणस्य प्रसिद्धपौरुषेये वस्तुन्यप्रवृत्तिः, नापि सपक्षे
आकाशादौ असत्त्वम्; अतः परिशुद्धान्वय-व्यतिरेकहेतुसद्भावात् कर्तृस्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्य-
माणकर्तृकत्वात् अपौरुषेयो वेदः सिध्यति} तदप्यसंबद्धम्; आगमान्तरेऽपि 'कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे
सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इत्यस्य हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाभावेन सद्भावसंभवात् संदिग्धवि-
पक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकत्वस्य तदवस्थत्वात् । किंच, विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं विपक्षाद् ५
व्यावर्त्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्त्तत इति युक्तम्, न च पौरुषेयत्वेन सह कर्तुः स्मरणयोग्यत्वस्य
सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितलक्षणो वा विरोधः सिद्धः; सिद्धौ वा तत एव साध्य-
सिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम् । यदप्युक्तम् 'तदर्थानुष्ठानसमयेऽवश्यं-
तया त्रैवर्णिकानामनिश्चिततत्प्रामाण्यानामप्रवृत्तिप्रसङ्गात् सति कर्तरि तत्स्मरणं स्यात्, न
चाभियुक्तानामपि तदस्ति' इति, तद् आगमान्तरेऽपि समानं नवेति चिन्त्यतां स्वयमेव । न चायं १०
नियमः—अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते, न हि पाणिन्यादि-
प्रणीतव्याकरणप्रतिपादितशब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदनुष्ठातारोऽवश्यंतया व्याकरणप्रणेतारं
पाणिन्यादिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्त इति दृष्टम्; निश्चिततत्समयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाप्यविल-
म्बेन 'भवति' आदिसाधुशब्दोच्चारणदर्शनात् । तत् स्थितमेतत्—सविशेषणस्यापि 'अस्मर्यमाणकर्तृ-
कत्वात्' इति हेतोर्वादिसंबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वम्, प्रतिवादिसंबन्धिनोऽसिद्धत्वम्, सर्वसंब- १५
न्धिनोऽपि तदेवेति नास्माद्धेतोरपौरुषेयत्वसिद्धिः । अतोऽपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्छासन-
स्यापौरुषेयत्वासम्भवे यदि सर्वज्ञप्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते तदा प्रामाण्यमपि न स्यात्; तथा च
'धर्मे प्रेरणा प्रमाणमेव' इत्ययोगव्यवच्छेदेनावधारणमनुपपन्नम् । अथ प्रेरणाप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं सर्वज्ञः
प्रेरणाप्रणेताऽभ्युपगम्यते तदा "चोदनैव च भूतम्, भवन्तम्, भविष्यन्तम्, सूक्ष्मम्, व्यवहितम्—
एवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्" इत्याद्यभिधानमसङ्गतं प्राप्नोतीत्युभ- २०
यतः पाशारज्जुर्मीमांसकस्य । तत् स्थितमेतद् आचार्येण मीमांसकापेक्षया प्रसङ्गसाधनमेतदुपन्य-
स्तम्-यदि सिद्धं शासनमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तदा जिनानां तत्-जिनप्रणीतम्-अभ्युपगन्तव्यमिति ॥

[सर्वज्ञवादः]

[पूर्वपक्षः—सर्वज्ञसत्तानिरसनम्]

अथ भवतु प्रेरणाप्रामाण्यवादिनां मीमांसकानामेतत् प्रसङ्गसाधनम्, ये तु तदप्रामाण्यवादि- २५
नश्चार्वाकास्तान् प्रति, स्वप्रतिपत्तौ वा भवतः किं प्रमाणम्? न च प्रमाणाविषयस्य सद्व्यवहार-
विषयत्वं युक्तम् । तथाहि—ये देश-काल-स्वभावविप्रकर्षवन्तः सदुपलम्भकप्रमाणविषयभावमना-
पन्ना भावा न ते प्रेक्षावतां सद्व्यवहारपथावतारिणः, यथा नाकपृष्ठादयस्तथात्वेनाभ्युपगमवि-
षयाः, तथा च समस्तवस्तुविस्तारव्यापिज्ञानसंपत्समन्वितः पुरुष इति सद्व्यवहारप्रतिषेधफलाऽ-
नुपलब्धिः । न चासिद्धो हेतुः । तथाहि—सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानाङ्गनालिङ्गितः पुरुषः ३०
प्रत्यक्षसमधिगम्यो वा अभ्युपगम्येत, अनुमानादिसंवेद्यो वा? न तावदध्यक्षगोचरः, प्रतिनियत-
संनिहितरूपादिविषयनियमितसाक्षात्करणस्वभावा हि चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभा
ज्ञप्तयो न परस्थं संवेदनमात्रमपि तावदालम्बितुं क्षमाः किमङ्ग ! पुनरनाद्यनन्तातीताऽनागत-
वर्त्तमान-सूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनविशेषम्, तदध्यासितं वा पुरुषम् अवि-
षये चक्षुरादिकरणप्रवर्त्तितस्य ज्ञानस्य प्रवृत्त्यसम्भवात्? सम्भवे वाऽन्यतमकरणप्रवर्त्तितस्यापि ३५
ज्ञानस्य रूपादिसकलविषयग्राहकत्वेन संभवात् शेषेन्द्रियपरिकल्पना व्यर्था । न च सूक्ष्मादिसम-
स्तपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तद्ग्राहकत्वस्यापि
तद्गतस्य तेनाग्रहणात् । तदग्रहे च तद्धर्माध्यासितसंवेदनसमन्वितस्यापि न प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः ।
नाप्यनुमानतः सकलपदार्थज्ञप्रतिपत्तिः, अनुमानं हि निश्चितस्वसाध्यधर्म-धर्मिसंबन्धाद् हेतोरु-
दयमासादयत् प्रमाणतामाप्नोति, प्रतिबन्धश्च समस्तपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण ४०

---

१ पृ० ४२ पं० ३५ । २-व्यविलम्बित 'भवति'-वा०, पू०, बा०, शु० । ३ सूक्ष्ममव्यवहित—भां०, कां०, गु० । ४ "चोदना हि भूतम्, भवन्तम्, भविष्यन्तम्, सूक्ष्मम्, व्यवहितम्, विप्रकृष्टम्-इत्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितु नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्"-मीमां० शाब० सू० १, पृ० ३, पं० १२ ।

गृह्यते, उतानुमानेन ? न तावदध्यक्षेण, अध्यक्षस्यात्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तदवगतिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेऽप्यक्षमत्वात्; न ह्यनवगतसंबन्धिना तद्गतसंबन्धावगमो विधातुं शक्यः । नाप्यनुमानेन तद्गतसंबन्धावगमः, तथाभ्युपगमेऽनवस्थे–तरेतराश्रयदोषद्वयानतिवृत्तेः । न चाऽगृहीतप्रतिबन्धाद्धेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणतामासादयति । तथा, धर्मिसंबन्धावगमोऽपि न प्रत्यक्षतः, अनक्षज्ञानवत्प्रत्यक्षेऽक्षप्रभवस्याध्यक्षस्याप्रवृत्तेः; प्रवृत्तौ वाऽध्यक्षेणैव सर्वविदः संवेदनाद् अनुमाननिबन्धनहेतुव्यापारणं व्यर्थम् । न चानुमानतोऽप्यनक्षज्ञानवतोऽवगमः, हेतुपक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैव धर्मिग्राहकस्याप्रवृत्तेः; न चाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्तिहेतुरिति नानुमानतोऽपि सर्वज्ञप्रतिपत्तिः । किंच, सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते असिद्ध–विरुद्धाऽनैकान्तिकलक्षणाम् । तथाहि—सकलज्ञसत्त्वे साध्ये किं भावधर्मो हेतुः, उताभावधर्मः, आहोस्विदुभयधर्मः ? तत्र यदि भावधर्मस्तदाऽसिद्धः । अथाभावधर्मस्तदा विरुद्धः, भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । अथोभयधर्मस्तदोभयाव्यभिचारित्वेन सत्तासाधनेऽनैकान्तिकत्वमिति न सकलज्ञसत्त्वसाधने कश्चित् सम्यग् हेतुः सम्भवति । अपि च, यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतस्तदा तत्कृतमप्रतिनियतागमाश्रयणं नोपपन्नं भवताम् । अथ प्रतिनियत एक एवार्हन् सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते तदा तत्साधने प्रयुक्तस्य हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन, दृष्टान्तानुवृत्त्यसंभवादसाधारणानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम् । किंच, यत एव हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञस्तत एव बुद्धोऽपि स स्यादिति कुतः प्रतिनियतसर्वज्ञप्रणीतागमाश्रयणमुपपत्तिमत् ? इति न कश्चित् सर्वज्ञसाधको हेतुः । अथ सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् अग्न्यादिवदिति तत्साधनहेतुसद्भावः, तदसत्; यतोऽत्र किं सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सर्वपदार्थानां साध्यत्वेनाऽऽभिप्रेतम्, आहोस्विद् प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वमिति कल्पनाद्वयम् । यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वलक्षणस्य हेतोरुपलम्भाद् हेतुविरुद्धत्व–साध्यविकलदृष्टान्तदोषद्वयाघातत्वात् । अथ द्वितीयः, सोऽप्यसङ्गतः; सिद्धसाध्यतादोषप्रसङ्गात् । तथा, प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, उत अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपम्, आहोस्विद् उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावम् इति विकल्पाः । तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; विवादाध्यासितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्; सिद्धत्वे वा साध्यस्यापि हेतुवत् सिद्धत्वाद् व्यर्थं हेतूपादानम्, तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽग्न्यादिलक्षणेऽसिद्धेः संदिग्धान्वयश्च हेतुः स्यात् । अथ अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वं हेतुस्तदा तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरेष्वतीन्द्रियेष्वसंभवादसिद्धो हेतुः; सिद्धौ वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात् तत्र चाविवाद इति न हेतूपन्यासः सफलः । अथोभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुरिति पक्षः, सोऽप्यसङ्गतः; अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रिय–इन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणस्य सामान्यस्यासम्भवात्, न हि शावलेय–कर्कव्यक्तिद्वयसाधारणमेकं गोत्वसामान्यमुपलब्धमिति प्रमेयत्वसामान्यलक्षणो हेतुरसिद्ध इति नानुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः । नापि शब्दात्; यतः शब्दोऽपि तत्प्रतिपादकोऽभ्युपगम्यमानः किं नित्यः, उतानित्य इति कल्पनाद्वयम् । न तावद् नित्यः, सर्वज्ञबोधकस्य नित्यस्याऽऽगमस्याभावात्, भावेऽपि तत्प्रतिपादकत्वेन तस्य प्रामाण्यासम्भवात्, कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथानित्यस्तत्प्रतिपादक इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; यतोऽनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः स तदवबोधकः, अथ पुरुषान्तरप्रणीत इति विकल्पद्वयम् । तत्र न सर्वज्ञप्रणीतः स तदवबोधक इति पक्षो युक्तः, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—तत्प्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततः तस्य तत्प्रतिपादकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । नापि पुरुषान्तरप्रणीतस्तदवबोधकः, तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रमाणत्वात्, तन्न शब्दादपि तस्य सिद्धिः । नाप्युपमानात् तत्सिद्धिः, यत उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनं तदभ्युपगम्यते, न चोपमानभूतः कश्चित् सर्वज्ञत्वेन प्रत्यक्षतः सिद्धो येन तत्सादृश्यादन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात् साध्यते, सिद्धौ वा प्रत्यक्षत एव सर्व-

१ प्रमेयकमलमार्तण्डे तु "सर्वज्ञत्वे साध्ये भावधर्मो हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उभयधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽसिद्ध, भावे असिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धिविरोधात्"–पृ० ६८ पं० १५ । २ साध्यत्वेनाऽभि–मा० । ३ कर्क-श्वेतोऽश्व. ।

श्य सिद्धत्वाच्चोपमानादपि तत्सिद्धिः । सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्य कस्यचिदभावात् नार्थापत्तेरपि सर्वज्ञसत्त्वसिद्धिः । न चागमप्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानस्य तत्परिकल्पकत्वम्, अतीन्द्रिये स्वर्गाद्यर्थे तत्प्रणीतत्वनिश्चयमन्तरेण तस्य प्रामाण्यानिश्चयात्, अपौरुषेयत्वादपि तत्प्रामाण्यसंभवात् कुतस्तस्य तमन्तरेणानुपपद्यमानता? तन्नार्थापत्तितोऽपि तत्सिद्धिः । अभावाख्यस्य तु प्रमाणस्याभावसाधकत्वेन व्यापाराद् न तत्सद्भावसाधकत्वम् । न चोपमानाऽर्थापत्त्य-भावप्रमाणानां भवता प्रामाण्यमभ्युपगम्यते इति न तेभ्यस्तत्सिद्धिः । तदुक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।
न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते ॥
न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् ।
नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम्?॥" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११७-११९-११८]

ततो 'ये' देश-काल-' इत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुः । सद्व्यवहारनिषेधश्च अनुपलम्भमात्रनिमित्तः अनेकधाऽनेन अन्यत्र प्रवर्तित इति अत्रापि तन्निमित्तसद्भावात् प्रवर्त्तयितुं युक्तः ।

{अथ 'यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभावाऽऽवेदकमपि नास्तीति सद्व्यवहारवदभावव्यवहारोऽपि न प्रवर्त्तयितव्यः । तथाहि–सर्वविदोऽभावः किं प्रत्यक्षसमधिगम्यः, प्रमाणान्तरगम्यो वा? तत्र न तावत् प्रत्यक्षसमधिगम्यः' यतः प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावाऽऽवेदकमभ्युपगम्यमानं 'किं सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न' इत्येवं प्रवर्त्तते, उत 'क्वचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो नास्ति' इत्येवम् इति कल्पनाद्वयम् । तत्र यदि 'सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न' इति प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिस्तर्हि न सर्वज्ञाभावः, तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वात्; नहि सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण तदाधारमसर्वज्ञत्वमवगन्तुं शक्यम्, तत्साक्षात्करणे च कथं न तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वम्? इति नाद्यः पक्षः । द्वितीयेऽपि पक्षे न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति न प्रत्यक्षात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः । अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकं किंतु निवर्त्तमानम्, ननु यदि निखिलदेश-कालाधारसकलपुरुषपरिषदाश्रितानन्तपदार्थसंविद्व्यापकम् कारणं वा तत् स्यात् तदा तन्निवर्त्तमानं तथाभूतं सर्वज्ञत्वं व्यावर्त्तयेद् नान्यथा, अतथाभूतनिवृत्तौ तन्निवृत्तेरसिद्धेः, तथाऽभ्युपगमे वा स एव सर्वज्ञ इति न तेन तन्निषेधः । किंच, प्रत्यक्षनिवृत्तिर्यदि प्रत्यक्षमेव तदा स एव दोषः । अथ प्रत्यक्षादन्या तदाऽसौ प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? अप्रमाणत्वे नातः सर्वज्ञाभावसिद्धिः । प्रमाणत्वे नानुमानत्वम्, सर्वाऽऽत्मसंबन्धिन्यास्तन्निवृत्तेर्यथासङ्ख्यमसिद्धाऽनैकान्तिकत्वदोषद्वयसद्भावात् । न च तुच्छा तन्निवृत्तिस्तदभावज्ञापिका, तुच्छायाः केनचिद् सह प्रतिबन्धाभावेन सर्वसामर्थ्यविरहेण च ज्ञापकत्वासम्भवात् । तन्न प्रवर्त्तमानम्, निवर्त्तमानं वा प्रत्यक्षं तदभावं साधयति । प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि तदभावो न तावदनुमानगम्यः, तदभावसाधकानुमानाभावात् । अथ 'विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इत्यनुमानं तदभावसाधकम्, नन्वत्र किं प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, उत तद्विपरीतस्य, आहोस्वित् वक्तृत्वमात्रमिति वक्तव्यम् । यदि 'प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा विरुद्धो हेतुः, तथाभूतवक्तृत्वस्य सर्वज्ञे एव भावात् । अथ 'प्रमाणान्तरविसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वात्' इति हेतुस्तदा सिद्धसाधनम्, तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरप्यभ्युपगमात् । अथ वक्तृत्वमात्रं हेतुः, न; तस्य साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सहानवस्थानलक्षणस्य, तदव्यवच्छेदस्वभावेन च परस्परपरिहारस्वरूपस्य च विरोधस्याभावाद् न ततो व्यावृत्तिसिद्धिरिति न स्वसाध्यनियतत्वम्, तदभावान्न स्वसाध्यसाधकत्वम् । अथ सर्वज्ञो वक्ता नोपलब्ध इति ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, न; सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासंभवात्–सर्वज्ञ एव वक्तृत्वमा-

१ पृ० ४१ पं० २६ । २ तथाभूत भा०, मा० ।

स्यन्युपलप्स्यते सर्वज्ञान्तरेण वा तत् तत्र संवेदिष्यते इति न सम्भवः सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य । अथ सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभवः; ननु सर्वज्ञाभावः कुतः सिद्धः? अन्यतः प्रमाणात् चेत्, तत एव तदभावसिद्धेरस्य वैयर्थ्यम् । 'अत एवानुमानात्' इति न वक्तव्यम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्—सिद्धेऽतोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावे सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसं-
५ भवसामर्थ्याद् हेतोर्विपक्षतो व्यावृत्तिः स्यात्, तस्य च विपक्षाद् व्यावृत्तस्य तत्साधकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । भवतु वा सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भसंभवस्तथापि सकलपुरुषचेतोवृत्तिविशेषाणामसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्तेरसिद्धः सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भ इति न ततो विपक्षव्यावृत्तिनिश्चयो वक्तृत्वस्येति कुतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकाद् हेतोस्तदभावसिद्धिः? नापि स्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भात् तद्व्यतिरेकनिश्चयः, तस्य स्वपितृव्यपदेशहेतुनाऽप्यनैकान्तिकत्वात् । न चैवंभूतादपि हेतोः साध्यसिद्धिः,
१० तथाऽभ्युपगमे 'न कश्चित् सर्वज्ञाभावमवबुध्यते, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवत्' इति तदभावावगमाभावस्यापि सिद्धिः स्यात् । अथान्यत्रापि हेतावयं दोषः समान इति सर्वानुमानोच्छेदः, तदयुक्तम्; अन्यत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण बाधकप्रमाणस्य सद्भावात् । न चात्रापि तस्य सद्भाव इति शक्यं वक्तुम्, तदभावस्य हेतुलक्षणप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात् । किंच, सर्वज्ञप्रतिपादकप्रमाणाभावे तस्यासिद्धत्वात् तदभावसाधनायोपन्यस्यमानः सर्वोऽपि हेतुराश्रयासिद्ध इति
१५ न तस्मादभावसिद्धिः । अथ तद्ग्राहकत्वेन प्रमाणं प्रवर्त्तत इत्याश्रयासिद्धत्वाभावस्तर्हि तत्साधकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य न तत्साधनाय हेतुप्रयोगसाफल्यमिति नानुमानावसेयः सर्वज्ञाभावः । अपौरुषेयत्वस्य प्राक्तनन्यायेनासिद्धत्वात् सर्वज्ञप्रणीतत्वानभ्युपगमे शब्दस्य पुरुषदोषसंक्रान्त्याऽप्रामाण्याद् न ततोऽपि तदभावसिद्धिः । न च तदभावाभिधायकं किञ्चिद् वेदवाक्यं श्रूयते, केवलं तद्भावाऽऽवेदकवेदवचनोपलब्धिरविगानेन समस्ति—

२० "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" ॥ [श्वेताश्वत० ३-१९]

तथा हिरण्यगर्भं प्रकृत्य "सर्वज्ञः" [ ] इत्यादि । न च स्वरूपेऽर्थे तस्याप्रामाण्यम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्; तन्न शब्दादपि तदभावसिद्धिः । नाप्युपमानात् तदभा-
२५ वावगमः, यत उपमानमुपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बनमुदेति, अन्यथा—

"तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, उपमान० श्लो० ३७]

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षेणोपमानोपमेययोरग्रहणे उपमेयस्मरणासंभवात् कथं स्मर्यमाणपदार्थविशिष्टं
३० सादृश्यम् सादृश्यविशिष्टं वा स्मर्यमाणं वस्तु उपमानविषयः स्यात्? तस्मादिदानींतनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम्, उपमेयाशेषान्यकालमनुष्यवर्गसाक्षात्करणं चावश्यमभ्युपगमनीयम्; तदभ्युपगमे च स एव सर्वज्ञ इति कथं उपमानात् तदभावावगमो युक्तः? अतो यदुक्तम्—

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११३],

३५ तन्निरस्तम् । उपमानस्योक्तन्यायेनात्र वस्तुन्यप्रवृत्तेः । नाप्यर्थापत्तितस्तदभावावगमः, तस्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि—"दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः" [मीमां० शाबर० सू० ५, पृ० ८, पं० १७] न चासावर्थोऽन्यथानुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम्—अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत् येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्—अनवगतस्य अन्यथाऽनुपपन्नत्वेन अर्थापत्युत्थाप-
४० कस्यार्थस्य अन्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासंभवात्, संभवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति तदपि मार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद् भिद्येत । स चान्यथाऽनु-

१ अनुपलम्भस्य सर्व—आत्मसंबन्धिरूपपूर्वोक्तविकल्पद्वयद्वारा विपक्षव्यावृत्तसाधकत्वे संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वरूपो दोषः । २ -मेये स्मर-भां० । ३ प्र० पृ० प० २४ । ४ नास्त्यसावर्थो- वा० ।

पपद्यमानत्वावगमस्तस्यार्थस्य न भूयोदर्शननिमित्तः सपक्षे, अन्यथा 'लोहलेख्यं वज्रम्, पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ—व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्—किन्तु विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः; तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत् तस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतं न ताव- ५ दर्थापत्तिप्रवृत्तिः, यावच्च न तत्प्रवृत्तिर्न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः । अत एव यदुक्तम्—

"अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं सत्यप्येषा न कारणम् ॥
तेन संबन्धवेलायां संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् । १०
अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः पश्चादस्त्वनुमानता" ॥ [श्लो० वा० सू० ५, अर्थापत्ति० श्लो० ३०-३२] इत्यादि,

तन्निरस्तम्; एवमभ्युपगमेऽर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः, आहोस्वित् स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्य इति ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽत्रापि वक्तव्यम्—किं तत् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यध- १५ र्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव ? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न कश्चिद् विशेषः । अथ द्वितीयः, स न युक्तः; नहि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । न च तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणवशात् सर्वोपसंहारेण २० स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तात् प्रमाणात् सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इति लिङ्गाऽर्थापत्त्युत्थापकयोर्भेदः । नासाद् भेदादर्थापत्तेरनुमानं भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्ययाद्धेतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात् कथं तत्र प्रवर्त्तमानं बाधकं २५ प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियतत्वमवगमयेत् सत्त्वस्य । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य च यथाक्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगन्तुं युक्तः, अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानात् तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत । नियमवतो लिङ्गात् परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषाद् 'न ततस्तद् भिन्नम्' इत्यभ्युपगमे स्वसाध्याविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनु- ३० मानादर्थापत्तेः कथं नाभेदः ? तदेवं प्रमाणत्वेऽर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् अनुमानस्य च सर्वज्ञाभावप्रतिपादकस्य निषेधात् तन्निषेधे चार्थापत्तेरपि तदभावग्राहकत्वेन निषेधान्नार्थापत्तिसमधिगम्योऽपि सर्वज्ञाभावः । अभावाख्यं तु प्रमाणमप्रमाणत्वादेव न तदभावसाधकम्; प्रमाणत्वेऽपि किमात्मनोऽपरिणामलक्षणं तत्, आहोस्विदन्यवस्तुविज्ञानलक्षणमिति ? तत्र यद्यात्मनोऽपरिणामलक्षणं तदभावसाधकमिति पक्षः, स न युक्तः; तस्य सत्त्वेनाभ्युपगते परचेतोवृत्तिविशेषेऽपि सद्भा- ३५ वेनानैकान्तिकत्वात् । अथान्यविज्ञानलक्षणमिति पक्षः, सोऽप्यसंबद्धः; यतः सर्वज्ञत्वादन्यद् यदि किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किं सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वम् अभ्युपगम्यते, आहोस्वित् कतिपयपुरुषव्यक्तिसमाश्रितमिति ? तत्र यदि समस्तदेशकालाश्रितपुरुषाधारं किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तत् सर्वज्ञाभावप्रसाधकम्, तदयुक्तम्; सकलदेश-कालव्यवस्थितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणव्यतिरेकेण तदाधारस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य विषयी- ४० कर्तुमशक्तेर्न तद्विषयस्य तदन्यज्ञानस्य सर्वज्ञाभावावगमनिमित्तत्वं युक्तम्; सर्वदेश-कालव्यवस्थि-

१ पृ० २१ पं० २१ । २ संबन्धान्यतरो कां०, गु० । ३ प्र० पृ० पं० ७ । ४—त्मकनिय-गु० ।
५ पृ० ४५ पं० ३३ ।

ताशेषपुरुषसाक्षात्करणे च स एव सर्वदर्शी इति न तदभावाभ्युपगमः श्रेयान्। अथ कतिपय-
पुरुषव्यक्तिव्यवस्थितं किञ्चिज्ज्ञत्वं तदन्यत् तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं सर्वज्ञाभावावेदकम्, तदप्य-
युक्तम्, तज्ज्ञानात् तदभावावगमे कतिपयपुरुषव्यक्तिव्यवस्थितस्यैव सर्वज्ञत्वस्याभावः सिध्येत्, न
सर्वत्र सर्वदा सर्वपुरुषेषु, तथा च सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि कुत्रचित् कस्यचिद् रथ्यापुरुषादेर-
५ सर्वज्ञत्वेनाभ्युपगमात्। अथ सर्वज्ञत्वादन्यस्तदभावस्तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानं तदाऽत्रापि किं
'सर्वदा सर्वत्र सर्वः सर्वज्ञो न' इत्येवं तत् प्रवर्त्तते, उत 'कुत्रचित् कदाचित् कश्चित् सर्वज्ञो न'
इत्येवम्? तत्र नाद्यः पक्षः, सकलदेश-कालपुरुषासाक्षात्करणे तदाधारस्य तदभावस्यावगन्तुम-
शक्यत्वात् प्रदेशाप्रत्यक्षीकरणे तदाधारस्य घटाभावस्येव, तत्साक्षात्करणे च तदेव सर्वज्ञत्वम्
इति न तदभावसिद्धिः। अथ द्वितीयः पक्षस्तदा न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति तदेव सिद्ध-
१० साधनम्। 'प्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तदभावज्ञानम्' इत्यादि सर्वं प्रतिविहितमिति नाभावप्रमाणादपि
तदभावावगमोऽभ्युपगन्तुं युक्तः} इत्यादि यत् तदप्यविदितपराभिप्रायस्य सर्वज्ञवादिनोऽभिधानम्।

यतो नास्माकम् 'अतीन्द्रियसर्वज्ञादिपदार्थबाधकं प्रत्यक्षादिप्रमाणं स्वतन्त्रं प्रवर्त्तते' इत्य-
भ्युपगमः—अतीन्द्रियेषु स्वतन्त्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य भवदभिहितप्राक्तनदोषदुष्टत्वेन प्रवृत्त्यसं-
भवात्—किन्तु प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितं यथा-
१५ र्थमभिधानमुद्वहद्भिर्मीमांसकैः। अत एव तदभिप्रायप्रकाशनपरं भगवतो जैमिनेः सूत्रम्—"सत्स-
म्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [जैमि० सू० १-१-४] इति, यतो नानेनापि
सूत्रेण स्वातन्त्र्येण प्रत्यक्षलक्षणमभ्यधायि भगवता किन्तु लोकप्रसिद्धलक्षणलक्षितप्रत्यक्षानुवादेन
तस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते। {न चैतदत्रापि वक्तव्यम्—कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं
विधीयते अस्मदादिप्रत्यक्षस्य, सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य वा? अस्मदादिप्रत्यक्षस्य तदनिमित्तत्वप्रतिपादने
२० सिद्धसाधनम्। सर्वज्ञप्रत्यक्षस्य भवन्मतेनाप्रसिद्धत्वाच्छशविषाणस्येव कथं तं प्रत्यनिमित्तताविधिः?
अथापि स्यात् परेण तस्याभ्युपगतत्वात् तं प्रत्यनिमित्तत्वं तत्प्रसिद्ध्यैवोच्यते, तदयुक्तम्; परीक्षापूर्व-
कत्वेनाभ्युपगमस्य स्थितत्वात्, तत्पूर्वकश्चेत् परस्याभ्युपगमस्तदा भवतोऽपि तस्य तद्भावः, परी-
क्षायाः प्रमाणरूपत्वात्, प्रमाणसिद्धं च न परस्यैव सिद्धम्, प्रमाणसिद्धस्य सर्वैरेवाभ्युपगमनीय-
त्वात्। अथ प्रमाणव्यतिरेकेण परेण सर्वज्ञप्रत्यक्षमभ्युपगतं तदाऽसौ प्रमाणाभावादेव नाभ्युपगमो
२५ युक्तः। न च प्रमाणाभ्युपगतस्यास्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणस्य सर्ववित्प्रत्यक्षस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वं विधातुं
युक्तम्, यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणत्वं सर्ववित्प्रत्यक्षस्य धर्मादिग्राहकत्वेनैव, तच्चेत् प्रमाणतोऽभ्यु-
पगतम्, कथं तस्य तं प्रत्यनिमित्तत्वमुपपद्येत तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात्? किञ्च, अयं परस्पर-
विरुद्धोऽपि वाक्यार्थः स्यात्—प्रमाणतो धर्मादिग्राहकं सर्ववित्प्रत्यक्षं यत् प्रसिद्धं तद् धर्मादिग्राहकं
न भवतीति} यतो न प्रसङ्गसाधने आश्रयासिद्धत्वादिदूषणं क्रमते; नहि प्रमाणमूलपराभ्युपगम-
३० पूर्वकमेव प्रसङ्गसाधनं प्रवर्त्तते, किं तर्हि? 'यदि'अर्थाभ्युपगमदर्शनपूर्वकम्। अत एव 'प्रसङ्गसा-
धनस्य विपर्ययफलत्वम्, विपर्ययस्य च अतीन्द्रियपदार्थविषयप्रत्यक्षनिषेधफलत्वम्, तन्निषेधे च
किं प्रत्यक्षस्य धर्मिणो निषेधः, अथ तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वस्येति? पूर्वस्मिन् पक्षे हेतूनामाश्रयासिद्धतेति
प्रतिपादितम्। उत्तरत्र प्रत्यक्षत्वनिषेधे प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानल-
क्षणत्वात्' इति न प्रेर्यम्, यतो विशेषनिषेधे तस्य विशेषरूपत्वेन सत्त्वस्यैव प्रतिषेधः। न च धर्म्य-
३५ सिद्धत्वादिदोषः, 'यदि'अर्थस्याभ्युपगतत्वात्। कथं पुनरत्र प्रसङ्गः विपर्ययो वा क्रियते इति चेत्,
तदुच्यते—'सार्वज्ञं प्रत्यक्षं यद्यभ्युपगम्यते तदा तद् धर्मग्राहकं न भवति, विद्यमानोपलम्भनत्वात्।
न चासिद्धो हेतुः। तथाहि—विद्यमानोपलम्भनमतीन्द्रियार्थजप्रत्यक्षम्, सत्सम्प्रयोगजत्वात्। अस्या-
प्यसिद्धतोद्भावने एवं वक्तव्यम्—'विवादगोचरं प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजम्, प्रत्यक्षत्वाद् तच्छब्दवाच्य-
त्वाद् वा, अस्मदादिप्रत्यक्षम् सर्वत्र दृष्टान्तः' इति प्रसङ्गः। विपर्ययस्त्वेवम्—'तद् धर्मग्राहकं चेत् न
४० विद्यमानोपलम्भनम्, अविद्यमानत्वाद् धर्मस्य। अविद्यमानोपलम्भनत्वे न सत्सम्प्रयोगजम्। अस-

१-स्यसाप्यभावः कां०। २ कुत्रचिद् रथ्या-गु०। ३ पृ० ४३ पं० २६—पृ० ४५ प० ७। ४ पृ० ४५ पं० ११। ५ "वृत्ति-सर्ग-तायने (हे० ३-३-४८) इत्यात्मनेपदम्" मां० टि०। ६ ""यदि' अङ्गीकारिकाप्रतिपादितार्थाभ्युपगमदर्शनपूर्वकम्", भा०, गु० टि०। ७ पृ० ४६ प० १४। ८ सर्वस्यैव गु०, वि०, अ०। ९ चेत् तर्हि अविद्यमा-वि०, आ०, बृ०। १० "भविष्यत्तया वर्त्तमानकाले अविद्यमानत्वम्" भां० टि०।

त्संप्रयोगजत्वे न प्रत्यक्षम्, नापि तच्छब्दवाच्यम्'। प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेणैव 'यदि'अर्थापत्तेरेण वार्त्तिककृताऽप्यभिहितम्—

> "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन धार्यते ॥
> एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।
> नूनं स चक्षुषा सर्वप्रसादीन् (सर्वान् रसादीन्) प्रतिपद्यते ॥   ५
> यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
> दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १११-११३]

पुनरप्युक्तम्—

> "येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा-मेधादिभिर्नराः ।   १०
> स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ [ ]
> यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
> दूर-सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११४]

इत्यादि ।

तेनात्रापि 'स्वतन्त्रानुमानाभिप्रायेणाश्रयासिद्धत्वादिदूषणम्' 'उपमानोपन्यासबुद्ध्या वाऽशेषोपमा- १५ नोपमेयभूतपुरुषपरिषत्साक्षात्करणे उपमानं प्रवर्त्तते' इत्यादि दूषणाभिधानं च सर्वज्ञवादिनः स्वजा- त्याविष्करणमात्रकमेव । अतः 'अतीन्द्रियसर्ववेदिो न प्रत्यक्षं प्रवृत्तिद्वारेण निवृत्तिद्वारेण वाऽभाव- साधनम्' इत्यादि सर्वमभ्युपगमवादान्निरस्तम् ।

यच्चानुमानेन सर्वज्ञाभावसाधने दूषणमभिहितम् 'किं प्रमाणान्तरसंवाद्यर्थस्य वक्तृत्वात्' इत्यादि, तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम् । {तथाहि—तत्रापि वक्तुं शक्यते—किं साध्य- २० धर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्तः, उत दृष्टान्तधर्मिसंबन्धी? तत्र यदि साध्यधर्मिसंबन्धी हेतुस्तदा तस्य दृष्टान्तेऽसंभवादनन्वयदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिसंबन्धी, सोऽसिद्धः; दृष्टान्त- धर्मिधर्मस्य साध्यधर्मिण्यसंभवात् । अथोभयसाधारणं धूमत्वसामान्यं हेतुस्तदा तस्य विप- क्षेऽनग्नौ विरोधासिद्धेः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन स्वसाध्यागमकत्वम् । अथ विपक्षेऽनग्नौ धूमस्यानुपलम्भाद् विरोधसिद्धेर्न सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वम्; नन्वत्रापि वक्तुं शक्यम्—सर्व- २५ संबन्धिनोऽनुपलम्भस्यासंभवात् अनग्नौ देशान्तरे कालान्तरे वा केनचिद् धूमस्योपलम्भात् । तदुपलब्धिमतः कस्यचिदभावात् सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य संभव इति चेत्, केन पुनः प्रमाणेनानग्नौ धूमसत्त्वग्राहकपुरुषाभावः प्रतिपन्नः? यद्यन्यतः प्रमाणात्, तत एवानग्नेर्धूमस्य व्यावृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भलक्षणस्य विपक्षे धूमविरोधसाधकस्य प्रमाणस्याभिधा- नम् । अथ तथाभूतानुपलम्भात् तदभावावगमः; ननु तथाभूतपुरुषाभावे तदनुपलम्भसंभवः, ३० तत्संभवाच्च तथाभूतपुरुषाभावसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वाद् न सर्वसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य सं- भवः; संभवेऽपि तस्यासिद्धेर्न [6]विपर्यये विरोधसाधकत्वम् । अथात्मसंबन्धिनोऽनुपलम्भस्य धूमत्वलक्षणहेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिसाधकत्वम्, न; तस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् । अथानुपलम्भव्यतिरिक्तं धूमलक्षणस्य हेतोर्विपर्यये बाधकं प्रमाणमस्ति न तु वक्तृत्वलक्षणस्य, किं पुनस्तदिति वक्तव्यम्? अग्नि-धूमयोः कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकमिति चेत्, कः ३५ पुनरसौ कार्यकारणभावः, किं वा तद्ग्राहकं प्रमाणम्? अग्निभावे एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभाव एव असौ, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षाऽनुपलम्भस्वभावम् । ननु किञ्चिज्ज्ञत्वस्य तद्व्यापकस्य वा रागादिमत्त्वस्य भावे एव वक्तृत्वस्य भावः स्वात्मन्येव दृष्टः, तदभावे चाऽभाव एवोपलादाव- विगानेनानुपलम्भतो ज्ञात इति कथं न विपर्यये सर्वज्ञत्वे वीतरागत्वे वा वक्तृत्वलक्षणस्य हेतो- र्बाधकं कार्यकारणभावलक्षणप्रतिबन्धग्राहकं प्रत्यक्षानुपलम्भाख्यं प्रमाणं दर्शनादर्शनशब्दवाच्यं ४०

---

1 -ता भा० । 2 पृ० ४६ पं० १४ । 3 पृ० ४६ पं० २४-३१ । 4 पृ० ४५ पं० ३२ । 5 पृ० ४५ पं० ३५ । 6 विपर्ययविरोधसा-भा० । 7 -क्षाद्व्यावृत्ति-भा०, मां० ।

युक्तम्? न च [1]दर्शनादर्शनशब्दवाच्यस्यासदभ्युपगतप्रमाणस्य प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दवाच्यस्य वा भवदभिप्रेतस्य कश्चिद्विशेषः प्रकृतहेतु-साध्यप्रतिबन्धसाधने उपलभ्यते। अथ किञ्चिज्ज्ञत्व-रागादिमत्त्वसद्भावेऽपि स्वात्मनि न तद्धेतुकं वक्तृत्वं प्रतिपन्नम् किन्तु वक्तुकामताहेतुकम्; रागादिसद्भावेऽपि वक्तुकामताऽभावेऽभावाद् वचनस्य। नन्वेवं व्यभिचारे विवक्षाऽपि न वचने निमित्तं
५ स्यात्, तत्राप्यन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात्; अन्यथा गोत्रस्खलनादेरभावप्रसङ्गात्। अथार्थविवक्षाव्यभिचारेऽपि शब्दविवक्षायामव्यभिचारः, न; स्वप्नावस्थायाम् अन्यगतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाऽभावेऽपि वक्तृत्वसंवेदनात्। न च व्यवहिता विवक्षा तस्य निमित्तमिति परिहारः, एवमभ्युपगमे प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात् सर्वस्य तत्प्राप्तेः। तन्न वक्तुकामतानिमित्तमप्येकान्ततो वचनं सिद्धम्, व्यतिरेकासिद्धेः। अन्वयस्तु किञ्चिज्ज्ञत्वेन रागादिमत्त्वेन वा वचनस्य
१० सिद्धो न वक्तुकामतया। अथ किञ्चिज्ज्ञत्वाद्यभावे सर्वत्र वक्तृत्वं न भवतीत्यत्र प्रमाणाभावान्नासर्वज्ञ-वक्तृत्वयोः कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः सिध्यति, तर्हि वह्न्यभावे धूमः सर्वत्र न भवतीत्यत्रापि प्रमाणाभावस्तुल्य इति न प्रतिबन्धग्रहः। अथाग्न्यभावेऽपि यदि धूमः स्यात् तदाऽसौ तद्धेतुक एव न भवेदिति सकृदप्यहेतोरग्नेस्तस्य न भावः स्यात्, दृश्यते च महानसादावग्नित इति नानग्नेर्धूमसद्भाव इति प्रतिबन्धसिद्धिः। ननु यथेन्धनादेरेकदा समुद्भूतोऽपि
१५ वह्निरन्यदाऽरणितो मण्यादेर्वा भवन्नुपलभ्यते, धूमो वा वह्नित उपजायमानोऽपि गोपालघटिकादौ पावकोद्भूतधूमादप्युपजायते इत्यवगमस्तथा कदाचिदग्न्यभावेऽपि भविष्यतीति कुतः प्रतिबन्धसिद्धिः? अथ यादृशो वह्निरिन्धनादिसामग्रीत उपजायमानो दृष्टो न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा, धूमोऽपि यादृशोऽग्नित उपजायते न तादृश एव गोपालघटिकादावग्निप्रभवधूमात्। अन्यादृशात् तादृशभावे तादृशत्वमहेतुकमिति न तस्य क्वचिदपि प्रतिनियमः स्यात्, अहेतोर्देश-काल-स्वभाव-
२० नियमायोगादिति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य वाऽनग्नेर्भावः; भावे वा तादृशधूमजनकस्याग्निस्वभावतैवेति न व्यभिचारः। तदुक्तम्—

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्" ॥ [ ] इत्यादि।

तदेतद् वक्तृत्वेऽपि समानम्। तथाहि-यदि सर्वज्ञे वीतरागे वा वचनं स्याद् असर्वज्ञाद् रागादियु-
२५ क्ताद् वा कदाचिदपि न स्यात्, अहेतोः सकृदप्यसंभवात्; भवति च तत् ततः। अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा संभव इति प्रतिबन्धसिद्धिः। अथ देशान्तरे कालान्तरे वाऽसर्वज्ञकार्यमेव वचनं न सर्वज्ञप्रभवमिति न दर्शनाऽदर्शनप्रमाणगम्यम्—दर्शनस्यैतद्व्यापारासंभवात्, अदर्शनस्य च प्रागेवैवंभूतार्थग्राहकत्वेन निषिद्धत्वात्-तर्हि सर्वदाऽग्निप्रभव एव धूमोऽग्न्यभावे कदाचनापि न भवतीत्यत्रापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितवर्त्तमानार्थग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेः, अनुपलम्भस्यापि तद्विविक्तप्रदेश-
३० विषयप्रत्यक्षस्वभावस्यात्र वस्तुनि व्यापारासंभवाद् न कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः स्यात्। नाप्यनुमानतोऽपि प्रकृतः प्रतिबन्धः सिद्धिमासादयति, इतरेतराश्रयाऽनवस्थादोषप्रसङ्गस्य प्रदर्शितत्वात्। न चान्यत् प्रतिबन्धप्रसाधकं प्रमाणमस्तीति प्रसिद्धानुमानस्यापि सर्वज्ञाभावाऽऽवेदकानुमाननिरासयुक्त्युपक्षेपमिच्छतोऽग्न्यभावः प्रसक्तः। अथ प्रसिद्धानुमाने साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धः तत्प्रसाधकं च प्रमाणं किञ्चिदस्ति तर्हि स एव प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्व-
३५ वक्तृत्वयोः तत्प्रसाधकं च तदेव प्रमाणं भविष्यतीति सिद्धः प्रतिबन्धः किञ्चिज्ज्ञत्व वक्तृत्वयोरग्नि-धूमयोरिव। अत एव [3]'व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र दर्श्यते तत् प्रसङ्गसाधनम्' इति तल्लक्षणस्य युष्मदभ्युपगमेनात्र सद्भावाद् भवत्येवातोऽनुमानात् सर्वज्ञाभावसिद्धिः। पक्षधर्मताऽभावप्रतिपादनं च यत् [4]प्रकृतप्रसङ्गसाधने प्रतिपादितं तद् अभ्युपगमवादाश्रितम्, तत्र पक्षधर्मताया हेतोरसत्त्वेऽपि गमकत्वस्य सिद्धत्वात्। दोषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमाश्रित इति
४० न प्रत्युच्चार्य दूषितः। अतोऽयुक्तमुक्तम् [5]'सर्वज्ञवादिनां यथा तत्साधकप्रमाणाभावाद् न तद्विषयः सद्व्यवहारस्तथा तदभाववादिना मीमांसकादीनां तदभावग्राहकप्रमाणाभावादेव न तदभावव्यवहारः' इति, प्रसङ्गसाधनस्य तदभावसाधकस्य समर्थितत्वात्।

---

१ ज्ञत्वे रागा-कां०। २ वा भाव इति ग्र०, आ०, वि०। ३ पृ० २१ पं० २०। ४ पृ० २१ पं० १५। ५ पृ० ४५ पं० १५।

अथ यद् अभ्यासविकलचक्षुरादिजनितं प्रत्यक्षं तद् धर्मादिग्राहकं न भवतीति प्रसङ्गसाधनात् सिध्यति न पुनरन्यादृग्भूतम्, चोदनावदन्यादृशस्य धर्मग्राहकत्वाविरोधात्। ननु किं तज्ज्ञानं प्रतिनियतचक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, उताभ्यासजनितम्, आहोस्वित् शब्दजनितम्, किंवाऽनुमानप्रभावितम्? तत्र यदि चक्षुरादिप्रभवम्, तदयुक्तम्; चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवस्य तज्ज्ञानस्य धर्मादिग्राहकत्वायोगात् । अत एव "यदि ५ षड्भिः" इत्याद्युक्तं दूषणमत्र पक्षे । अथाभ्यासजनितं तदिति पक्षः-तथाहि-ज्ञानाभ्यासात् प्रकर्षतरतमादिप्रक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे तदुत्तरोत्तराभ्याससमन्वयात् सकलभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यत इति, तदपि मनोरथमात्रम्; यतोऽभ्यासो हि नाम कस्यचित् प्रतिनियतशिल्पकलादौ प्रतिनियतोपदेशसद्भाववतो जन्मतो जनस्य संभाव्यते न तु सर्वपदार्थविषयोपदेशलंभवः । न च सर्वपदार्थविषयानुपदेशज्ञानसंभवो येन तज्ज्ञानाभ्यासात् सकलज्ञानप्राप्तिः,१० तत्संभवे वा सकलपदार्थविषयज्ञानस्य सिद्धत्वात् किमभ्यासप्रयासेन? किंच, तदभ्यासप्रवर्त्तकं ज्ञानं यदि चक्षुरादिप्रतिनियतकरणप्रभवमप्यन्येन्द्रियविषयरसादिगोचरम् अतीन्द्रियार्थगोचरं च स्यात् तदा पदार्थशक्तेः प्रतिनियतत्वेन प्रमाणसिद्धाया अभावात् प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसक्तिसद्भावात् सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । अथाभ्याससहायानां चक्षुरादीनामपि सर्वज्ञावस्थायामतीन्द्रियदर्शनशक्तिर्न च व्यवहारोच्छेदः, अस्मदादिचक्षुरादीनामनभ्यासदशायां शक्तिप्र-१५ तिनियमाद् अस्मदादय एव व्यवहारिण इति, एतदप्यसमीचीनम्; न खल्वभ्यासे सत्यप्यन्यतो वा हेतोः कस्यचिदतीन्द्रियदर्शनं चक्षुरादिभ्य उपलभ्यते; दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्तीति । किंच, सर्वपदार्थवेदने चक्षुरादिजनितज्ञानात् तदभ्यासः, तत्सहायं च चक्षुरादिकं सर्वज्ञावस्थायां सर्वपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानं जनयतीति कथमितरेतराश्रयमेतत् कल्पनागोचरचारि चतुरचेतसो भवत इति न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तिक्षमः । अथ शब्दजनितं तज्ज्ञानम्, ननु शब्दस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्ये२० सर्वपदार्थविषयज्ञानसंभवः, तज्ज्ञानसंभवे च सर्वज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमितीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः । अत एवोक्तम्—

"नर्ते तदागमात् सिध्येद् न च तेनागमो विना" । [श्लोक० वा० सू० २, श्लो० १४२] इति ।

न च शब्दजनितं स्पष्टाभमिति न तज्ज्ञानवान् सकलज्ञ इत्यभ्युपगम्यते, एवं च प्रेरणाजनि-२५ तज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम्; अत एवोक्तम्—"चोदना हि भूतं भवन्तम्" इत्यादि, तत्र तृतीयपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः । अनुमानजनितज्ञानेन तु सर्ववित्त्वे न धर्मज्ञत्वम्, धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गत्वेनाभ्युपगम्यमानस्यार्थस्य तेन सह संबन्धासिद्धेः; असिद्धसंबन्धस्य चाऽज्ञापकत्वाच्च ततो धर्माद्यनुमानम् इत्यनुमानजनितं ज्ञानं न सकलधर्मादिपदार्थाऽऽवेदकम् । किंच, तथाभूतपदार्थज्ञानेन यदि सर्वविदभ्युपगम्यते तदा अस्मदादीनामपि सर्ववित्त्वमनि-३० वारितप्रसरम्, 'भावाभावोभयरूपं जगत्, प्रमेयत्वात्' इत्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात्; अस्पष्टं चाऽनुमानमिति तज्जनितस्याप्यवैशद्यसंभवाच्च तज्ज्ञानवान् सर्वज्ञो युक्तः । अथानुमानज्ञानं प्रागविशदमपि तदेवाशेषपदार्थविषयं पुनःपुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयद् वैशद्यभाग् भवति, दृष्टं चाभ्यासबलाद् ज्ञानस्यानक्षजस्यापि काम-शोक-भयो-न्माद-चौरस्वप्नाद्युपप्लुतस्य वैशद्यम्; नन्वेवं तज्ज्ञानवद् अतीन्द्रियार्थविद्विज्ञानस्याप्युपप्लुतत्वं स्यादिति३५ तज्ज्ञानवतः कामाद्युपप्लुतपुरुषवद् विपर्यस्तत्वम् । अथ यथा रजो-नीहाराद्यावरणावृतवृक्षादिदर्शनमविशदं तदावरणापाये वैशद्यमनुभवति एवं रागाद्यावारकाणां विज्ञानावैशद्यहेतूनामपाये सर्वज्ञज्ञानं विशदतामनुभविष्यतीति, असदेतत्; रागादीनामावरणत्वासिद्धेः, कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वं लोके प्रसिद्धं न रागादीनाम् । तथाहि-रागादिसद्भावेऽपि कुड्याद्यावारकाभावे विज्ञानमुत्पद्यमानं दृष्टम्, रागाद्यभावेऽपि कुड्याद्यावारकसद्भावे न विज्ञानोदय इत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कुड्यादीनामेवाऽऽवर-४० णत्वावगमो न रागादीनामिति न रागादय आवारका इति न तद्विगमोऽपि सर्वविद्विज्ञानस्य वैशद्यहेतुः ।

---

१ ग्रन्थाग्रम्-२००० । २ पृ० ४९ पं० ३ । ३ तदाऽर्थशक्तेः मां । ४ पृ० ४३ गतं ४ टिप्पणं दृश्यम् । ५-वरका-मां० ।-वरणका-गु० ।

किंच, सर्ववेदनं सर्वज्ञज्ञानेन किं समस्तपदार्थग्रहणम्, उत शक्तियुक्तत्वम्, आहोस्वित् प्रधा-
नभूतकतिपयपदार्थग्रहणम्? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि वक्तव्यम्–किं क्रमेण तद्ग्रहणम्, आहोस्विद्
यौगपद्येन? तत्र यदि क्रमेण तद्ग्रहणम्, तदयुक्तम्; अतीताऽनागतवर्त्तमानपदार्थानामपरिसमाप्तेस्त-
ज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तितः सर्वज्ञताऽयोगात्। अथ युगपद् अनन्तातीताऽनागतपदार्थसाक्षात्कारि तद्वे-
५ दनमभ्युपगम्यते, तदप्यसत्; परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासासंभवात्; संभवे
वा न कस्यचिदर्थस्य प्रतिनियतस्य तद् ग्राहकं स्यादिति तज्ज्ञानेन अस्मदादिभ्योऽपि व्यव-
हारिभ्यो हीनतर इति कथं सर्वज्ञः? किंच, यदि युगपत् सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानम् तदेकक्षणे एव
सर्वपदार्थग्रहणाद् द्वितीयक्षणेऽकिञ्चिज्ज्ञ एव स्यात्; ततश्च किं तेन तादृशाऽकिञ्चिज्ज्ञेन सर्वज्ञत्वेन?
न चानाद्यनन्तसंवेदनस्य परिसमाप्तिः, परिसमाप्तौ वा कथमनाद्यनन्तता? किंच, सकलपदार्थ-
१० साक्षात्करणे परस्थरागादिसाक्षात्करणमिति रागादिमानपि स स्याद् विट इव। अथ रागादिसंवे-
दनमेव नास्ति न तर्हि सकलपदार्थसाक्षात्करणम्, तन्न प्रथमः पक्षः। अथ शक्तियुक्तत्वेन सकल-
पदार्थसंवेदनं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते, तदपि न युक्तम्; सर्वपदार्थाऽवेदने तच्छक्तेर्ज्ञातुमशक्तेः;
कार्यदर्शनानुमेयत्वाच्छक्तीनाम्। किंच, सर्वपदार्थज्ञानपरिसमाप्तावपि 'इयदेव सर्वम्' इति कथं
परिच्छेदशक्तिः? अथ वेदनाऽभावादभावोऽपरस्येति सर्वसंवेदनम्, अवेदनादभावोऽपरस्येति
१५ कुतो निश्चयः? तदपेक्षया तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात् तथाभूतानुपलब्ध्याऽभावनिश्चय इति चेत्,
एवं सति स एवेतरेतराश्रयदोषः–सर्वज्ञत्वनिश्चये तदभावनिश्चयः, तदभावनिश्चये च सर्वज्ञत्वनिश्चय
इति नैकस्यापि सिद्धिः; तन्न द्वितीयोऽपि पक्षः। अथ यावदुपयोगि प्रधानभूतपदार्थजातं तावदसौ
वेत्तीति तत्परिज्ञानात् सकलज्ञः, तदपि सर्वपदार्थाऽवेदने नियमेन न संभवति; 'सकलपदार्थ-
व्यवच्छेदेन तेषामेव प्रयोजननिवर्त्त(र्तक)त्वम्' इति सकलपरिज्ञानमन्तरेणाशक्यसाधनमिति न
२० तृतीयोऽपि पक्षो युक्तः।

किंच, नित्यसमाधानसंभवे विकल्पाभावात् कथं वचनम्? वचने वा विकल्पसंभवात् समा-
धानविरोधाच्च समाहितत्वमिति भ्रान्तश्छाद्मस्थिकज्ञानयुक्तः स स्यात्। कथं वाऽतीतानागत-
ग्रहणम् अतीतादेः स्वरूपस्यासंभवात्? असदाकारग्रहणे च तैमिरिकज्ञानवत् प्रमाणत्वं न
स्यात्। अथातीतादिकमप्यस्ति, एवं सत्यतीतादित्वादेरप्यभाव एवेति सर्वज्ञव्यवहारोच्छेदः।
२५ अथ प्रतिपाद्यापेक्षया तस्याभावः, तदप्ययुक्तम्, नहि विद्यमानमेवापेक्षया तदेवाविद्यमानं
भवति। तस्यानुपलब्धेरविद्यमानत्वमेवेति चेत्, तदनुपलब्धिरेवास्तु कथमविद्यमानम्? न
ह्यन्यस्याभावेऽन्यस्याप्यभावः, अतिप्रसङ्गात्। तस्यासावविद्यमानत्वेन प्रतिभातीति चेत्, स तर्हि
भ्रान्तः, असद्विकल्पसंभवात्; तस्यासद्विकल्पस्य विषयीकरणात् सर्वज्ञोऽपि भ्रान्त एवेति कथं सर्व-
वित्? अथ विकल्पस्यापि स्वरूपेऽभ्रान्तत्वमेव तेन तस्य वेदनं सर्वज्ञज्ञानमभ्रान्तम्, एवं तर्हि
३० स्वरूपसाक्षात्करणमेव केवलम् कथमतीताद्यविद्यमानसाक्षात्करणम्? ततश्चातीतानागतपदार्था-
भावात् तत्साक्षात्करणासंभवाच्च तद्ग्रहणात् सर्वज्ञः। किंच, स्वरूपमात्रवेदने तन्मात्रस्यैव विद्य-
मानत्वात् तद्वेदनेऽद्वैतवेदनाद् न सर्वज्ञव्यवहारः तद्भावे वा सर्वः सर्ववित् स्यात्। अथापि स्यात्
सत्यस्वप्नदर्शनवद् अतीतानागतादिदर्शनम् ततो व्यवहारः इति, तदप्ययुक्तम्; सत्यस्वप्नदर्शनस्य
स्वरूपमात्रवेदने न सत्यासत्यविभागः किन्त्वानुमानिकः, सत्यस्वप्नस्वरूपसंवेदनस्य तन्मात्रपर्यव-
३५ सितत्वात्। किंच, अतीतानागतकालसंबन्धित्वात् पदार्थानामतीतानागतत्वम् तच्च भवत्
किमपरातीतानागतकालसंबन्धाद् अभ्युपगम्यते, आहोस्वित् स्वत एव? यद्यपरातीतानागतकाल-
संबन्धात् कालस्यातीतानागतत्वं तदा तस्याप्यपरातीतानागतकालसंबन्धादतीतानागतत्वम्, तस्या-
प्यपरस्मादित्यनवस्था। अथातीतानागतपदार्थक्रियासंबन्धात् कालस्यातीतानागतत्वं तेनायमदोषः;
ननु पदार्थक्रियाणामपि कुतोऽतीतानागतत्वम्? यद्यपरातीतानागतपदार्थक्रियासद्भावात् तदाऽत्रापि

१–विरुद्धार्थानां भां, मां०, वा०। २–दिति किं तज्ज्ञा–मां०, कां०, गु०, आ०। ३ प्रमेयकमलमार्तण्डे एतत्स्थले एवं पाठः–"नाऽपि प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणम्, 'इतरार्थव्यवच्छेदेन एतेषामेव प्रयोजननिष्पादकत्वात् प्राधान्यम्' इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव घटते नान्यथा" –पृ० ७० प्रथ० पं० ५। ४–च्छद्म–वा० विना सर्वत्र। ५ सद्भावे वा वा० विना सर्वत्र। ६–लसंबन्धादतीताभ्युपगम्यते वा० विना सर्वत्र। –लसंबन्धादतीताऽनागतत्वमभ्युपगम्यते कां०। ७ अत्र 'कालस्य' इत्यध्याहार्यम्।

सैवानवस्था । अतीतानागतकालसंबन्धात् पदार्थक्रियाणामतीतानागतत्वं तर्हि कालस्याप्यतीतानागतपदार्थक्रियासंबन्धादतीतानागतत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्, तन्न प्रथमः पक्षः। अथ स्वरूपत एव कालस्यातीतानागतत्वं तदा पदार्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु किमतीतानागतकालसंबन्धित्वेन ? तच्च पदार्थस्वरूपमसदादिज्ञानेऽपि प्रतिभातीति नातीतानागतपदार्थग्राहित्वेनास्मदादिभ्यः सर्वज्ञस्य विशेषः । अपि च, संबन्धस्यान्यत्र विस्तरतो निषिद्धत्वाच्च कस्यचित् केनचित् ५ संबन्ध इत्यतीतानागतादिसंबद्धपदार्थग्राहिज्ञानमसदर्थविषयत्वेन भ्रान्तं स्यादिति न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः । भवतु वा सर्वज्ञस्तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते, तद्ग्राह्यपदार्थाज्ञाने तद्ग्राहकज्ञानवतः केनचित् प्रमाणेन प्रतिपत्तुमशक्तेः । तदुक्तम्—

"सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत् तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ? ॥ १०
कल्पनीयास्तु सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १३४-१३५]

न च तदपरिज्ञाने तत्प्रणीतत्वेनागमस्य प्रामाण्यमवगन्तुं शक्यम्; तदनवगमे च तद्विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिरप्यसङ्गता । तदुक्तम्-

"सर्वज्ञो नावबुद्धश्चेद् येनैव स्यान्न तं प्रति । १५
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेन वाक्यवत्" ॥ [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १३६]
इति ।

तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात् तत्सद्भावबाधकस्य चानेकधा प्रतिपादितत्वात् सर्वज्ञाभावव्यवहारः प्रवर्त्तयितुं युक्तः । तथाहि-ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्ते 'असद्' इति व्यवहर्त्तव्याः, यथा अङ्गुल्यग्रे करियूथादयः, बाधकप्रमाणगोचरापन्नश्च भवदभ्युपगमविषयः २० सकलपदार्थसार्थसाक्षात्कारीत्यसद्व्यवहारविषयत्वं सर्वविदोऽभ्युपगन्तव्यमिति पूर्वपक्षः ॥

[उत्तरपक्षः-सर्वज्ञसत्तासाधनम्]

अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तम् 'ये देश-काल-स्वभावव्यवहिताः प्रमाणविषयतामनापन्ना न ते सद्व्यवहारगोचरचारिणः' इत्यादि, तदयुक्तम्; सर्वविदि प्रमाणविषयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वाद् असिद्धो हेतुस्तदविषयत्वलक्षणः । यदप्यभ्यधायि 'न तावदक्षसंभवज्ञानसंवेद्यस्तद्भावः, २५ अक्षाणां प्रतिनियतविषयत्वेन तत्साक्षात्करणव्यापारासंभवात्' तत् सिद्धमेव साधितम् । यदप्युक्तम् 'नाप्यनुमानस्य तत्र व्यापारः, तद्धि प्रतिबन्धग्रहणे पक्षधर्मताग्रहणे च हेतोः प्रवर्त्तते; न च प्रतिबन्धग्रहणं प्रत्यक्षतस्तत्र संभवति' इत्यादि, तद् धूमादेरग्न्यादिप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम् । अथाग्न्यादेः प्रत्यक्षत्वात् तत एव तत्प्रभवत्व-कार्यविशेषत्वयोर्धूमादौ प्रतिबन्धसिद्धिः, ननु धूमस्य किमग्निस्वरूपग्राहकप्रत्यक्षेण पावकपूर्वकत्वमवगम्यते, उत धूमस्वभावग्राहिणेति कल्पनाद्वयम् । ३० तत्र न तावदाद्यः पक्षः, पावकरूपग्राहि प्रत्यक्षं तत्स्वभावमात्रग्रहणपर्यवसितमेव न धूमरूपप्रवेदनप्रवणम्, तदप्रवेदने च न तदपेक्षया तेन वह्नेः कारणत्वावगमः; नहि प्रतियोगिस्वरूपाग्रहणे तं प्रति कस्यचित् कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं ग्रहीतुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ धूमस्वरूपप्रतिपत्तिमता प्रत्यक्षेण तस्य चित्रभानुं प्रति कार्यत्वस्वभावं तत्प्रभवत्वं गृह्यते, ननु तस्यापि पावकस्वरूपग्राहकत्वेनाप्रवृत्तेस्तदग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं धूमस्य कथमवगमविषयः ? अथाग्नि-धूमद्वयस्वरूपग्राहिणा ३५ प्रत्यक्षेण तयोः कार्यकारणभावनिश्चयः, तदप्यसङ्गतम्; द्वयग्राहिण्यपि ज्ञाने तयोः स्वरूपमेव भाति न पुनरग्नेर्धूमं प्रति कारणत्वम् धूमस्य वा तं प्रति कार्यत्वम्; न हि पदार्थद्वयस्य स्वस्वरूपनिष्ठस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभासः; अन्यथा घट-पटयोरपि स्वस्वरूपनिष्ठयोरेकज्ञानप्रतिभासः क्वचिदस्तीति तयोरपि कार्यकारणभावावगमप्रसङ्गः । अथ यस्य प्रतिभासानन्तरं

१-त्वमिति प-धा०, मां० । २ मूलज्ञानेऽज्ञवाक्यवत् वा० । ३ पृ० ४३ पं० २७ । ४ पृ० ४३ पं० ३१ । ५ पृ० ४३ पं० ३१ । ६-स्य स्वरूप- मां० ।

यत्प्रतिभास एकज्ञाननिबन्धनस्तयोस्तदवगम इति नायं दोषः, तदपि घटप्रतिभासानन्तरं पटप्रतिभासे क्वचिद् ज्ञाने समानम्। न च क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभाससमन्वयेकं ज्ञानमिति शक्यं वक्तुम्, प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात्; अन्यत्रापि तद्भेदव्यवस्थापितत्वाद् भेदस्य, स च क्रमभाविप्रतिभासद्वयाध्यासितज्ञाने समस्तीति कथं न तस्य भेदः? न चैकमेव ज्ञानं जन्मानन्तरक्षणादिका-

५ लमास्त इति भवतामभ्युपगमः। तदुक्तम्–"क्षणिका हि सा, न कालान्तरमास्ते" [ ] इति। अथ वह्नि-धूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारि इन्द्रियं सविकल्पकज्ञानं जनयति तत्र तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविनः प्रतिभासात् कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यति, तदप्यसङ्गतम्; पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षद्वयस्य तत्राव्यापारात् तदुत्तरस्मरणस्य च पदार्थमात्रग्रहणेऽप्यसामर्थ्याच्चक्षुरादीनां च तदवगमज्ञानजननेऽशक्तेः; शक्तौ वा प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामेव तदवगमज्ञानोत्पत्तिप्रस-

१० ङ्गाद् अकिञ्चित्करस्य स्मरणादेरनपेक्षणीयत्वात् परिमलस्मरणसव्यपेक्षस्य लोचनस्य 'सुरभि चन्दनम्' इत्यविषये गन्धादौ ज्ञानजनकत्वस्येव तत्रापि तज्जनकत्वविरोधात्। अथ तत्स्मरणसव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तरं 'कार्यकारणभूते एते वस्तुनी' इत्येतदाकारज्ञानसंवेदनात् कार्यकारणभावावगमः सविकल्पकप्रत्यक्षनिबन्धनो व्यवस्थाप्यते; नन्वेवं परिमलस्मरणसहकारिचक्षुर्व्यापारानन्तरभावी 'सुरभि मलयजम्' इति प्रत्ययः समनुभूयत इति परिमलस्यापि चक्षुर्जप्रत्ययविषयत्वं स्यात्। अथ

१५ परिमलस्य लोचनाविषयत्वाद् नायं प्रत्ययस्तज्जः किन्तु गन्धसहचरितरूपदर्शनप्रभवानुमानस्वभावः, तदेतत् प्रकृतेऽपि कार्यकारणभावे लोचनाविषयत्वं समानम्; प्रत्ययस्य तु तदध्यवसायिनोऽपरं निमित्तं कल्पनीयम्; तन्न प्रत्यक्षतः सविकल्पकादपि धूम-पावकयोः कार्यकारणत्वावगमः। मानसप्रत्यक्षं तु तदवगमनिमित्तं भवता नाभ्युपगम्यते। अपि च, कार्यकारणभावः सर्वदेश-कालावस्थिताखिलधूम-पावकव्यक्तिक्रोडीकरणेन अवगतोऽनुमाननिमित्ततामुपगच्छति,

२० न च प्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि सविकल्पकस्य निर्विकल्पकस्य वा व्यापारः संभवतीत्यसकृत् प्रतिपादितम्। किंच, न कारणस्य प्राग्भावित्वमात्रमेव बौद्धानामिव कारणत्वम्—येन तस्य कारणस्वरूपाभेदात् तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावस्य कारणत्वस्याऽप्यवगमः, केवलं कार्यदर्शनादुत्तरकालं तन्निश्चीयते—किन्तु कारणस्य कार्यजननशक्तिः कारणत्वम्; सा च शक्तिर्न प्रत्यक्षावसेया अपि तु कार्यदर्शनसमवगम्या भवता परिकल्पिता। तदुक्तम्–

२५ "शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः"। [श्लो०वा०सू०५, शून्य० श्लो० २५४]

ततः कथं प्रत्यक्षात् कारणस्य कारणत्वावगमः? अथ कार्यादेव कारणस्य कारणत्वावगमो भवतु किं नश्छिन्नम्; ननु कार्यात् कारणस्य कारणत्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः, तत्र च तदपि कार्यं लिङ्गभूतं यदि कारणशक्तिमवगमयति तदा शक्ति-कार्ययोः प्रतिबन्धग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्; स च प्रतिबन्धावगमो न प्रत्यक्षादिति प्रतिपादितम्। अनुमानात् तदवगमे इतरेतराश्रयाऽनवस्थादोषावतारोऽ-

३० त्रापि समानः। अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः प्रतिपादित इति न प्रसिद्धानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्भवदभिप्रायेण। अथ वह्निगतधर्मानुविधानाद् धूमस्य तत्पूर्वकत्वं कुतश्चित् प्रमाणात् प्रसिद्धमिति धूमत्वस्य तत्पूर्वकत्वव्याप्तिसिद्धिः—अन्यथा धूमादग्न्यसिद्धेः सकललोकप्रसिद्धव्यवहाराभावः, अनुमानाभावे प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहारासम्भवात्—तर्हि वचनविशेषस्यापि यदि विशिष्टकारणपूर्वकत्वं तत एव प्रमाणात् प्रसिद्धं विवादाध्यासिते वचने वचनविशेषत्वात् साध्येत तदा कोऽपराधः?

३५ यदप्युक्तम् 'पक्षधर्मत्वनिश्चये सति हेतोरनुमानं प्रवर्त्तते, न च सर्ववित् कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; यतो यदि सर्वविदो धर्मित्वं क्रियेत तदा तस्यासिद्धत्वात् स्यादप्यपक्षधर्मत्वलक्षणं दूषणम्; यदा तु वचनविशेषस्य धर्मित्वं तस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यत्वेनोपक्षिप्तं तदा तत्र तद्विशेषत्वादिलक्षणो हेतुरुपादीयमानः कथमपक्षधर्मः स्यात्? न चापक्षधर्मादपि हेतोरुपजायमानमनुमानं प्रमाणं भवताऽभ्युपगच्छता पक्षधर्मत्वाभावलक्षणं

४० दूषणमासञ्जयितुं युक्तम्। अन्यथा—

---

१ अयमर्थः शाबरभाष्ये एवं प्रदर्शितः "क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते इति"–पृ० ७ पं० २४ का०। २ पृ० ३१ पं० २१ तथा पृ० ४१ पं० १२। ३–स्यस्यावगमः भा०, मा०, पू० विना सर्वत्र। ४ कारणे भा०, मा०, पू०। ५–६ पृ० २ पं० १५–२५। ७ पृ० ४६ पं० ११। ८ पृ० ४४ पं० ६।

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते" ॥ [ ]

इत्याद्यपक्षधर्महेतुसमुत्थानुमानप्रामाण्यप्रतिपादनं भवतोऽप्ययुक्तं स्यात् । यदप्यभ्यधायि 'सर्वज्ञसत्तायां साध्यायां त्रयीं दोषजातिं हेतुर्नातिवर्त्तते' इत्यादि, तत्र स्यादप्ययं दोषः यदि तत्सत्ता साध्यत्वेनाभ्युपगम्यते; यावता पूर्वोक्तप्रकारेण वचनविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वं साध्यमित्युक्तम्, तत्र चास्य दोषस्योपक्षेपोऽयुक्त एव । यदप्यभ्यधायि 'यद्यनियतः कश्चित् सकलपदार्थज्ञः साध्योऽभिप्रेतः' इत्यादि, तदप्यसङ्गतमेव, यतो नास्माभिः प्रतिनियत एव कश्चित् सर्वज्ञोऽनुमानात् साध्यते किन्तु विशिष्टकारणपूर्वकत्वं विशिष्टशब्दस्य; तच्च स्वसाध्यव्याप्तहेतुबलात् साध्यधर्मिणि सिद्धिमासादयद् हेतुपक्षधर्मत्वबलात् प्रतिनियतसर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव सिद्धिमासादयति । न च 'तत एव हेतोरन्यस्यापि सर्वज्ञस्य सिद्धेरन्यागमाश्रयणमपि भवतां प्रसज्यते' इति दूषणम्, अन्यागमानां दृष्टविषय एव प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् कथं तत्प्रणेतृणामपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः । यच्चान्यदभिहितम् 'न कश्चित् सर्वज्ञप्रतिपादकः सम्यग् हेतुः संभवति', तदप्यसङ्गतम्; तत्प्रतिपादकस्य सम्यग्घेतोर्वचनविशेषत्वादेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यच्चान्यदभिहितम् 'सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्' इत्यत्र 'यदि सकलपदार्थग्राहिप्रत्यक्षत्वं साध्यम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; एवं साध्यविकल्पनेऽग्न्यादेरप्यनुमानान्न सिद्धिः स्यात् । तथाहि–अत्राप्येवं वक्तुं शक्यते–यदि प्रतिनियतसाध्यधर्मिधर्मो वह्निः साध्यत्वेनाभिप्रेतस्तदा तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मिधर्मेण पावकेन व्याप्तस्य धूमलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वाद् विरुद्धो हेतुः स्यात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः साध्यधर्मिणि साध्यते तदा प्रत्यक्षादिविरोधः । अथोभयगतं वह्निसामान्यं तदा सिद्धसाध्यतादोषः । 'तथा प्रमेयत्वमपि हेतुत्वेनोपन्यस्यमानम्' इत्यादि यदुक्तं तद् धूमलक्षणेऽपि हेतौ समानम् । तथाहि–अत्रापि किं साध्यधर्मिधर्मो हेतुत्वेनोपात्तः, उत दृष्टान्तधर्मिधर्मः, अथोभयगतं सामान्यम्? तत्र यदि साध्यधर्मिधर्मो हेतुः, स दृष्टान्तधर्मिणि नान्वेतीत्यनन्वयो हेतुदोषः । अथ दृष्टान्तधर्मिधर्मः, स साध्यधर्मिण्यसिद्ध इत्यसिद्धताहेतुदोषः । अथोभयगतं सामान्यम्, तदपि प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षमहानसपर्वतप्रदेशविलक्षणव्यक्तिद्वयाश्रितं न संभवतीति हेतोरसिद्धता तदवस्थिता । अथ पर्वतप्रदेशाश्रिताग्नितद्धूमव्यक्त्योरुत्तरकालभाविप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वेन न महानसोपलब्धधूमव्यक्त्याऽत्यन्तवैलक्षण्यमिति नोभयगतसामान्याभावः; ननूभयगतसामान्यप्रतिपत्तौ ततोऽनुमानप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तौ च तदर्थक्रियार्थिनस्तत्र प्रवर्तमानस्य प्रत्यक्षप्रवृत्तिः, तस्यां च सत्यामत्यन्तवैलक्षण्याभावस्तद्व्यक्तेः, तत्सद्भावे चोभयगतसामान्यसिद्धिस्ततस्तदनुमानप्रवृत्तिरिति चक्रकदूषणावकाशः । अथ कण्ठक्षीणतादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यान्न महानस-पर्वतप्रदेशसङ्गतधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यमित्युभयगतसामान्यसिद्धौ न धूमानुमाने हेत्वसिद्धतादिदोषस्तर्हि वाच्याविसंवादादिधर्मकलापसाधर्म्यस्य वचनविशेषव्यक्तिद्वयेऽप्यत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य सद्भावेन कथं न तद्विशेषत्वसामान्यसंभवः? प्रमेयत्वं तु यथा प्रकृतसाध्ये हेतुर्भवति तथा प्रतिपादयिष्यामः, आस्तां तावत् । यत्तु 'नापि शब्दात् तत्सिद्धिः' इत्यादि प्रतिपादितं तत् सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वान्निरस्तम् । यदप्युक्तम् 'ये देश-काल-इत्यादिप्रयोगे नासिद्धो हेतुः' इति, एतदप्ययुक्तम्; अनुमानस्य तदुपलम्भस्वभावस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वेनानुपलम्भलक्षणस्य हेतोः परप्रयुक्तस्यासिद्धत्वात् । अत एव 'सद्व्यवहारनिषेधश्चानुपलम्भनिमित्तोऽनेन' इत्याद्यसारतया स्थितम् । 'अथ यथाऽस्माकं तत्सद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं नास्ति तथा भवतां तदभावाऽऽवेदकमपि नास्ति' इत्यादि यावत् 'प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण सर्वमेव सर्वज्ञप्रतिक्षेपप्रतिपादकं युक्तिजालमभिहितम्' इति यदुक्तम्, तदप्यचारु; यतः "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीम्" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११७] इत्यादिना तत्सद्भावोपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिप्रतिपादनद्वारेण यद् अभावाख्यप्रमाण-

१ पृ० ४४ पं० ८ । २ पृ० ४४ पं० १३ । ३ पृ० ४४ पं० १६ । ४ पृ० ४४ पं० १३ । ५ पृ० ४४ पं० १७ । ६ पृ० ४४ पं० १८ । ७–साध्यधर्मो भां०, वा०, मा० विना । ८ पृ० ४४ पं० २२ । ९ धूमत्वलक्षणे भां०, का० वा०, मा० । १० पृ० ४४ पं० ३३ । ११ पृ० ४५ पं० १५ । १२ पृ० ४५ पं० १५–१६ । १३ पृ० ४५ पं० १७ । १४ पृ० ४८ पं० १४ । १५ पृ० ४५ पं० ८ ।

प्रवृत्तिप्रतिपादनं तत् तदभावावेदकस्वतन्त्राभावाख्यप्रमाणाभ्युपगमव्यतिरेकेणासंभवद् भवतां मिथ्यावादितां सूचयति। यदप्यवादि 'तथा च प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण भगवतो जैमिनेः सूत्रम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रसङ्गसाधनस्य तत्पूर्वकस्य च विपर्ययस्य व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ यत्र व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः व्यापकनिवृत्तितो व्याप्यनिवृत्तिरवश्यंभाविनी च
५ प्रदर्श्यते तत्र यथाक्रमं प्रवृत्तिः, अत्र तु प्रत्यक्षत्वस्य सत्संप्रयोगजत्वेन, तस्य च विद्यमानोपलम्भनत्वेन, तस्यापि धर्मादिकं प्रत्यनिमित्तत्वेन क्व व्याप्यव्यापकभावावगमो येन प्रसङ्ग-तद्विपर्यययोः प्रवृत्तिः स्यात्? ननूक्तमेवैतत् 'स्वात्मन्येव' सत्यम्; उक्तं नतु युक्तमुक्तम्। अयुक्तता च-सर्वं चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवं प्रत्यक्षं सन्निहितदेश-काल-पदार्थान्तरस्वभावाविप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिग्राहकं सर्वत्र सर्वदा चेति न व्याप्यव्यापकभावग्राहकं प्रमाणमस्ति, विपर्ययश्चोपलभ्यते—योजन-
१० शतविप्रकृष्टस्यार्थस्य ग्राहकं संपातिगृध्रराजप्रत्यक्षं रामायण-भारतादौ भवत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगते श्रूयते, तथेदानीमपि गृध्र-वराह-पिपीलिकादीनां चक्षुः-श्रोत्र-घ्राणजस्य प्रत्यक्षस्य यथाक्रमं रूप-शब्द-गन्धादिषु देशविप्रकृष्टेषु प्रवृत्तिरुपलभ्यते, तथा कालविप्रकृष्टस्याप्यतीतकालसंबन्धित्वस्य पूर्वदर्शनसंबन्धित्वस्य च स्मरणसव्यपेक्षलोचनादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षग्राह्यत्वं पुरोऽवस्थितेऽर्थे भवताऽभ्युपगम्यते, अन्यथा—

१५ "देश-कालादिभेदेन तदाऽस्त्यवसरो मितेः"। [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० २३३]
"इदानीतनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम्"। [श्लो० वा० सू० ४, श्लो० २३४]

इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्यागृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसंबन्धित्वलक्षणनित्यत्वग्राहकत्वं च प्रतिपाद्यमानमसङ्गतं स्यात्। अथातीतातीन्द्रियकालसंबन्धित्वं पूर्वदर्शनसंबन्धित्वं वा वर्त्तमानकालसंबन्धिनः पुरोव्यवस्थितस्यार्थस्य यदि चक्षुरादिप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन गृह्यते तदा—

२० "संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः"। [श्लो० वा० सू० ४ श्लो० ८४]

इति वचनं विरुद्धार्थं स्यात्, तथाऽतीन्द्रियकाल-दर्शनादेर्वर्त्तमानार्थविशेषणत्वेन ग्रहणेऽतीन्द्रियधर्मादेरपि ग्रहणमसङ्गात् प्रसङ्गसाधन-तद्विपर्यययोरप्रवृत्तिः स्वयमेव प्रतिपादिता स्यात्। नन्वयमेवात्र दोषः कालविप्रकृष्टार्थग्राहकत्वेन इन्द्रियजप्रत्यक्षस्य प्रतिपादयितुमस्माभिरभिप्रेत इति कस्यात्रोपालम्भः। अथ वर्त्तमानकालसंबद्धे विशेष्ये पुरोवर्त्तिनि व्यापारवच्चक्षुस्तद्विशेषणभूतेऽती-
२५ न्द्रियेऽपि पूर्वकालदर्शनादौ प्रवर्त्तते, अन्यथा चक्षुर्व्यापारानन्तरं 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति विशेष्यालम्बनं प्रत्यभिज्ञानं नोपपद्येत, नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुपजायते दण्डाग्रहण इव दण्डिबुद्धिः; न च धर्मादावयं न्यायः संभवतीति चेत्, ननु धर्मादेः किमतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनाऽग्रहणम्, उत अविद्यमानत्वात्, आहोस्विद् अविशेषणत्वात्? तत्र नाद्यः पक्षः, अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेर्ग्रहणाभ्युपगमात्। नाप्यविद्यमानत्वात्, भाविधर्मादेरिवातीतकालादेरविद्यमानत्वेऽपि प्रति-
३० भासस्य भावात्। अथाविशेषणत्वाद्धर्मादेरप्रतिभासः, तदप्यसङ्गतम्। सर्वदा पदार्थजनकत्वेन द्रव्य-गुण-कर्मजन्यत्वेन च धर्मादेः सर्वपदार्थविशेषणभावसंभवात् अतीतातीन्द्रियकालादेरिव तस्यापि विशेष्यग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणसंभव इति कथं धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वप्रसङ्गसाधनस्य तद्विपर्ययस्य वा संभवः? तथा, प्रज्ञादि-मन्त्रादिद्वारेण संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टपदार्थग्राहकमुपलभ्यते तथा धर्मादेरपि यदि ग्राहकं कस्यचित् स्यात् तदा न कश्चिद्दोषः। अपि च, अनालो-
३५ कान्धकारव्यवहितस्य मूषिकादेर्नक्तंचरवृषदंशादेश्चक्षुर्यथा ग्राहकमुपलभ्यते तथा यद्यतीन्द्रियातीताऽनागतधर्मादिपदार्थसाक्षात्कारि कस्यचित् तदेव स्यात् तदाऽत्रापि को दोषः? न च जात्यन्तरस्यान्धकारव्यवहितरूपादिग्राहकं चक्षुरदं न पुनर्मनुष्यधर्मण इति प्रतिसमाधानमत्राभिधातुं युक्तम्, मनुष्यधर्मणोऽपि निर्ञ्जाविकादेर्द्रव्यविशेषादिसंस्कृतं चक्षुः समुद्रजलादिव्यवहितपर्वतादि-

---

१ तद्भावा—वा०, बा०, मा० विना। २ पृ० ४८ पं० १५। ३ पृ० ४९ प० १८। ४ तथाऽ—वा०, बा०। ५ तथा— मा०। ६ प्रज्ञादि—वा०, बा०। प्रज्ञादि—इ०। अत्र स्थले प्रमेयक०मार्तण्डेऽपि एतदेव "प्रज्ञादिमन्त्रादिना"—पृ० ७१, द्वि० पृ० प० २। "प्रज्ञा विद्याविशेषा"—प्रमेयर० टी० पृ० १। अथवा प्रज्ञा—औषधीविशेष। ७ निर्ञ्जाविका वि०, भा०, इ०। निजावका—वा०। निर्मावका—मा०। "निर्ञ्जविका"—प्रमेय० पृ० ७१ द्वि० पृ० पं० २। "[?]भाषक. कर्णधार" प्रेमय० टि०।

ग्रहणे समर्थमुपलभ्यत इति धर्मादेरपि देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टस्य कस्यचित् पुरुषविशेषस्य पुण्यादिसंस्कृतं चक्षुरादि ग्राहकं भविष्यतीति न कश्चित् दृष्टस्वभावव्यतिक्रमः। अथ चक्षुरादेः करणस्य प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेनान्यकरणविषयग्राहकत्वे स्वार्थातिक्रमो व्यवहारविलोपी स्यात्; ननु श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम्—'चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः' इति लोकप्रवादात्। मिथ्या स प्रवाद इति चेत्, नैतत्; प्रवादबाधकस्याभावात् कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च। न च ५ 'दन्दशूकचक्षुषो जात्यन्तरत्वात्' इत्युत्तरमत्रोपयोगि, अन्यत्रापि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वविचक्षुषि समानत्वात्। तदेवं धर्मादिसमस्तपदार्थग्राहकत्वेन चक्षुरादिजनितप्रत्यक्षस्याऽविरोधाद् न प्रत्यक्षत्व-सरसंप्रयोगजत्वादेर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धिरिति न प्रसङ्ग-विपर्यययोः प्रवृत्तिरिति न तत्स्तत्प्रतिक्षेपः। एतेन "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० १११] इत्यादि वार्त्तिककृत्प्रतिपादितं प्रसङ्गसाधनाभिप्रायेण युक्तिजालमखिलं निरस्तम्, व्याप्तिप्रतिषेधस्य पूर्वोक्त- १० प्रकारेण विहितत्वात्। यच्च 'किं प्रमाणान्तरसंवादार्थस्य वक्तृत्वात् इत्यादि तद् धूमादग्न्यनुमानेऽपि समानम्। तथाहि-अत्रापि वक्तुं शक्यम्-किं साध्यधर्मिसंबन्धी धूमो हेतुत्वेनोपन्यस्तः' इत्यादि यावत् 'सिद्धः प्रतिबन्धोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोरग्नि-धूमयोरिव' इति पर्यन्तम्, तदप्ययुक्तम्; यतोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोरिव नाग्नि-धूमयोः कार्यकारणत्वप्रतिबन्धस्य तद्ग्राहकप्रमाणस्य वाऽभावः {नहि वह्निसद्भावे धूमो दृष्टस्तदभावे च न दृष्ट इत्येतावता धूमस्याग्निकार्यत्वमुच्यते किन्तु १५

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यं धर्मानुवृत्तितः" [ ]।

न चासौ दर्शनाऽदर्शनमात्रगम्यः किन्तु विशिष्टात् प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाख्यात् प्रमाणात्।

प्रत्यक्षमेवं प्रमाणं प्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दाभिधेयम्, तदेव कार्यकारणाभिमतपदार्थविषयं प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्; कदाचिदनुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्षं तद्भावसाधकम्, कदाचित् प्रत्यक्षपुरःसरोऽनुपलम्भः। तत्राद्येन येषां कारणाभिमतानां सन्निधानात् प्राग- २० नुपलब्धं सद् धूमादि तत्सन्निधानादुपलभ्यते तस्य तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते। तथाहि-एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्—यद्यग्निसन्निधानात् प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत्। तदेतत् सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण निरस्तम्। एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्यादिति निरस्तम्। तथाहि—तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्, अन्यदेशादनागमनम्, अन्याकारणत्वं च २५ निश्चेतुं शक्येत तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता, केवलं तदेव निश्चेतुमशक्यम्। एवं तावदनुपलम्भपुरस्सरस्य प्रत्यक्षस्य तत्साधनत्वमुक्तम्। तथा, प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भोऽपि तत्साधनः— येषां सन्निधाने प्रवर्त्तमानं तत् कार्यं दृष्टं तेषु मध्ये यदैकस्याप्यभावो भवति तदा नोपलभ्यते, तत् तस्य कारणमितरत् कार्यम्। न चाग्नि-काष्ठादिसन्निधाने भवतो धूमस्यापनीते कुम्भकारादावनुपलम्भोऽस्ति, अग्न्यादौ त्वपनीते भवत्यनुपलम्भः। एवं परस्परसहितौ प्रत्यक्षानुपलम्भावभिमतेष्वेव ३० कार्यकारणेषु निःसन्दिग्धं कार्यकारणभावं साधयतः।

सर्वकालं चाग्निसन्निधाने भवतो धूमस्यानग्निजन्यत्वं कदाचित् सदसतोरजन्यत्वेन, अहेतुकत्वेन, अदृश्यहेतुकत्वेन वा भवेत्? तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, असतो जन्यत्वात्, "सदेव न जन्यते" [ ] इति त्वदभिप्रायात् सत एव जन्यमानत्वानुपपत्तेः; कार्यत्वस्य च कादाचित्कत्वेन सिद्धत्वात्। नाप्यहेतुकत्वम्, कादाचित्कत्वेनैव, अहेतुत्वे तदयोगात्। नाप्यदृश्यहेतुकत्वम्, ३५ धूमस्याग्न्यादिसामग्र्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानात्। अथापि स्याद् अदृश्यस्यायं स्वभावो यदग्न्यादिसन्निधान एव धूमम्, कर्पूरोर्णादिदाहकाले सुगन्धादियुक्तं च करोति नान्यदेति, तत् किमग्निमन्तरेण कदाचिद् धूमोत्पत्तिर्दृष्टा येनैवमुच्यते? नेति चेत्, कथं नाग्निकार्यो धूमस्तद्भावे भावात्? धूमोत्पत्तिकाले च सर्वदा प्रतीयमानोऽग्निः काकतालीयन्यायेन व्यवस्थित इत्यलौकिकम्। अथ स एवादृश्यस्य स्वभावो यदग्निसन्निधान एव धूमं करोति; ननु यद्यग्निना नासावुपक्रियते किमग्निसन्निधानाद् न पूर्वं ४० पश्चाद् वा धूमं विदधाति? न चान्यदा करोतीति तस्य तज्जन्यस्वभावस्याप्येक्षस्य धूमजनने तदेव

१ पृ० ४६ पं० ३। २ पृ० ४६ पं० १६। ३ पृ० ५० पं० ३५। ४ कार्यधर्मानुवृत्तितः वा०। ५-च च प्रमाणं भां०, मां०। ६ कार्यस्य च वा०, बा० विना। ७-वादृश्यस्वभावो भा०। ८ तदेवं भां०, गु०।

पारंपर्येणाग्निजन्यत्वं धूमस्य। किंच, यथा देश-कालादिकमन्तरेण धूमस्यानुत्पत्तेस्तदपेक्षा प्रतीयते तथाऽग्निमन्तरेणापि धूमस्यानुत्पत्तिदर्शनात् तदपेक्षा केन वार्यते? तदपेक्षा च तत्कार्यतैव। यथा चादृश्यभावे एव धूमस्य भावात् तज्जन्यत्वमिष्यते तथा सर्वदाऽग्निभावे एव धूमस्य भावदर्शनात् तज्जन्यता किं नेष्यते? यावतां च सन्निधाने भावो दृश्यते तावतां हेतुत्वं सर्वेषामित्यग्न्यादिसाम-
१५ ग्रीजन्यत्वाद् धूमस्य कुतोऽग्निव्यभिचारः?

न चायं प्रकारोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोः संभवति, असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानस्य वचने अदर्शनात्। तथाहि—यदि सर्वज्ञत्वादन्यत् पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमसर्वज्ञत्वमुच्यते तदा तद्धर्मानुविधानाऽदर्शनान्न तज्जन्यता वचनस्य। नहि किञ्चिज्ज्ञत्वतरतमभावात् वचनस्य तरतमभाव उपलभ्यते। तथाहि—किञ्चिज्ज्ञत्वं प्रकृष्टम् अल्पल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तेषु वचनप्रवृत्तेरुत्कर्ष उपलभ्यते। अथ
१० प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं तु वचनं तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्, न च कदाचनापि तत् तत्रोपलभ्यते।

ज्ञानातिशयवत्सु च सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनस्यातिशयभावो दृश्यते इति ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात् तत्कार्यता तस्य—धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिनो—यथोक्तप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां व्यवस्थाप्यते। अत एव कारणगतधर्मानुविधानमेव कार्यस्य तत्कार्यतावगमनि-
१५ मित्तम् न पुनरन्वय-व्यतिरेकानुविधानमात्रम्। तदुक्तम्—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यं धर्मानुवृत्तितः"। [ ] इति।

यच्च यत्कार्यत्वेन निश्चितं तत् तदभावे न कदाचिदपि भवति, अन्यथा तद्धेतुकमेव तन्न स्यादिति सकृदपि ततो न भवेत्; भवति च यद् यत्र निश्चिताविसंवादं वचनं तत् तदविसंवादिज्ञानविशेषाद् इत्यात्मन्येवासकृन्निश्चितमिति नान्यतस्तस्य भावः; तेन—

२० "यद् यस्यैव गुण-दोषान् नियमेनानुवर्त्तते।
तन्नान्तरीयकं तत् स्यादतो ज्ञानोद्भवं वचः"॥ [ ]

अथ यदि नामाविसंवादिज्ञानधर्मानुकरणतोऽविसंवादि वचनमेकं तत्प्रभवं यथोक्तप्रत्यक्षाऽनुपलम्भतोऽवगतं तदन्यतो न भवति, तथाप्यन्यवचनस्य तद्धर्मानुकरणतो न तत्कार्यत्वसिद्धिरिति तस्यान्यतोऽपि भावसंभवात् कुतोऽव्यभिचारः? न; ईदृग्भूतं वचनमीदृक्षज्ञानतः सर्वत्र भवतीति सकृत्प्रवृ-
२५ त्तप्रत्यक्षतोऽवगमात्। ननु सकलव्यक्त्यनुगततिर्यक्सामान्यानभ्युपगमे यावन्ति तथाभूतवचांसि तानि सर्वाणि प्रत्यक्षीकरणीयानि तथाभूतज्ञानकार्यतया, अन्यथैकस्यापि वचसस्तथ्यासतयाऽप्रत्यक्षीकरणे तेनैव व्यभिचारी हेतुः स्यात्; न चैतावत्प्रत्यक्षीकरणसमर्थं प्रत्यक्षम्, तस्य सन्निहितविषयत्वात्; न चान्येषां स्वलक्षणानामनुमानात् साध्यधर्मेण व्याप्तिग्रहणम्, अनवस्थाप्रसङ्गात्; तदयुक्तम्; यतः प्रत्यक्षं तथाभूतज्ञानसन्निधान एव तथाभूतवचनमेद्रात् (दान्) प्रतिपद्य एषु'अतथाभूतवचनव्यावृत्तं रूपम-
३० तथाभूतज्ञानव्यावृत्तज्ञानजन्यम्'इत्यवधारयति, यथाऽत्र तथाऽन्यत्रापि देश-कालादौ 'तथाभूतज्ञानजन्यमेव'इत्यप्यवधारयति; अन्यथाऽत्रापि तथाभूतज्ञानजन्यतया न प्रत्यक्षेणावधार्येत। एवं हि तथाभूताऽतथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतवचनस्य प्रतीतिः स्यात् न तथाभूतज्ञानजन्यतयैव; प्रतीयते च तथाभूतज्ञानजन्यतया तथाभूतं वचनम्; तस्मादन्यत्रान्यदा च तथाभूतज्ञानादेव तथाभूतवचनमिति कुतो व्यभिचारः? यश्च तद्रूपमन्यतो व्यावृत्तमवधारयितुं शक्नोति तस्यैव तदनुमानम्, यथा बाष्पा-
३५ दिवि लक्षणधूमावधारणेऽप्यनुमानम्। किंच, तिर्यक्सामान्यवादिनोऽपि गोपालघटिकादौ धूमसामान्यस्याग्निमन्तरेणापि दर्शनाद् व्यभिचाराशङ्कयाऽग्निनियतधूमसामान्यावधारणेनैव तदनुमानम्; अग्निनियतधूमसामान्यावधारणं चाग्निसंबद्धधूमव्यक्त्यवधारणपुरस्सरमेव; न च सर्वदेशाद्यग्निसंबद्धधूमव्यक्तिविशिष्टस्य धूमसामान्यस्य केनचित् प्रमाणेनावधारणं संभवति, न च महानसाद्यग्निनियतधूमव्यक्तिविशिष्टं धूमसामान्यं प्रतिपन्नमन्यत्रानुयायि, व्यक्तेरनन्वयात्; यच्च धूमसामान्यमनुयायि तद्
४० नाग्न्यव्यभिचारि; तस्मात् सामान्यव्याप्तिग्रहणवादिनामपि कथं विशिष्टधूमसामान्यं सर्वत्राग्निना व्याप्तं प्रतिपन्नमिति तुल्यं चोद्यम्। अथ विशिष्टधूमसामान्यत्राग्निजन्यत्वे न किञ्चिद् बाधकमस्ति, 'तदेवेदम्' इति च प्रतीतेः तत्सामान्यं प्रतीतमिष्यते, अस्माकमपि 'तदेवेदं वचनम्' इति प्रत्ययस्योत्पत्तेस्तत् प्रतिपन्नमिति सदृशपरिणामलक्षणसामान्यवादिनो जैनस्य भवतो वा को विशेषोऽत्र वस्तुनि? इति

१–त्र प्रगयनी–वा०, भां०, मा०। २ तथाभूतानथाभूतवचनस्य भां०, वां०, मां०। ३ तथाभूतवचनम् गु०

यत्किञ्चिदेतत्। तेनाग्निगमकत्वेन धूमस्य यो न्यायः सोऽत्रापि समान इति विशिष्टज्ञानगमकत्वं विशिष्टशब्दस्याभ्युपगन्तव्यम्।

अथ ज्ञानविशेषग्रहणे प्रवृत्तं सविकल्पकं निर्विकल्पकं वा ततो भिन्नमभिन्नं वा ज्ञानं न वचनविशेषे प्रवर्त्तते, तस्य तदानीमनुत्पन्नत्वेनासत्त्वात्; तदग्रवृत्तेन च ज्ञानविशेषस्वरूपमेव तेन गृह्यते न तदपेक्षया तस्य कारणत्वम्, वचनविशेषग्राहकेणापि तत्स्वरूपमेव गृह्यते न पूर्वं प्रति कार्यत्वम्, कारणस्यातीतत्वेनाग्रहणात्; नाप्युभयग्राहिणा, भिन्नकालत्वेन तयोरेकज्ञाने प्रतिभासनाऽयोगात्; अत एव स्मरणमपि न तयोः कार्यकारणभावावेदकम्, अनुभवानुसारेण तस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः, अनुभवस्य चात्र वस्तुनि निषिद्धत्वात्; असदेतत्; यतः कार्यस्य न तावदसावनुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः, असत्त्वात् तदानीम्; नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तभिन्नं तत्, तद्धर्मत्वादेव। तथा, कारणस्यापि कारणत्वं कार्यनिष्पत्त्यऽनिष्पत्त्यवस्थायां न भिन्नमेव। नापि तयोः कार्यकारणभावः संबन्धोऽन्योऽस्ति, भिन्नकालत्वादेव; संबन्धस्य च द्विष्ठत्वाभ्युपगमात्। ततस्तत्स्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदभिन्नस्वभावधर्मरूपं कारणत्वं कार्यत्वं च गृह्यते एव क्षयोपशमवशात्; यत्र तु स नास्ति तत्र कार्यदर्शनादपि न तन्निश्चीयते, यतो नाकार्य-कारणयोः कार्यकारणभावः संभवति। नापि तेनाभिन्ना उत्तरकालं तयोः कार्यकारणता कर्त्तुं शक्या, विरोधात्। नापि भिन्ना, तयोः स्वरूपेणाकार्यकारणताप्रसङ्गात्। नापि स्वरूपेण कार्य-कारणयोरर्थान्तरभूतकार्यकारणभावस्वरूपसंबन्धपरिकल्पनेन प्रयोजनम्, तद्व्यतिरेकेणापि स्वरूपेणैव कार्यकारणरूपत्वात्। न च भिन्नपदार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वयं द्वितीयाग्रहणे तदपेक्षं कार्यत्वं कारणत्वं वा ग्रहीतुमशक्तमिति वक्तुं युक्तम्, क्षयोपशमवतां धूममात्रदर्शनेऽपि वह्निजन्यतावगमस्य भावात्; अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येन तस्यानवधारणात् ततोऽनलावगमाभावेन सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामाऽपरित्यागवता कार्यस्वरूपग्राहिणा च प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमे न कश्चिद् दोषः। न च कारणस्वभावावभासं प्रत्यक्षं न कार्यस्वरूपावभासयुक्तं प्रतिभासभेदेन भेदोपपत्तेरिति प्रेरणीयम्, चित्रप्रतिभासिज्ञानस्य नीलप्रतिभासाऽपरित्यागप्रवृत्तपीतादिप्रतिभास्यैकत्ववत् प्रकृतज्ञानस्यापि तदविरोधात्। न च चित्रज्ञानस्याप्येकत्वमसिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे नीलप्रतिभासस्यापि प्रतिपरमाणुभिन्नप्रतिभासत्वेन भिन्नत्वात् एकपरमाण्ववभासस्य चाऽसंवेदनात् प्रतिभासमात्रस्याप्यभावप्रसङ्गात् सर्वव्यवहाराभावः स्यात्। अतः प्रत्यक्षमेव यथोक्तप्रकारेण सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमनुमानवादिनाऽभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा प्रसिद्धानुमानस्याप्यभावः स्यात्। अथैतदव्यापारेण प्रत्यक्षं कर्तुमसमर्थम् तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्त्या तन्मात्रग्राहकत्वात् तर्हि प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणाभावेऽनुमानेन तद्ग्रहणेऽनवस्थे-तरेतराश्रयदोषसद्भावादनुमानाप्रवृत्तिप्रसङ्गतो व्यवहारोच्छेदभयादवश्यमनुमानप्रवृत्तिनिबन्धनाविनाभावनिश्चायकमपरमस्पष्टसर्वपदार्थविषयमूहाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा 'सर्वमुभयात्मकं वस्तु' इति कुतोऽनुमानप्रवृत्तिर्मीमांसकस्य? ततोऽसर्वज्ञत्व-रागादिमत्त्वसाधने वक्तृत्वलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धस्य तत्साधकप्रमाणस्य च प्रसिद्धानुमाने इवाभावान्न प्रसङ्गसाधनानुमानप्रवृत्तितः सर्वज्ञाभावसिद्धिः। विपर्ययेण वचनविशेषस्य व्याप्तत्वदर्शनाद् विपर्ययसिद्धिरेव ततो युक्ता।]

यच्च 'सर्वज्ञज्ञानं किं चक्षुरादिजनितम्' इत्यादि पक्षचतुष्टयमुत्थाप्य 'चक्षुरादिजन्यत्वेन चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन धर्मादिग्राहकत्वायोगस्तज्ज्ञानस्य' दूषणमभ्यधायि, तदप्यसङ्गतम्; धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्य चक्षुरादिज्ञाने प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अभ्यासपक्षे तु यद् दूषणमभ्यधायि 'न सकलपदार्थविषय उपदेशः संभवति, नापि समस्तविषयोऽभ्यासः' इति, तदपि न सम्यक्; "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" [त० अ० ५, सू० २९] इति सकलपदार्थविषयस्योपदेशस्य सामान्यतः संभवात्। न चास्याऽप्रामाण्यम्, अनुमानादिप्रमाणसंवादतः प्रामाण्यसिद्धेः। अनुमानादिप्रवर्त्तनद्वारेण चैतदर्थाभ्यासे कथं न सकलविषयाभ्याससंभवः? यदपि 'न च समस्तपदार्थविषयमनुपदेशज्ञानं संभवति' इत्युक्तम्, तदप्यचारु; 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यनुमाननिबन्धनव्याप्तिप्रसाधकप्रमाणस्य सकलपदार्थविषयस्य संभवात्; अन्यथाऽनुमानाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। न च तज्ज्ञानवत एव सर्वज्ञत्वाद् व्यर्थोऽभ्यासः, सामान्यविषयत्वेनास्पष्टरूपत्वेनास्य ज्ञानस्य भावात्, अभ्यासजस्य च सकलतद्गतविशेषविषयत्वेन स्पष्टत्वान्न तदभ्यासो विफलः। यदपि 'तदभ्यासप्रवर्त्तकं चक्षुरा-

१-दपि तन्निश्चीयते मां०। २ पृ० ५१ पं० ३। ३ पृ० ५६ पं० ३३। ४ पृ० ५१ पं० ६। ५ पृ० ५१ पं० १०। ६ प्र० पृ० पं० २५।

दिजनितं यद्यतीन्द्रियविषयम्' इत्याद्यचोदि, तदपि प्रतिक्षिप्तम्; अतीन्द्रियार्थग्राहकत्वस्यान्येन्द्रिय-
विषयग्राहकत्वस्य च प्राक् प्रतिपादनात् व्यवहारोच्छेदाभावस्य च दर्शितत्वात्। अतीन्द्रियेऽपि च
कालादौ विशेषणभूते चक्षुरादेः प्रवृत्तिप्रतिपादनाच्च इतरेतराश्रयत्वदोषस्याप्यनवकाशः पूर्वपक्षप्रति-
पादितस्य। शब्दज्ञानजनितज्ञानपक्षे तु इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गापादनमप्ययुक्तम्, कारणपक्षे तद-
५संभवात्; अन्यसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वेन ज्ञानस्य कथमितरेतराश्रयत्वम्? तदागमप्रणेतुरप्यन्य-
सर्वज्ञप्रणीतागमपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात् सा चेष्यत एव; अनादित्वादागम-सर्वज्ञपरम्परायाः।
यदप्यचोदि 'शब्दजनितं ज्ञानमस्पष्टाभम्, तज्ज्ञानवतः कथं सकलज्ञत्वम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; नहि
शब्दजनितेन ज्ञानेनाभ्यासानासादितवैशद्येन सकलज्ञोऽभ्युपगम्यते–येनायं दोषः स्यात्–किन्त्व-
भ्यासासादितसकलविशेषसाक्षात्कारित्वलक्षणनैर्मल्यवता। अत एव 'प्रेरणाजनितं ज्ञानमस्मदादीनाम-
१०प्यतीताऽनागत-सूक्ष्मादिपदार्थविषयमस्तीति सर्वज्ञत्वं स्यात्' इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्; अभ्यास-
जस्य स्पष्टविज्ञानस्य सकलपदार्थविषयस्यास्मदादीनामभावात्। 'लिङ्गजनितत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रि-
यधर्मादिपदार्थसंबन्धानवगमाद् लिङ्गस्यानवगतसाध्यसंबन्धस्य च तस्य धर्मादिसाध्यानुमापकत्वा-
संभवात्' इत्यादि यत्, तदप्यसङ्गतम्; अवगतधर्माद्यतीन्द्रियसाध्यसंबन्धस्य हेतोः प्रसिद्धत्वात्।
तथाहि–स्वविषयग्रहणक्षमस्य ज्ञानस्य तद्ग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसंबन्धपूर्वकं पीतहृत्पूरपुरुषज्ञानस्येव;
१५'सर्वमनेकान्तात्मकम्' इति सकलसामान्यविषयस्य च ज्ञानस्य तद्गताशेषविशेषाग्राहकत्वं सुप्रसिद्धमिति
भवति पौद्गलिकाऽतीन्द्रियधर्मादिसिद्धिरतो हेतोः। यदप्युक्तम् 'अनुमानज्ञानेन सकलज्ञत्वाभ्युपग-
मेऽस्मदादीनामपि तत् स्यात्, भावनाबलात् तद्वैशद्ये तु कामादिविप्लुतविशदज्ञानवत् इयासर्वज्ञत्वम्;
तज्ज्ञानस्य तद्वद् उपप्लुतत्वप्राप्तेः' इति, तदप्यचारु; यतो भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवतीत्येतावन्मा-
त्रेण दृष्टान्तस्योपात्तत्वाद् न सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यासञ्जनं युक्तम्; तथाऽभ्युपगमे सकला-
२०नुमानोच्छेदप्रसक्तेः। न चानुमानगृहीतस्यार्थस्य भावनाबलाद् वैशद्यं तत्प्रतिभासिन्यभ्यासजे ज्ञानेऽनु-
भवतो वैपरीत्यसंभवो येन तदवभासिनो ज्ञानस्य कामाद्युपप्लुतज्ञानस्येवोपप्लुतत्वं स्यात्। यदप्यभ्यधायि
'रजो-नीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनवद् रागाद्यावरणाभावे सर्वज्ञज्ञानं वैशद्यभाग् भविष्यति' 'न
च रागादीनामावारकत्वं सिद्धम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; कुड्यादीनामप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यामावार-
कत्वासिद्धेः। तथाहि–सत्यस्वप्नप्रतिभासस्यार्थग्रहणे न कुड्यादीनामावारकत्वम्, निश्छिद्रापवरकम-
२५ध्यस्थितेनापि भाव्यतीन्द्रियाद्यर्थस्यान्तरावरणाभावे प्रमाणान्तरसंवादिन उपलम्भात्; कुड्यादीनां
त्वावरणत्वे तद्दर्शनमसंभव्येव स्यात्, तथाप्रतिभासेनादृष्टार्थेऽपि कुड्यादीनां नावारकत्वम्। यच्च
प्रातिभं ज्ञानं जाग्रदवस्थायां शब्द-लिङ्गाऽक्षव्यापाराभावेऽपि 'श्वो भ्राता मे आगन्ता' इत्याद्याकार-
मुत्पद्यमानमुपलभ्यते तत्र कुड्यादीनां कथमावारकत्वम्? कथं वा विज्ञानस्य नातीन्द्रियविशेषणभूत-
श्वस्तनकालाद्यवभासकत्वम् अनिन्द्रियजस्य च ज्ञानस्य बाह्य-सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारित्वं न सिद्धम्
३०येन 'सर्वज्ञज्ञानस्यानक्षजत्वे बाह्याऽतीन्द्रियादिसकलपदार्थसाक्षात्करणं स्पष्टत्वं च न स्यात्' इत्यादि
प्रेर्येत?। अत एव सकलपदार्थग्रहणस्वभावस्य ज्ञानस्य इन्द्रियादिजन्यत्वात् एव प्रतिनियतरूपादिग्रा-
हकत्वनियमोऽवसीयते, प्रातिभादौ तदजन्ये तस्याभावात्। सकलज्ञानं चातीन्द्रियमिति कथं "येऽपि
सातिशया दृष्टाः" इत्यादि तथा "यत्राप्यतिशयो दृष्टः" [श्लो० वा० सू० २, श्लो० ११४] इत्यादि च
दूषणं तत्र क्रमते? न हि ज्ञानस्याशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्य कश्चित् प्रतिनियतो रूपादिकः स्वार्थः
३५संभवति इत्यसकृदावेदितम्।

अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिकः क्षयः, कथं वाऽभ्यस्यमानमप्यविशदं ज्ञानं
लङ्घनोदकतापादिवत् प्रकृष्टप्रकर्षावस्थाम् वैशद्यं चाऽप्राप्नोतीति? नैतत् प्रेर्यम्; यतो यदि रागादीना-
मावारकत्वादिस्वरूपं न ज्ञायेत, नित्यत्वमाकस्मिकत्वं वा तेषां स्यात्, तदन्तूनां वा स्वरूपापरिज्ञानं

१ पृ० ५१ पं० ११। २ पृ० ५६ पं० १५–पृ० ५७ पं० ४। ३ पृ० ५१ पं० १८। ४ पृ० ५६ पं० २४।
५ पृ० ५१ पं० १९। ६ पृ० ५१ पं० २१। ७ पृ० ५१ पं० २५। ८ पृ० ५१ पं० २६। ९ पृ० ५१ पं० २७।
१०–दन्यं च भां०, मा०, मु०। ११–प्रनीत–मा०। १२ पृ० ५१ पं० १०–१५। १३ पृ० ५१ पं० १६।
१४–न्द्रियार्थस्या–मु० १५–भासे माऽदृष्टार्थेऽपि कुड्यादीनामावारकत्वम् भां०। १६–विशेषभूत–ब० सि०।
१७ पृ० ४९ पं० १०। १८ पृ० ४९ पं० १२। १९ दि शब्दज्ञा–भा०, मि०। २०–मावरणत्वे भां०।

नित्यत्वं वा संभाव्येत, तद्विपक्षस्य वा स्वरूपतोऽज्ञानं अनभ्यासश्च स्यात् तदेतन्न स्यादपि; यावता रागादीनां ज्ञानावरणहेतुत्वेनावरणस्वरूपत्वं सिद्धम्। न च तेषां नित्यत्वम्, तत्सद्भावे सर्वज्ञज्ञानस्य प्रतिपादयिष्यमाणप्रमाणनिश्चितस्याभावप्रसङ्गात्। नाप्याकस्मिकत्वम्, अत एव। न चैषामुत्पादको हेतुर्नावगतः, मिथ्याज्ञानस्य तज्जनकत्वेन सिद्धत्वात्। न च तस्यापि नित्यत्वम्, अन्यथाऽविकलकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य भावे प्रबन्धप्रवृत्तरागादिदोषसद्भावात् तदावृतत्वेन सर्वविद्विज्ञानस्याभावः ५ स्यादिति स एव दोषः। आकस्मिकत्वेऽपि मिथ्याज्ञानस्य हेतुव्यतिरेकेणापि प्रवृत्तेस्तत्कार्यभूतरागादीनामपि प्रवृत्तिरिति पुनरपि सर्वज्ञज्ञानाभावः; अहेतुकस्य च मिथ्याज्ञानस्य देश-काल-पुरुषप्रतिनियमाभावोऽपि स्यादिति न चेतनाऽचेतनविभागः। न च तत्प्रतिपक्षभूतस्योपायस्यापरिज्ञानम्, मिथ्यात्वविपक्षत्वेन सम्यग्ज्ञानस्य निश्चितत्वात्। तदुत्कर्षे मिथ्याज्ञानस्यात्यन्तिकः क्षयः। तथाहि—यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य विपक्षप्रकर्षावस्थागमने भवत्यात्य-१० न्तिकः क्षयः, यथोष्णस्पर्शस्य तथाभूतस्य प्रकर्षगमने शीतस्पर्शस्य तथाविधस्यैव, सम्यग्ज्ञानोपचयतारतम्यानुविधायी च मिथ्याज्ञानापचयतरतमादिभाव इति तदुत्कर्षेऽस्याऽऽत्यन्तिकक्षयसद्भावात् तत्कार्यभूतरागाद्यनुत्पत्तेरावरणाभावः सिद्धः। रागादिविपक्षभूतवैराग्याभ्यासाद् वा रागादीनां निर्मूलतः क्षय इति कथं नावरणाभावः?

न च लङ्घनो-दकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्ज्ञान-वैराग्यादेर्न परप्रकर्षप्राप्तिरिति १५ कुतस्तद्विषये मिथ्याज्ञानाभावाद् रागादेरात्यन्तिकोऽनुत्पत्तिलक्षणः क्षयलक्षणो वाऽभाव इति वक्तुं युक्तम्, यतो लङ्घनं हि पूर्वप्रयत्नसाध्यं यदि व्यवस्थितमेव स्यात् तदोत्तरप्रयत्नस्यापरापरलङ्घनातिशयोत्पत्तौ व्यापारात् भवेल्लङ्घनस्याप्यनपेक्षितपूर्वातिशयसद्भावप्रयत्नान्तरस्य प्रकर्षावाप्तिः; न चैवम्, अपरापरप्रयत्नस्य पूर्वपूर्वातिशयोत्पादने एवोपक्षीणशक्तित्वात्। अथैतत् स्यात्—यदि तत्रापि पूर्वप्रयत्नोत्पादितोऽतिशयो न व्यवस्थितः स्यात्, तत्किमिति प्रथममेव २० यावल्लङ्घयितव्यं तावन्न लङ्घयति? तल्लङ्घनाभ्यासापेक्षणात् पूर्वप्रयत्नाहितातिशयसद्भावेऽपि न लङ्घनप्रकर्षप्राप्तिरिति यथा तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता तथा ज्ञानस्यापि भविष्यति, न; यतः श्लेष्मादिना प्राक् शरीरस्य जाड्याद् यावल्लङ्घयितव्यं न तावद् व्यायामानपनीतश्लेष्माऽनासादितपटुभावः कायो लङ्घयति; अभ्यासासादितश्लेष्मक्षय-पटुभावस्तु यावल्लङ्घयितव्यं तावल्लङ्घयतीत्यभ्यासस्तत्र सप्रयोजनः। ज्ञानस्य तु योऽभ्याससमासादितोऽतिशयः सोऽतिशयान्तरोत्पत्तौ २५ पुनः प्राक्तनाभ्यासापेक्षो न भवतीत्युत्तरोत्तराभ्यासानामपरापरातिशयोत्पादने व्यापाराद् न व्यवस्थितोत्कर्षतेति भवति ज्ञानस्य परप्रकर्षकाष्ठा। उदकतापे त्वतिशयेन क्रियमाणे तदाश्रयस्यैव क्षयाद् नातिताप्यमानमप्युदकमग्निरूपतामासादयति; विज्ञानस्य त्वाश्रयोऽत्यभ्यस्यमानेऽपि तस्मिन् न क्षयमुपयातीति कथं तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता? न च विज्ञानमपि प्राक्तनाभ्यासादासादितातिशयं पूर्वमेव विनष्टम् अपराभ्यासादन्यदतिशयवदुत्पन्नमिति कथं पूर्वाभ्याससमासादितोऽतिशयो ३० नाभ्यासान्तरापेक्षो येन व्यवस्थितोत्कर्षता तस्यापि न स्यादिति वक्तुं युक्तम्, तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्तेः; अन्यथा शास्त्रपरावर्त्तनादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि 'यदुपचयतारतम्यानुविधायी यदपचयतरतमभावस्तस्य तद्विपक्षप्रकर्षगमनादात्यन्तिकः क्षयः' इत्यत्र प्रयोगे श्लेष्मणा व्यभिचार उद्भावयितुं शक्यः किल—निम्बाद्यौषधोपयोगात् प्रकर्षतारतम्यानुभववतस्तरतमभावापचीयमानस्यापि श्लेष्मणो नात्यन्तिकक्षय इति—यतस्तत्र निम्बाद्यौषधोपयोगस्यैव नोत्कर्ष-३५ निष्ठा आपादयितुं शक्या, तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवाऽऽसेवनात्, अन्यथौषधोपयोगाधारस्यैव विनाशः स्यात्। चिकित्साशास्त्रस्य च धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्तेस्तत्प्रतिपादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधाने एव व्यापारो न पुनस्तस्य निर्मूलने; अन्यथा दोषान्तरस्यात्यन्तक्षये मरणावाप्तेरिति न श्लेष्मणा तथाभूतेनानैकान्तिको हेतुः। न च सम्यग्ज्ञानसात्मीभावेऽपि पुनर्मिथ्याज्ञानस्यापि संभवो भविष्यति तदुत्कर्षे इव सम्यग्ज्ञानस्येति वक्तुं युक्तम्, ४० यतो मिथ्याज्ञाने रागादौ वा दोषदर्शनात्, तद्विपक्षे च सम्यग्ज्ञान-वैराग्यलक्षणे गुणदर्शनात् तत्र

---

१ तदेतन्न वा०, पू०, बा०। २-त्पादहेतु-मा०। ३-लक्षय वि०। ४-तव्यं तत्र लङ्घयति वा०, बा०, पू०। ५-पधोपचारयो-भा०, गु०, ६-कः क्षयः भा०। ७-न्यदा कां० मा०। ८-न-स्यात्मी-भा०।

पुनरभ्यासप्रवृत्तिसंभवात् प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञान-रागादावुत्पद्येते एव सम्यग्ज्ञान-वैराग्ये; नैवं तयोः प्रकर्षावस्थायां दोषदर्शनं तत्र तद्विपर्यये वा गुणदर्शनं येन पुनस्तत्सात्मीभावेऽपि मिथ्याज्ञान-रागादेरुत्पत्तिः संभाव्येत। न चानक्षजस्य ज्ञानस्य सर्ववित्संबन्धिनः कथं प्रत्यक्षशब्दवाच्यतेति वक्तुं युक्तम्, यतोऽक्षजत्वं प्रत्यक्षस्य शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तमेव न पुनः शब्दप्रवृत्तिनिमि-
५त्तम्; तन्निमित्तं हि तदेकार्थाश्रितमर्थसाक्षात्कारित्वम्। अन्यद्धि शब्दस्य व्युत्पत्तौ निमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तौ, यथा गोशब्दस्य गमनं व्युत्पत्तौ, गोपिण्डाश्रितगोत्वं प्रवृत्तौ निमित्तम्—अन्यथा यदि यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावपि तदा गच्छन्त्यामेव गवि गोशब्दप्रवृत्तिः स्यात् न स्थितायाम्, महिष्यादौ च गमनपरिणामवति गोशब्दः प्रवर्त्तेत—तथाऽत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात् प्रत्यक्षव्यपदेशः संभवत्येव। यद्वा यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तावप्यस्तु तथापि तच्छब्दवाच्यता-
१०यास्तत्र नाभावः। तथाहि—'अश्नुते' सर्वपदार्थान् ज्ञानात्मना व्याप्नोतीति व्युत्पत्तिशब्दसमाश्रयणाद् अक्षः आत्मा, तमाश्रितम् उत्पाद्यत्वेन तं प्रति गतमिति प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः। अभ्युपगमवादेन चाभ्यासवशात् प्राप्तप्रकर्षेण ज्ञानेन सर्वज्ञ इति प्रतिपादितम्। न त्वस्माकमयमभ्युपगमः किन्तु ज्ञानाद्यावारकघातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूताशेषज्ञेयव्याप्यनिन्द्रियशब्दलिङ्गसाक्षात्कारिज्ञानवतः सर्वज्ञत्वमभ्युपगम्यते।

१५ यच्चोक्तम् 'यद्यतीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानेन सर्वज्ञस्तदा क्रमेणातीतानागतपदार्थवेदने पदार्थानामानन्त्याद् न ज्ञानपरिसमाप्तिः' इति, तदयुक्तम्; तथाऽनभ्युपगमात्; शास्त्रार्थे क्रमेणानुभूतेऽप्यत्यन्ताभ्यासान्न क्रमेण संवेदनमनुभूयते तद्वदत्रापि स्यात्। यदप्यभ्यधायि 'अथ युगपत्सर्वपदार्थवेदकं तज्ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा परस्परविरुद्धानां शीतोष्णादीनामेकज्ञाने प्रतिभासासंभवात्; संभवेऽपि' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; यतः परस्परविरुद्धानां किमे-
२०कदाऽसंभवः, किंवा संभवेऽप्येकज्ञानेऽप्रतिभासनं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; जलाऽनलादीनां छायाऽऽतपादीनां चैकदा विरुद्धानामपि संभवात्। अथैकत्र विरुद्धानामसंभवस्तदाऽसंभवादेव नैकत्र ज्ञाने तेषां प्रतिभासो न पुनर्विरुद्धत्वात्, विरुद्धानामपि तेषामेकज्ञाने प्रतिभाससंवेदनात्। एतेन 'विरुद्धार्थग्राहकस्य च तज्ज्ञानस्य न प्रतिनियतार्थग्राहकत्वं स्यात्' इत्याद्यपि निरस्तम्, छायाऽऽतपादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्व-
२५संवेदनात्। यच्चोक्तम् 'यदि युगपत्सर्वपदार्थग्राहकं तज्ज्ञानं तदैकक्षण एव सर्वपदार्थवेदनात् द्वितीयादिक्षणे किञ्चिज्ज्ञ एव स स्यात्' इत्यादि, तदप्यत्यन्तासंबद्धम्; यतो यदि द्वितीयक्षणे पदार्थानाम् तज्ज्ञानस्य चाभावः स्यात् तदा स्यादप्येतत्; न चैतत्संभवति, तथाऽभ्युपगमे द्वितीयक्षणे सर्वपदार्थाभावात् सकलसंसारोच्छेदः स्यात्। यदप्यभ्यधायि 'अनाद्यनन्तपदार्थसंवेदने तत्संवेदनस्यापरिसमाप्तिः' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; अत्यन्ताभ्यस्तशास्त्रार्थज्ञानस्येव युगपदनाद्यनन्तार्थग्राहि-
३०णस्तज्ज्ञानस्यापि परिसमाप्तिसंभवात्; अन्यथा भूत-भविष्यत्-सूक्ष्मादिपदार्थग्राहिणः प्रेरणाजनितज्ञानस्यापि कथं परिसमाप्तिः? तत्राप्यपरिसमाप्त्यभ्युपगमे "चोदना भूतं भवन्तं भविष्यन्तम्" इत्यादिवचनस्य नैरर्थक्यं स्यादिति। यदपि 'परस्थरागादिसंवेदने सरागः स्यात्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; नहि परस्थरागादिसंवेदनाद् रागादिमान् भवति; अन्यथा श्रोत्रियद्विजस्यापि स्वप्नज्ञानेन मद्यपानादिसंवेदनाद् मद्यपानदोषः स्यात्। अथाप्यरसनेन्द्रियजं तज्ज्ञानमिति
३५नायं दोषस्तर्हि सर्वज्ञज्ञानमपि नेन्द्रियजमिति कथमशुचिरसास्वाददोषस्तत्रासज्येत? न च रागादिसंवेदनाद् 'रागी' इति लोके व्यवहारः किन्त्वङ्गनाकामनाद्यभिलाषस्वसंविदितस्याशिष्यव्यवहारकारिणः स्वात्मस्वभावस्योत्पत्तेः; न चासौ तत्रेति कथं स रागादिमान्? यदपि 'अथ शक्तियुक्तत्वेन सर्वपदार्थवेदनम्' इत्यादि, तदप्यचारु; यथा उपलब्धिलक्षणप्राप्ते सन्निहितदेशादावनुपलब्धेः 'अपरमत्र नास्ति' इति इदानींतनानामियत्तानिश्चयस्तथा सर्वज्ञस्यापि स्वशक्तिपरिच्छे-
४०दात्; अन्यथा घटादीनामपि क्वचित् प्रदेशेऽभावनिश्चयेऽपरप्रकारासंभवात् सकलव्यवहारविलोपः

---

१ ततोऽत्रा-वा०, पू०, भा०, मां०। २ पृ० ५२ पं० ३। ३ पृ० ५२ पं० ४। ४ पृ० ५२ पं० ६। ५ पृ० ५२ पं० ७। ६ पृ० ५२ पं० ९। ७-दनाद्यन्तार्थ-मां०। ८ पृ० ४३ पं० ४२। ९ पृ० ५२ पं० १०। १०-लाषत्वं स्व-कां०। ११ स्वात्मकं स्वभा-गु०। १२ पृ० ५२ पं० ११।

स्यात् । 'अथ यावदुपयोगिप्रधानपदार्थजातम्' इत्यादि अपि अयुक्तम्, सकलपदार्थज्ञत्वप्रतिपादनात् । अत एव—

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्याद् असति प्रतिबन्धरि ।
सत्येव दाह्ये न ह्यग्निः क्वचिद् दृष्टो न दाहकः ॥" [ ]

इत्यत्र यदुक्तम् "किं सर्वज्ञत्वात्, अथ किञ्चिज्ज्ञत्वाद् इति, नोभयथापि हेतुः । यदि तावत् ५ सर्वज्ञत्वादिति हेत्वर्थः परिकल्प्यते तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरसिद्ध एव; कथं हि तदेव साध्यम् तदेव हेतुः । अथ किञ्चिज्ज्ञत्वादिति हेतुस्तदा विरुद्धता स्यात्; कथं हि किञ्चिज्ज्ञत्वं सर्वज्ञत्वेन विरुद्धं सर्वज्ञत्वं साधयेत् ? अथ ज्ञत्वमात्रं हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः, ज्ञत्वमात्रस्य किञ्चिज्ज्ञत्वेनाप्यविरोधात्" इति, तदपि निरस्तम्; सामान्येन 'सर्वज्ञत्वात्' इत्यस्य हेतुत्वात् विशेषेण तज्ज्ञत्वस्य साध्यत्वात् सामान्य—विशेषयोश्च भेदस्य कथञ्चित् प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् सामान्येन सर्वज्ञत्वस्य चानुमान- १० व्यवहारिणं प्रति साधितत्वात् । एतेन 'सूक्ष्माऽन्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्' इत्यत्र प्रयोगे प्रमेयत्वहेतोर्यद् दूषणमुपन्यस्तं पूर्वपक्षवादिना तदपि निरस्तम्, सर्वसूक्ष्माऽन्तरित-पदार्थानां व्याप्तिप्रसाधकेनानुमानप्रमाणेन वा एकेन सामान्यतः प्रमेयत्वस्य प्रसाधितत्वात् ।

यच्च 'प्रधानपदार्थपरिज्ञानं न सकलपदार्थज्ञानमन्तरेण संभवति' इति, तत् सर्वज्ञवचनामृतलवास्वादसंभवो भवतोऽपि कथञ्चित् संपन्न इति लक्ष्यते । तथाहि तद्वचः— . १५

"जे एगं जाणइ" [आचा० प्र० श्रु० अध्य० ३, उ० ४ सू० १२२] इत्यादि ।

तन्मतानुसारिभिः पूर्वाचार्यैरप्ययमर्थो न्यगादि—

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः" ॥ [ ]

अस्यायमर्थः-न ह्यसर्वविदा कश्चिदेकोऽपि पदार्थस्तत्त्वतो द्रष्टुं शक्यः, एकस्यापि पदार्थस्यानुगत- २० व्यावृत्तधर्मद्वारेण साक्षात् पारंपर्येण वा सर्वपदार्थसंबन्धिस्वभावत्वात्; तत्स्वभावाऽवेदने च तस्याऽवेदनमेव परमार्थतः ततस्तज्ज्ञानं स्वप्रतिभासमेव वेत्तीति नार्थो विदितः स्यात्, केवलं तत्राभिमानमात्रमेव लोकस्य । अथ संबन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति, यत् केवलं प्रत्यक्षप्रतीतं सन्निहितमात्रं स एव वस्तुस्वभावः, संबन्धिता तु तत्र परिकल्पितैव पदार्थान्तरदर्शनसंभवतया । तथा चोक्तम्— २५

"निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना ।
संबध्यते कल्पनया, किमकार्यं कथञ्चन ?" ॥ [ ] इति,

तदेतदयुक्तम्; एवं हि परिकल्प्यमाने स्वरूपमात्रसंवेदनाद् अद्वैतमेव प्राप्तम्, ततः सर्वपदार्थाभावे व्यवहाराभावः । अथ व्यवहारोच्छेदभयात् पदार्थसद्भावोऽभ्युपगम्यते तर्हि सर्वपदार्थसंबन्धिताऽपि साक्षात् पारंपर्येण च पदार्थस्वभावोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा साक्षात् पारंपर्येण वाऽन्यप- ३० दार्थजन्यजनकतालक्षणसंबन्धिताऽनभ्युपगमे तद्व्यावृत्त्यनुगतिसंबन्धिताऽनभ्युपगमे च पदार्थस्वरूपस्याप्यभावः । तत्पदार्थपरिज्ञाने च तद्विशेषणभूता तत्संबन्धिताऽपि ज्ञातैव, अन्यथा तस्य तत्परिज्ञानमेव न स्यात्; तत्परिज्ञाने च सकलपदार्थपरिज्ञानमस्मदादीनामनुमानतः, सर्वज्ञस्य च साक्षात् तज्ज्ञानेन सकलपदार्थज्ञानम् । लोकस्तु प्रत्यक्षेण कथञ्चित् कस्यचित् प्रतिपत्ता । तथाहि— धूमस्याप्यग्निजन्यतया प्रतिपत्तौ बाष्पादिव्यावृत्तधूमस्वरूपप्रतिपत्तिः; अन्यथा व्यवहाराभावः । ३५ तथा नीलादिप्रतिभासस्य बाह्यार्थसंबन्धितयाऽप्रतिपत्तौ बाह्यार्थाप्रतिपत्तिरेव स्यात् । तस्मात् संबन्धितयैव पदार्थस्वरूपप्रतिपत्तिः; तच्च संबन्धित्वं प्रमेयमनुमानेन प्रतीयतेऽभ्यासदशायामस्मदादिभिः; यत्र क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तत्र तस्य प्रत्यक्षतोऽपि प्रतिपत्तिरिति कथं न प्रधानभूतपदार्थवेदने सकलपदार्थवेदनम् एकवेदनेऽपि सकलवेदनस्य प्रतिपादितत्वात् ?

---

१ पृ० ५२ पं० १७ । २–क्तम् "ज्ञत्वात् सर्वज्ञ इति किं सर्व–मा० । ३ पृ० ४४ पं० १८ । ४–यत्वस्य हे–मा० । ५ पृ० ५५ प० ३१ । ६ पृ० ५२ प० १८ । ७ नयचक्रस्य प्रान्तभागे तु एवमुपलभ्यते "एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः । एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः" इति–(हा० लि० पृ० ४७३) ८–तस्तज्ज्ञानं का०, गु० । ९–ण वाऽ–मा० । १०–स्य वाष्पबाह्या–मा० । –स्य प्रामाण्यबाह्या–वा० ।–स्य प्राप्यबाह्या–भा० । ११ यत्र तु क्ष–मा० । १२ प्र० पृ० पं० १८ ।

विकल्पाभावेऽपि मन्त्राविष्टकुमारिकादिवचनवन्नित्यसमाहितस्यापि वचनसंभवाद् 'विकल्पाभावे कथं वचनम्' इत्यादि[१] निरस्तम्। दृश्यते चात्यन्ताभ्यस्ते विषये व्यवहारिणां विकल्पनमन्तरेणापि वचनप्रवृत्तिरिति कथं ततः सर्वज्ञस्य छाद्मस्थिकज्ञानासञ्जनं युक्तम्? यदप्युक्तम्[२] 'अतीतादेरसत्त्वात् कथं तज्ज्ञानेन ग्रहणम्, ग्रहणे वाऽसदर्थग्राहित्वात् तज्ज्ञानवान् भ्रान्तः स्यात्' इत्यादि,
५ तदप्ययुक्तम्; यतः किमतीतादेरतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वम्, उत तज्ज्ञानकालसंबन्धित्वेन? यद्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनेति पक्षः, स न युक्तः; वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसंभवात्। अथातीतादेः कालस्याभावात् तत्संबन्धिनोऽप्यभावः, तदसत्त्वं च प्रतिपादितं[३] पूर्वपक्षवादिनाऽनवस्थे-तरेतराश्रयादिदोषप्रतिपादनेन; सत्यम्, प्रतिपादितं न च सम्यक्; तथाहि—नास्माभिरपरातीतादिकालसंबन्धित्वादस्यातीतादित्वमभ्युपगम्यते—येना-
१० नवस्था स्यात्—नापि पदार्थानामतीतादित्वेन कालस्यातीतादित्वम्—येनेतरेतराश्रयदोषः-किन्तु स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वम्। तथाहि-अनुभूतवर्त्तमानत्वः समयोऽतीत इत्युच्यते, अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागतः; तत्संबन्धित्वात् पदार्थस्याप्यतीताऽनागतत्वे अविरुद्धे। 'अथ यथाऽतीतादेः समयस्य स्वरूपेणैवातीतादित्वं तथा पदार्थानामपि तद्भविष्यतीति व्यर्थस्तदभ्युपगमः'[४] एतच्चात्यन्तासङ्गतम्, न ह्येकपदार्थधर्मस्तदन्यत्राप्यासञ्जयितुं युक्तः; अन्यथा निम्बादेस्ति-
१५ क्तता गुडादावप्यासञ्जनीया स्यात्। न च साऽत्रैव प्रत्यक्षसिद्धा इत्यन्यत्रासञ्जने तद्विरोध इत्युत्तरम्, प्रकृतेऽप्यस्योत्तरस्य समानत्वात्। भवतु पदार्थधर्म एवातीतादित्वं तथापि नास्माकमभ्युपगमक्षतिः, विशिष्टपदार्थपरिणामस्यैवातीतादिकालत्वेनेष्टेः—

"परि[५]णाम-वर्त्तना-विधि-(वर्तना-विधि-)[६] पराऽपरत्व"-[प्रशमर० प्र० श्लो० २१८]

इत्याद्यागमात्। तथाहि-स्मरणविषयत्वं पदार्थस्यातीतत्वमुच्यते, अनुभवविषयत्वं वर्त्तमानत्वम्,
२० स्थिरावस्थादर्शनलिङ्गबलोत्पद्यमान'कालान्तरस्थाय्ययं पदार्थः' इत्यनुमानविषयत्वं धर्मोऽनागतकालत्वमिति। तेन यदुच्यते[७] 'यदि स्वत एव कालस्यातीतादित्वं पदार्थस्यापि तत् स्वत एव स्यात्' इति, परेण तत् सिद्धं साधितम्। तद् अतीतादिकालस्य सत्त्वान्न तत्कालसंबन्धित्वेनातीतादेः पदार्थस्याऽसत्त्वम्, वर्त्तमानकालसंबन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वप्रतिपादनेऽभिमतमेव प्रतिपादितं भवति; न ह्यतीतकालसंबन्धित्वसत्त्वमेवैतज्ज्ञानकालसंबन्धित्वमस्मा-
२५ भिरभ्युपगम्यते। न चैतत्कालसंबन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसंबन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वं भवति, अन्यथैतत्कालसंबन्धित्वस्याप्यतीतादिकालसंबन्धित्वेनासत्त्वात् सर्वाभावः स्यादिति सकलव्यवहारोच्छेदः। अथापि स्यात्-भवत्वतीतादेः सत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञाने न तस्य प्रतिभासः, तज्ज्ञानकाले तस्यासन्निहितत्वात्; सन्निधाने वा तज्ज्ञानावभासिन इव वर्त्तमानकालसंबन्धिनोऽतीतादेरपि वर्त्तमानकालसंबन्धित्वप्राप्तेः। न हि वर्त्तमानस्यापि सन्निहितत्वेन तत्कालज्ञानप्रति-
३० भासित्वं मुक्त्वाऽन्यद् वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम्; एवमतीतादेस्तज्ज्ञानावभासित्वे वर्त्तमानत्वमेवेति वर्त्तमानमात्रपदार्थज्ञानवानस्मदादिवन्न सर्वज्ञः स्यात्। किंच, अतीतादेस्तज्ज्ञानकालेऽसन्निहितत्वेन तज्ज्ञानेऽप्रतिभासः; प्रतिभासे वा स्वज्ञानसंबन्धित्वेन तस्य ग्रहणात् तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातिरूपताप्रसक्तिः, एतदसंबद्धम्; यतो यथाऽसदादीनामसन्निहितकालोऽप्यर्थः सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभाति—न चासन्निहितस्य तस्यातीतादिकालसंबन्धिनो वर्त्तमानकालसंबन्धित्वम्; नापि
३५ स्वकालसंबन्धित्वेन सत्यस्वप्नज्ञाने तस्य प्रतिभासनात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्। यत्र ह्यन्यदेश-कालोऽर्थोऽन्यदेश-कालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति सा विपरीतख्यातिः। अत्र त्वतीतादिकालसंबन्धी अतीतादिकालसंबन्धित्वेनैव प्रतिभातीति न तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य तत्कालसंबन्धित्वेन वर्त्तमानत्वम्, नापि तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वम्—तथा सर्वज्ञज्ञानेऽपि यदाऽतीतादिकालोऽर्थोऽतीतादिकालसंबन्धित्वेन प्रतिभाति तदा कथं तस्यार्थस्य वर्त्तमानकाल-

---

१ पृ० ५२ पं० २१। २ पृ० ५२ पं० २२। ३ पृ० ५२ पं० ३८-पृ० ५३ पं० २। ४ पृ० ५३ पं० ३। ५ प्रशमरतिप्रकरणे "परिणाम-वर्तना-विधि-पराऽपरत्वगुणलक्षण काल" श्लो० २१८। तत्त्वार्थसूत्रे "वर्तना परिणाम क्रिया परत्वाऽपरत्वे च कालस्य" अ० ५, सू० २२। "परिणाम-वर्तना-परत्वाऽपरत्वादयो वस्तुधर्मा स एव च काल" भां० मा० टि०। ६ एष पाठ वा०, बा०, पू०। अन्यत्र वर्धन-ना-दि-परा-। ७ पृ० ५३ पं० ३।

संबन्धित्वम्, कथं वा तज्ज्ञानस्य विपरीतख्यातित्वमिति? यथा वा विशिष्टमन्त्रसंस्कृतचक्षुषाम् अङ्गुष्ठादिनिरीक्षणेनान्यदेशा अपि चौरादयो गृह्यमाणा न तद्देशा भवन्ति, नापि तज्ज्ञानं तद्देशादिसंबन्धित्वमनुभवति, तथा सर्वविद्विज्ञानमप्यसन्निहितकालं यद्यर्थमवभासयति स्वात्मना तत्कालसंबन्धित्वमननुभवदपि तदा को विरोधः, कथं वा तस्यातीतादेरर्थस्य तज्ज्ञानकालत्वमिति? न च सत्यस्वप्नज्ञानेऽप्यतीताद्यर्थप्रतिभासे समानमेव दूषणमिति न तद्दृष्टान्तद्वारेण सर्वज्ञज्ञानमतीताद्यर्थग्राहकं व्यवस्थापयितुं युक्तमिति वक्तुं युक्तम्, अविसंवादवतोऽपि ज्ञानस्य विसंवादविषये विप्रतिपत्त्यभ्युपगमे स्वसंवेदनमात्रेऽपि विप्रतिपत्तिसद्भावाद् अतिसूक्ष्मेक्षिकया तस्यापि तत्स्वरूपत्वासंभवात् सर्वशून्यताप्रसङ्गात्; तन्निषेधस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अतो न युक्तमुक्तम् 'अथ प्रतिपाद्यापेक्षया' इत्यादि 'न भ्रान्तज्ञानवान् सर्वज्ञः कल्पयितुं युक्तः' इतिपर्यन्तम्। यदप्युक्तम् 'भवतु वा सर्वज्ञस्तथाप्यसौ तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं न शक्यते' इत्यादि, तदप्यसंगतम्; यतो यथा सकलशास्त्रार्थापरिज्ञानेऽपि व्यवहारिणा 'सकलशास्त्रज्ञः' इति कश्चित् पुरुषो निश्चीयते तथा सकलपदार्थापरिज्ञानेऽपि यदि केनचित् कश्चित् सर्वज्ञत्वेन निश्चीयते तदा को विरोधः? युक्तं चैतत्; अन्यथा युष्माभिरपि सकलवेदार्थापरिज्ञाने कथं जैमिनिरन्यो वा वेदार्थज्ञत्वेन निश्चीयते? तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थानुसरणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः? इति यत्किञ्चिदेतत् "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्" इत्यादि। तदेवं सर्वज्ञसद्भावग्राहकस्य प्रमाणस्य ज्ञत्व-प्रमेयत्व-वचनविशेषत्वादेर्दर्शितत्वात् तदभावप्रसाधकस्य च निरस्तत्वात् 'ये बाधकप्रमाणगोचरतामापन्नास्ते 'असत्' इति व्यवहर्त्तव्याः' इति प्रयोगे हेतोरसिद्धत्वात् ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वे सति सदुपलम्भकप्रमाणगोचरास्ते 'सत्' इति व्यवहर्त्तव्याः, यथोभयवादिविप्रतिपत्तिविषया घटादयः, तथाभूतश्च सर्ववित् इति भवत्यतः प्रमाणात् सर्वज्ञव्यवहारप्रवृत्तिरिति।

अथापि स्यात्—स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य तद्विषयाविसंवादिज्ञानपूर्वकत्वमात्रमेव भवता प्रसाधितम्, न चैतावताऽनन्तार्थसाक्षात्कारिज्ञानवान् सर्वज्ञः सिद्धिमासादयति, सकलसूक्ष्मादिपदार्थसार्थसाक्षात्कारिज्ञानविशेषपूर्वकत्वे हि वचनविशेषस्य सिद्धे तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः स्यात्। न च तथाभूतज्ञानपूर्वकत्वं वचनविशेषस्य सिद्धम्, अनुमानादिज्ञानादपि स्वविषयाविसंवादिवचनविशेषस्य संभवात्; न च तथाभूतज्ञानवान् सर्वज्ञो भवद्भिरभ्युपगम्यत इत्येतद् हृदि कृत्वाऽऽह सूरिः-'**कुसमयविसासणं**' इति। सम्यक्—प्रमाणान्तराविसंवादित्वेन—ईयन्ते परिच्छिद्यन्ते इति समयाः—नष्ट-मुष्टि-चिन्ता-लाभाऽलाभ-सुखाऽसुख-जीवित-मरण-ग्रहोपराग-मन्त्रौ-षधशक्त्यादयः पदार्थाः—तेषां विविधम्—अन्यपदार्थकारणत्वेन कार्यत्वेन चानेकप्रकारम्—शासनम् प्रतिपादकम् यतः शासनम् कुः पृथ्वी तस्या इव।

अयमभिप्रायः—ज्ञत्व-प्रमेयत्वादेरनेकप्रकारस्य प्रतिपादितन्यायेन सर्वज्ञसत्त्वप्रतिपादकस्य हेतोः सद्भावेऽपि तत्कृतत्वेन शासनप्रामाण्यप्रतिपादनार्थं सर्वज्ञोऽभ्युपगम्यते; तस्य चान्यतो हेतोः प्रतिपादनेऽपि तदागमप्रणेतृत्वं हेत्वन्तरात् पुनः प्रतिपादनीयं स्यादिति हेत्वन्तरमुत्सृज्य प्रतिपादनगौरवपरिहारार्थं वचनविशेषलक्षण एव हेतुस्तत्सद्भावावेदक उपन्यसनीयः, स चानेन गाथासूत्रावयवेन सूचितः। अत एव संस्कृत्य हेतुः कर्त्तव्यः। तथाहि—यो यद्विषयाऽविसंवादिलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेषः स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवः, यथाऽस्मदादिप्रवर्त्तितः पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेषः, नष्ट—मुष्टिविशेषादिविषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चायं शासनलक्षणोऽर्थ इति।

न चात्राविसंवादित्वं वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोर्विशेषणमसिद्धम्, नष्ट-मुष्ट्यादीनां वचनविशेषप्रतिपादितानां प्रमाणान्तरतस्तथैवोपलब्धेरविसंवादसिद्धेः। योऽपि क्वचिद् वचनविशेषस्य तत्र विसंवादो भवता परिकल्प्यते सोऽपि तदर्थस्य सम्यगपरिज्ञानात् सामग्रीवैकल्यात्; न पुनर्वचनविशेषस्यासत्यार्थत्वात्। न च सामग्रीवैकल्यादेकत्रासत्यार्थत्वे सर्वत्र तथात्वं परिकल्पयितुं युक्तम्; अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि द्विचन्द्रादिविषयस्य सामग्रीवैकल्येनोपजायमानस्यासत्यत्वसंभवात्

१ पृ० ५२ पं० २५। २ पृ० ५३ पं० ६। ३ पृ० ५३ पं० ७। ४ पृ० ५३ पं० ९। ५ पृ० ५३ पं० ११।
६-सुख-दुःख-जी-मां०।

समग्रसामग्रीप्रभवस्याप्यसत्यत्वं स्यात्। अथाविकलसामग्रीप्रभवं प्रत्यक्षं विकलसामग्रीप्रभवात् तस्माद् विलक्षणमिति नायं दोषः, तदत्रापि समानम्। तथाहि—सम्यगज्ञाततदर्थाद् वचनाद् यद् नष्ट-मुष्ट्यादिविषयं विसंवादिज्ञानमुत्पद्यते तत् सम्यगवगततदर्थवचनोद्भवाद् विलक्षणमेव। यथा च विशिष्टसामग्रीप्रभवस्य प्रत्यक्षस्य न कचिद् व्यभिचार इति तस्याविसंवादित्वं तथाऽव-
५ गतसम्यगर्थवचनोद्भवस्यापि नष्ट-मुष्ट्यादिविषयविज्ञानस्येति सिद्धमत्राविसंवादित्वलक्षणं विशेषणं प्रकृतहेतोः।

नाप्यलिङ्गपूर्वकत्वं विशेषणमसिद्धम्, नष्ट-मुष्ट्यादीनामस्मदादीन्द्रियाविषयत्वेन तल्लिङ्गत्वेनाभिमतस्याप्यर्थस्यास्मदाद्यक्षाविषयत्वान्न तत्प्रतिपत्तिः; प्रतिपत्तौ वाऽस्मदादीनामपि तल्लिङ्गदर्शनाद् वचनविशेषमन्तरेणापि ग्रहो-परागादिप्रतिपत्तिः स्यात्। न हि साध्यव्याप्तलिङ्गनिश्च-
१० येऽग्न्यादिप्रतिपत्तौ वचनविशेषापेक्षा दृष्टा; न भवति चास्मदादीनां वचनविशेषमन्तरेण कदाचनापि प्रतिनियतदिक्-प्रमाण-फलाद्यविनाभूतग्रहो-परागादिप्रतिपत्तिरिति तथाभूतवचनप्रणेतुरतीन्द्रियार्थविषयं ज्ञानमलिङ्गमभ्युपगन्तव्यमित्यलिङ्गपूर्वकत्वमपि विशेषणं प्रकृतहेतोर्नासिद्धम्।

नाप्ययमुपदेशपरम्परयाऽतीन्द्रियार्थदर्शनाभावेऽपि प्रमाणभूतः प्रबन्धेनानुवर्तत इत्यनुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिरिति वक्तुं युक्तम्, उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे नष्ट-मुष्ट्यादिप्रतिपादकवचन-
१५ विशेषस्य वक्तुरज्ञान-दुष्टाभिप्राय-वचनाकौशलदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्व-विपर्यस्तबुद्धित्व-गृहीतविस्मरणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्छिरोच्छेद एव स्यात्। तथाहि—इदानीमपि केचिद् ज्योतिःशास्त्रादिकमज्ञानदोषादन्यथोपदिशन्त उपलभ्यन्ते, अन्ये सम्यगवगच्छन्तोऽपि दुष्टाभिप्रायतया, अन्ये वचनदोषादव्यक्तमन्यथा चेति; तथा श्रोतारोऽपि केचिद् मन्दबुद्धित्वदोषादुक्तमपि यथावन्नावधारयन्ति, अन्ये विपर्यस्तबुद्धयः सम्यगुपदिष्टमप्यन्यथाऽवधारयन्ति, केचित् पुनः
२० सम्यक्परिज्ञातमपि विस्मरन्तीत्येवमादिभिः कारणैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यैतावन्तं कालं यावदागमनमेव न स्याच्चिरोच्छिन्नत्वेन, आगच्छति च; तस्मादन्तराऽन्तरा विच्छिन्नः सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता केनचिदभिव्यक्त इयन्तं कालं यावदागच्छतीत्यभ्युपगमनीयमिति नानुपदेशपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः।

नाप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां नष्ट-मुष्ट्यादिकं ज्ञात्वा तद्विषयवचनविशेषप्रवर्त्तनं कस्यचित्
२५ संभवति येनानन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणासिद्धिः स्यात्, यतो नान्वय-व्यतिरेकाभ्यां ग्रहो-परागौ-पथ्यशत्यादयो ज्ञातुं शक्यन्ते, प्रावृट्समये शिलीन्ध्रोद्भेदवद् ग्रहो-परागादीनां दिक्-प्रमाण-फल-कालादिषु नियमाभावात्। द्रव्यशक्तिपरिज्ञानाभ्युपगमेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यावन्ति जगति द्रव्याणि तान्येकत्र मीलयित्वैकस्य रस-कल्कादिभेदेन, कर्षादिमात्राभेदेन, बाल-मध्यमावस्याभेदेन, मूल-पत्राद्यवयवभेदेन प्रक्षेपो-द्धाराभ्यामेकोऽपि योगो युगसहस्रेणापि न
३० ज्ञातुं पार्यते किमुतानेक इति कुतस्ताभ्यामौषधशक्त्यवगमः? तेन नानन्वय-व्यतिरेकपूर्वकत्वविशेषणस्यासिद्धिः। नापि नष्ट-मुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्यापौरुषेयत्वाद् विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वस्यासिद्धेरसिद्धः प्रकृतो हेतुः, अपौरुषेयस्य वचनस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्।

नाप्यसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेऽपि प्रकृतवचनविशेषस्य संभवादनैकान्तिकः, सविशेषणस्य हेतोर्विपक्षे सत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्। अत एव न विरुद्धः, विपक्ष एव वर्त्तमानो विरुद्धः; न चास्य पूर्वोक्त-
३५ प्रकारेणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धस्य विपक्षे वृत्तिसंभवः। अथ भवतु ग्रहो-परागाभिधायकवचनस्य तत्पूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोः, तत्र तस्य संवादात्; धर्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिस्तु कथं तत्र तस्य संवादाभावात्? न, तत्रापि तस्य संवादात्। तथाहि—ज्योतिःशास्त्रादेर्ग्रहो-परागादिकं विशिष्टवर्ण-प्रमाण-दिग्विभागादिविशिष्टं प्रतिपद्यमानः प्रतिनियतानां प्रतिनियतदेशवर्त्तिनां प्राणिनां प्रतिनियतकाले प्रतिनियतकर्मफलसंसूचकत्वेन प्रतिपद्यते। उक्तं च तत्र—

४० "नक्षत्र-ग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम्।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम्" ॥ [[1]]

अतो ज्योतिःशास्त्रं ग्रहो-परागादिकमिव धर्माऽधर्मावपि प्रमाणान्तरसंवादतोऽवगमयति तेन ग्रहो-परागादिवचनविशेषस्य धर्माऽधर्मसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धम्; तत्सिद्धौ सकलपदार्थसा-

1-च्छिरोत्सन्न-मां० भां०।

क्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वमपि सिद्धिमासादयति । नहि धर्माऽधर्मयोः सुख-दुःखकारणत्वसाक्षात्करणं सहकारिकारणाशेषपदार्थ-तदाधारभूतसमस्तप्राणिगणसाक्षात्करणमन्तरेण संभवति, सर्वपदार्थानां परस्परप्रतिबन्धादेकपदार्थसर्वधर्मप्रतिपत्तिश्च सकलपदार्थप्रतिपत्तिनान्तरीयका प्राक् प्रतिपादिता । अतो भवति सकलपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वसिद्धिरतो हेतोर्वचनविशेषस्य; तत्सिद्धौ च तत्प्रणेतुः सूक्ष्माऽन्तरितदूरानन्तार्थसाक्षात्कार्यतीन्द्रियज्ञानसम्पत्समन्वितस्य कथं न सिद्धिः? ५

नाप्येतद् वक्तव्यम्-साध्योक्ति-तदावृत्तिवचनयोरनभिधानाद् न्यूनता नामाऽत्र साधनदोषः, प्रतिज्ञावचनेन प्रयोजनाभावात् । { अथ विषयनिर्देशार्थं प्रतिज्ञावचनम्; ननु स एव किमर्थः? साधर्म्यवत्प्रयोगादिप्रतिपत्त्यर्थः । तथाहि-असति साध्यनिर्देशे 'यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः' इत्युक्ते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः, उत वैधर्म्यवानिति न ज्ञायेत, उभयं ह्यत्राशङ्क्येत-वचनविशेषत्वेन साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वे साध्ये साधर्म्यवान्, असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकत्वेन १० वचनाविशेषत्वे साध्ये वैधर्म्यवानिति । हेतु-विरुद्धाऽनैकान्तिकप्रतीतिश्च न स्यात् । प्रतिज्ञापूर्वके तु प्रयोगे शब्दविशेषः साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकः, शब्दविशेषत्वाद् इति हेतुभावः प्रतीयते; असाक्षात्कारिज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वाद् इति विरुद्धता; चक्षुरादिकरणजनितज्ञानपूर्वको वचनविशेषत्वाद् इत्यनैकान्तिकत्वम् । हेतोश्च त्रैरूप्यं न गम्येत, तस्य साध्यापेक्षया व्यवस्थितेः । सति प्रतिज्ञानिर्देशेऽवयवे समुदायोपचारात् साध्यधर्मी इति पक्ष इति तत्र प्रवृत्तस्य वचनविशेषत्वस्य पक्षधर्म-१५ त्वम्, साध्यधर्मसामान्येन च समानोऽर्थः सपक्ष इति तत्र वर्त्तमानस्य सपक्षे सत्त्वम्, न सपक्षोऽसपक्ष इत्यसपक्षेऽप्यसत्त्वं प्रतीयते } तदिदमनालोचिताभिधानम्; तथाहि—यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्येतावन्मात्रमभिधाय नैव कश्चिदास्ते किन्तु हेतोर्धर्मिण्युपसंहारं करोति । तत्र यदि वचनविशेषश्चायं नष्ट-मुष्ट्यादिविषयो वचनसंदर्भ इति ब्रूयात् तदा साधर्म्यवत्प्रयोगप्रतीतिः, अथासाक्षात्कारिज्ञानपूर्वकश्चेत्यभिदध्यात् तदा वैधर्म्यवत इति संबन्धवचनपूर्वकात् २० पक्षधर्मत्ववचनात् प्रयोगद्वयावगतिः विवक्षितसाध्यावगतिश्च । हेतु-विरुद्धाऽनैकान्तिका अपि पक्षधर्मवचनमात्रेण न प्रतीयन्ते, यदा तु संबन्धवचनमपि क्रियते तदा कथमप्रतीतिः? तथाहि—यो वचनविशेषः स साक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते हेतुरवगम्यते, विधीयमानेनानूद्यमानस्य व्याप्तेः । यो वचनविशेषः सोऽसाक्षात्कारिज्ञानपूर्वक इत्युक्ते विरुद्धः, विपर्ययव्याप्तेः । यो वचनविशेषः स चक्षुरादिजनितज्ञानपूर्वक इति अनैकान्तिकाध्यवसायः, व्यभिचारात् । तथा, त्रैरूप्यमपि हेतोर्गम्यत २५ एव, यतो व्याप्तिप्रदर्शनकाले व्यापको धर्मः साध्यतया अवगम्यते; यत्र तु व्याप्यो धर्मो विवादास्पदीभूते धर्मिण्युपसंह्रियते स समुदायैकदेशतया पक्ष इति तत्रोपसंहृतस्य व्याप्यधर्मस्य पक्षधर्मत्वावगतिः । सा च व्याप्तिर्यत्र धर्मिण्युपदर्श्यते स साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः प्रतीयत इति सपक्षे सत्त्वमप्यवगम्यते । सामर्थ्याच्च व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिर्यत्रावसीयते सोऽसपक्ष इति असपक्षेऽप्यसत्त्वमपि निश्चीयते इति नार्थः प्रतिज्ञावचनेन । तदाह धर्मकीर्त्तिः—"यदि प्रती-३० तिरन्यथा न स्यात् सर्वं शोभेत, दृष्टा च पक्षधर्मसंबन्धवचनमात्रात् प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि प्रतीतिरिति कस्तस्योपयोगः"? [ ] यदा च प्रतिज्ञावचनं नैरर्थक्यमनुभवति तदा तदावृत्तिवचनस्य निगमनलक्षणस्य सुतरामनुपयोग इति न प्रतिज्ञाद्यवचनमपि प्रकृतसाधनस्य न्यूनतादोषः; केवलं तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारमात्रादेव सिद्धत्वाद् अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनरभिधानं निग्रहस्थानमिति प्रतिज्ञादिवचनं वादकथायां क्रियमाणं ३५ तद्वक्तुर्निग्रहमापादयति । उपनयवचनं तु हेतोः पक्षधर्मत्वप्रतिपादनादेव लब्धमिति तस्यापि ततः पृथक् प्रतिपादने पुनरुक्ततालक्षण एव दोष इति न तदनभिधानेऽपि न्यूनं साधनवाक्यम्; ततः सर्वदोषरहितत्वात् साधनवाक्यस्य भवत्यतः प्रकृतसाध्यसिद्धिः ।

स्वसाध्याविनाभूतश्च हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्शयितव्यो वादकथायामित्यभिप्रायवता आचार्येण गाथासूत्रावयवेन तथाभूतहेतुप्रदर्शनं कृतमिति । तथाहि—'समयविशासनम्' इत्यनेन गाथा-४० सूत्रावयववचनेन स्वसाध्यव्याप्तस्य हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहारः सूचितः । हेतोश्च स्वसाध्यव्याप्तिः

१ पृ० ६१ पं० १८ । २-धर्मी पक्ष इति तत्र प्रवृत्त इति प्रवृ-मा० । ३ सामर्थ्याद्धि कां० । ४-वचनमेव नै-भां० ।

प्रमाणतः सर्वोपसंहारेण प्रदर्शनीया। तत्र प्रमाणं व्याप्तिप्रसाधकं कदाचित् साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तं तां तस्य साधयति कदाचित् दृष्टान्तधर्मिणि। यत्र हि 'सर्वमनेकान्तात्मकम्, सत्त्वात्' इत्यादौ प्रयोगे न दृष्टान्तधर्मिसद्भावस्तत्र व्याप्तिप्रसाधकं प्रमाणं प्रवर्त्तमानं साध्यधर्मिण्येव सर्वोपसंहारेण हेतोः स्वसाध्यव्याप्तिं प्रसाधयति। यत्र तु प्रकृतप्रयोगादौ दृष्टान्तधर्मिणोऽपि सत्त्वं तत्र दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं तत् प्रमाणं सर्वोपसंहारेणैव तस्याः प्रसाधकमभ्युपगन्तव्यम्; अन्यथा दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः स्वसाध्यव्याप्तावपि साध्यधर्मिणि तस्य तद्व्याप्तौ न ततस्तत्र तत्प्रतिपत्तिः स्यात्, दृष्टान्तधर्मिण्येव तेन तस्य व्याप्तत्वात्; बहिर्व्याप्तेर्विद्यमानाया अपि साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तावनुपयोगात् सादृश्यमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात्, अन्यथा 'शुक्लं सुवर्णम्, सत्त्वात्, रजतवत्' इत्यत्रापि शुक्लत्वप्रतिपत्तिः स्यात्। अथात्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनम्, प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं वा दोषः, तदयुक्तम्; बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात्। तथाहि—सत्येव साध्यधर्मिणि साध्ये हेतुर्वर्त्तत इति तस्य तदविनाभावः, तत्प्रतिपादितसाध्यधर्माभावश्च प्रमाणतो बाधा, साध्यधर्मभावाऽभावयोश्चैकत्र धर्मिण्येकदा विरोध इति नैतद्दोषादस्य साधनस्य दुष्टत्वं किन्तु साध्यधर्मिणि साध्यधर्माविनाभूतत्वेनाऽनिश्चयः। स च बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतोः साध्यसाधकत्वाभ्युपगमेऽन्यत्रापि समान इति नानुमानात् क्वचिदपि साध्यनिश्चयः स्यात्। अतो दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तेन प्रमाणेन व्याप्त्या हेतोः स्वसाध्याविनाभावो निश्चेयः। स च निश्चिताविनाभावो यत्र धर्मिण्युपलभ्यते तत्र स्वसाध्यमविद्यमानप्रमाणान्तरबाधनं निश्चाययति, यथाऽत्रैव सर्वज्ञमात्रलक्षणे साध्ये वचनविशेषलक्षणे साध्यधर्मिणि तद्विशेषत्वलक्षणो हेतुः। प्रतिबन्धप्रसाधकं चास्य हेतोः प्रागेव दृष्टान्तधर्मिणि प्रमाणं प्रदर्शितमित्यभिप्रायवतैव आचार्येणापि '**कुसमयविसासणं**' इति सूत्रे 'कु.' इत्यनेन दृष्टान्तसूचनं विहितम्, न च पक्षवचनाद्युपक्षेपः सूचितः।

ननु भवत्वस्माद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेण सर्वज्ञमात्रसिद्धिर्न पुनस्तद्विशेषसिद्धिः। तथाहि—यथा नष्ट-मुष्ट्यादिविषयवचनविशेषस्य अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतत्वं वचनविशेषत्वात् सिध्यति तथा बुद्धादिसर्वज्ञपूर्वकत्वमपि तत एव सेत्स्यतीति कुतस्तद्विशेषसिद्धिः? न च नष्ट-मुष्ट्यादिप्रतिपादको वचनविशेषोऽर्हच्छासन एवेति वक्तुं युक्तम्, बुद्धशासनादिष्वपि तस्योपलम्भात् इत्याशङ्क्याह सूरिः '**सिद्धत्थाणं**' इति। अस्यायमभिप्रायः—प्रत्यक्षाऽनुमानादिप्रमाणविषयत्वेन प्रतिपादिताः शासनेन ये ते तद्विषयत्वेनैव तैर्निश्चिता इति सिद्धाः, ते च 'अर्यन्ते' इति अर्था उच्यन्ते, तेषां शासनं प्रतिपादकम् अर्हत्सर्वज्ञशासनमेव न बुद्धादिशासनम्। अतो वचनविशेषत्वलक्षणस्य हेतोस्तेष्वसिद्धत्वात् कुतस्तेषामपि सर्वज्ञत्वं येन विशेषसर्वज्ञत्वसिद्धिर्न स्यात्? यथा चागमान्तरेण प्रत्यक्षादिविषयत्वेन प्रतिपादितानामर्थानां तद्विषयत्वं न संभवति तथाऽत्रैव यथास्थानं प्रतिपादयिष्यते।

अथवा 'सिद्धार्थानाम्' इत्यनेन हेतुसंसूचनं विहितमाचार्येण–सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिताः, येऽर्था नष्ट-मुष्ट्यादयः, तेषां शासनं प्रतिपादकं यतो द्वादशाङ्गं प्रवचनमतो जिनानां कार्यत्वेन संबन्धि, तेनायं प्रयोगार्थः सूचितः—प्रयोगश्च—प्रमाणान्तरसंवादियथोक्तनष्ट-मुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्जिनप्रणीतं शासनम्। अत्र च सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकत्वान्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य हेतोर्जिनप्रणीतत्वलक्षणेन स्वसाध्येन व्याप्तिः साध्यधर्मिण्येव निश्चितेति तन्निश्चायकप्रमाणविषयस्येह दृष्टान्तस्य प्रदर्शनमाचार्येण न विहितम्, तदर्थस्य तद्व्यतिरेकेणैव सिद्धत्वात्। यथा चार्थापत्तेः साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयाद् दृष्टान्तव्यतिरेकेणापि तदुत्थापकादर्थादुपजायमानायाः सर्वज्ञप्रतिक्षेपवादिभिर्मीमांसकैः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथा प्रकृतादन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाद्धेतोरुपजायमानस्याऽस्याऽनुमानस्य तत् किं नेष्यते? प्रतिपादितश्चार्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावः प्रागिति भवत्यतो हेतोः प्रकृतसाध्यसिद्धिः। अत एव पूर्वाचार्यैर्हेतुलक्षणप्रणेतृभिरेकलक्षणो हेतु

1-तधर्मनि-भां०, का०। 2 सर्वज्ञलक्षणे बा०, पू०, वा० विना। 3 तद्विशेषलक्षणो भा०, कां०, वं०, पु०। 4 प्र० पृ० पं० ४। 5 पृ० ६५ प० २९। 6 पृ० ४६ पं० २६।

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?" ॥ [ ]

इत्यादिवचनसंदर्भेण प्रतिपादित इति मन्वानेन आचार्येणापि न दृष्टान्तसूचनं विहितमत्र प्रयोगे । 'कुसमयविशासनम्' इति च अत्र व्याख्याने बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वप्रतिपादकत्वेन व्याख्येयम् । तथाहि—कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन, समयाः कपिलादि- ५ प्रणीतसिद्धान्तास्तेषाम् "सन्ति पञ्च महब्भूया" [सूत्रकृ० प्र० श्रु०, प्र० अ०, प्र० उ०, गा० ७] इत्यादिवचनसंदर्भेण दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन 'विशासनम्' विध्वंसकं यतः अतो द्वादशाङ्गमेव जिनानां शासनमिति भवत्यतो विशेषणात् सर्वज्ञविशेषसिद्धिरिति स्थितमेतज्जिनशासनं द्वादशाङ्गं तत्त्वादेव सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमिति ॥

[ईश्वरस्वरूपवादः] १०

अत्र ईश्वरकृतजगद्वादिनः प्राहुः-युक्तमुक्तम् 'सर्वज्ञप्रणीतं शासनम्, तत्प्रणीतत्वाच्च तत् प्रमाणम्' इति । इदं त्वयुक्तम् 'राग-द्वेषादिकान् शत्रून् जितवन्त इति जिनाः' । सामान्ययोगिन एवेश्वरव्यतिरिक्ता एतल्लक्षणयोगिनः न पुनः शासनादिसर्वजगत्स्रष्टा ईश्वरः । तथा च पतञ्जलिः—

"क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [योगद० पा० १, सू० २४] इति । अनेन सूत्रेण रागादिलक्षणक्लेशशत्रुरहितत्वं सहजमीश्वरस्य प्रतिपादितम् न पुनर्विपक्षभावनाद्यभ्यास- १५ व्यापारात् क्लेशादिक्षयस्तस्य, येन 'रागादीन् स्वव्यापारेण जितवन्तः' इति वचः सार्थकं तद्विषयत्वेन स्यात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
वैराग्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्" ॥ [ ]

इत्याशङ्क्याह- **'भवजिणाणं'** इति, भवन्ति नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽ- २० स्मिन्निति भवः संसारः, तद्धेतुत्वाद् रागादयोऽत्र 'भव'शब्देनोपचाराद् विवक्षिताः, तं जितवन्त इति जिनाः । उपचाराश्रयणे च प्रयोजनम्—न ह्यविकलकारणे रागादौ अध्वस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य जयः शक्यो विधातुमिति प्रतिपादनम् । भवकारणभूतरागादिजये चोपायः प्रतिपादितः प्राक्; तदुपायेन च विपक्षरागादिजयद्वारेण तत्कार्यभूतस्य भवस्य जयः संभवति नान्यथेति । न ह्युपायव्यतिरेकेणोपेयसिद्धिः; अन्यथोपेयस्य निर्हेतुकत्वेन देश-काल-स्वभावप्रतिनियमो न स्या- २५ दिति सर्वप्राणिनामीश्वरत्वम्, न वा कस्यचित् स्यात् । प्रतिपादितश्चायमर्थः—

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः" ॥ [ ]

इत्यादिना ग्रन्थेन धर्मकीर्तिना । तत्र रागादिक्लेशविगमः स्वभावत एवेश्वरस्येति युक्तम् ।

[प्रासङ्गिकी परलोकचर्चा] ३०

[पूर्वपक्षः-परलोके प्रत्यवस्थानम्]

अत्र बृहस्पतिमतानुसारिणः स्वभावसंसिद्धज्ञानादिधर्मकलापाध्यासितस्य स्थाणोरभावप्रतिपादने जैनेन कुर्वताऽस्माकं साहाय्यमनुष्ठितमिति मन्वानाः प्राहुः-युक्तमुक्तं यत् 'स्वभावसंसिद्धज्ञानादिसंपत्समन्वितस्येश्वरस्याभावः' 'नारक-तिर्यग्-नराऽमररूपपरिणतिस्वभावतया उत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति' एतच्चायुक्तमभिहितम्, परलोकसद्भावे प्रमाणाभावात् । तथाहि-परलोकसद्भा- ३५ वावेदकं प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानम् आगमो वा जैनेनाभ्युपगमनीयः, अन्यस्य प्रमाणत्वेन तेनानिष्टेः । न चात्रैतद् वक्तव्यम्-भवतोऽपि किं तत्प्रतिक्षेपकं प्रमाणम्? यतो नास्माभिस्तत्प्रतिक्षेपकप्रमाणात् तदभावः प्रतिपाद्यते किन्तु परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगमात्रमेव क्रियते । अत एव "सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः" [ ] इति चार्वाकैरभिहितम् ।

---

१ प्र० पृ० पं० ८ । २ पृ० २९ पं० २० । ३ पृ० ६१ पं० १० । ४ प्र० पृ० पं० २९ । ५ प्र० पृ० पं० ३० ।

स च परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगः तदभ्युपगमस्य प्रश्नादिद्वारेण विचारणा न पुनः स्वसिद्धप्रमाणोपन्यासः, येन 'अतीन्द्रियार्थप्रतिक्षेपकत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रमाणमाश्रयासिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वेन कथं प्रवर्त्तते' इत्यस्मान् प्रति भवताऽपि पर्यनुयोगः क्रियेत । अत एव परलोकप्रसाधकप्रमाणाभ्युपगमं परेण ग्राहयित्वा तदभ्युपगमस्यानेन प्रकारेण विचारः क्रियते—

५ तत्र न तावत् परलोकप्रतिपादकत्वेन चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादितात्मलाभं सन्निहितप्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते । नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं तत्र प्रवर्त्तत इति वक्तुं शक्यम्, परलोकादिवत् तस्याप्यसिद्धेः ।

नाप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं तत्र प्रवृत्तिमासादयति, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्यानुमानस्यापि तत्राप्रवृत्तेः । अथ यद्यपि प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवमनुमानं न तत्र प्रवर्त्तते तथापि सामान्यतोदृष्टं १० तत्र प्रवर्त्तिष्यते, तदपि न युक्तम्, यतस्तदपि सामान्यतोदृष्टमवगतप्रतिबन्धलिङ्गोद्भवम्, आहोस्वित् अनवगतप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थम्? यद्यनवगतप्रतिबन्धलिङ्गोद्भवमिति पक्षः, स न युक्तः, तथाभूतलिङ्गप्रभवस्य स्वविषयव्यभिचारेण अश्वदर्शनानन्तरोद्भूतराज्यावाप्तिविकल्पस्येवाप्रमाणत्वात् । अथ प्रतिपन्नसंबन्धलिङ्गप्रभवं तत् तत्र प्रवर्त्तत इति पक्षः, सोऽपि न युक्तः; प्रतिबन्धावगमस्यैव तत्र लिङ्गस्यासंभवात् । तथाहि—प्रत्यक्षस्य तत्र लिङ्गसंबन्धावगमनिमित्तस्याभावेऽनुमानं लिङ्गसंबन्ध- १५ ग्राहकमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र यदि तदेव परलोकसद्भाववेदकमनुमानं स्वविषयाभिमतेनार्थेनात्मोत्पादकलिङ्गसंबन्धग्राहकं तदेतरेतराश्रयत्वदोषः । अथानुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धाल्लिङ्गादुपजायमानं तद्विषयं तदभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था । तथा, सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रत्यसिद्धम् । तथाहि—बृहस्पतिसूत्रम्—

"अनुमानमप्रमाणम्" [,　　　] इति ।

२० अनेन प्रतिज्ञाप्रतिपादनं कृतम्, अनिश्चितार्थप्रतिपादकत्वो(त्वात्)सिद्धप्रमाणाभासवदिति हेतु-दृष्टान्तावभ्यूह्यौ ।

विषयविचारेण चाऽनुमानप्रामाण्यमयुक्तम्—धर्म-धर्म्युभयस्वतन्त्रसाधने सिद्धसाध्यता यतः, अतो विशेषणविशेष्यभावः साध्यः । प्रमेयविशेषविषयां प्रमां कुर्वत् प्रमाणं प्रमाणतामश्नुते । इतरेतरावच्छिन्नश्च समुदायोऽत्र प्रमेयः; तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमस्यापि रूपस्याप्र- २५ सिद्धिः । नहि समुदायधर्मता हेतोः, नापि समुदायेनान्वयो व्यतिरेको वा, धर्मिमात्रापेक्षया पक्षधर्मत्वे साध्यधर्मापेक्षया च व्याप्तौ गौणतेति । उक्तं च—

"प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" [　　　] इति ।

धर्मिधर्मताग्रहणेऽपि न गौणतापरिहारः, प्रतीयमानापेक्षया गौण-मुख्यव्यवहारस्य चिन्त्यत्वात्; समुदायश्च प्रतीयते । एकदेशाश्रयणेनापि त्रैरूप्यमयुक्तम्, व्याप्त्यसिद्धेः । नहि सत्तामात्रेणाविनाभावो ३० गमकः अपि त्ववगतः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । स च सकलसपक्ष-विपक्षाप्रत्यक्षीकरणे दुर्विज्ञानोऽसर्वविदा । न चात्र भूयोदर्शनं शरणम्, सहस्रशोऽपि दृष्टसाहचर्यस्य व्यभिचारात् । अत एव न दर्शनादर्शनमपि । तदुक्तम्—

"गोमानित्येव मर्त्येन भाव्यमश्ववताऽपि किम्?" [　　　] इति ।

देश-कालाऽवस्थाभेदेन च भावानां नानात्वावगमादनाश्वासः । तदुक्तम्—

३५ "अवस्था-देश-कालानाम्" [वाक्यप० प्र० का० श्लो० ३२] इत्यादि । आह च—

"अविनाभावसंबन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्" [　　　]

यच्च 'सामान्यस्य तद्विषयस्याभावात्, स्वार्थ-परार्थभेदासंभवात्, विरुद्धाऽनुमान-विरोधयोः सर्वत्र

१-त्वादसिद्ध—वा०, बा०, मा०, भा० । २-स्य गौण-भा०, मां० । स्याद्वादरत्नाकरेऽपि "प्रमाणस्य गौणत्वात्" इत्यादि मुद्रितम्, एतच्च 'पौरन्दरं सूत्रम्' इति उल्लेखि तत्रैव पृ० १३१ प०३-४ । ३-धर्मत्वप्र-गु० । ४ एव दर्शना-कां०, गु० । ५ भा०, मा०, वा०, बा०, पृ० विना सर्वत्र पूर्ण श्लोक—

अवस्था-देश-कालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु । भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा ॥

प्रतीतिरपि दुर्लभा यां० । "प्रतीतिरिह दुर्लभा" मां० टि० ।

संभवात्, क्वचिच्च विरुद्धाव्यभिचारिणः' इत्यादि दूषणजालं तद् अनुद्घोषणीयमेव, यतोऽनिश्चितार्थप्रतिपादकत्वाद् "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यनुमानाऽप्रमाणताप्रतिपादने कृते शेषदूषणजालस्य मृतमारणकल्पत्वात् । ततोऽनुमानस्याप्रमाण्यादतीन्द्रियपरलोकसद्भावप्रतिपादने कुतस्तस्य प्रवृत्तिः?

अथेदमेव जन्म पूर्वजन्मान्तरमन्तरेण न युक्तमिति जन्मान्तरलक्षणस्य परलोकस्य सिद्धिरिष्यते, तत् किमियमर्थापत्तिः, अथानुमानं वा? न तावदर्थापत्तिः, तल्लक्षणाभावात्, ५

"दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते" [मीमांसाद० अ०१, पा०१, सू०५ शाबरभा०]

इति हि तस्या लक्षणं विचक्षणैरिष्यते । न तु जन्मान्तरमन्तरेण नोपपत्तिमदिदं जन्मेति सिद्धम्, मातापितृसामग्रीमात्रेण तस्योपपत्तेः, तन्मात्रहेतुकत्वे चान्यपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् ।

अथ प्रज्ञा-मेधादयो जन्मादावभ्यासपूर्वका दृष्टाः कथमतत्पूर्वका भवेयुः, न वह्निपूर्वको धूमस्तत्पूर्वकतामन्तरेण कदाचिदपि भवन्नुपलब्धः, तदप्यसत्; अविनाभावसंबन्धस्य देश-कालव्याप्तिल- १० क्षणस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः—सन्निहितमात्रप्रतिपत्तिनिमित्तं हि प्रत्यक्षमुपलभ्यते 'नहि सकलदेश-कालयोर्विना वह्निमसंभव एव धूमस्य' इति प्रत्यक्षतः प्रतीतिर्युक्ता; अतो न धूमोऽपि वह्निपूर्वकः सर्वत्र प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां सिद्ध इति कुतस्तेन दृष्टान्तेन जन्मान्तरस्वरूपपरलोकसाधनम्? तस्मात् केचित् प्रज्ञा-मेधादयस्तथाभूताभ्यासपूर्वकाः, केचिद् मातापितृशरीरपूर्वका इति । न च प्रज्ञादयः शरीरतो व्यतिरिच्यमानस्वभावाः संवेदनविषयतामुपयान्ति, शरीरं च तदन्वय-व्यतिरेकानु- १५ वृत्तिमदेव दृष्टमिति कथमन्यथा व्यवस्थामर्हति?

अथ पूर्वोपात्तादृष्टमन्तरेण कथं मातापितृविलक्षणं शरीरम्? नन्वेतेनैव व्यभिचारो दृश्यते, नहि सर्वदा कारणानुरूपमेव कार्यम्, तेन विलक्षणादपि मातापितृशरीराद् यदि प्रज्ञा-मेधादिभिर्विलक्षणं तदपत्यस्य शरीरमुपजायेत, कदाचित् तदाकारानुकारि तत् क एवाऽत्र विरोधः? यथा कश्चित् शालूकादेव शालूकः, कश्चिद् गोमयात् तथा कश्चिदुपदेशाद् विकल्पः, कश्चित् तदाकारपदार्थदर्श- २० नात् । अथ दर्शनादपि विकल्पः पूर्वविकल्पवासनामन्तरेण कथं भवेत्? तर्हि गोमयादपि शालूकः कथं शालूकमन्तरेणेति एतदपि प्रष्टव्यम् । तस्मात् कार्यकारणभावमात्रमेवैतत् । तत्र च नियमाभावादविज्ञानादपि मातापितृशरीराद् विज्ञानमुपजायताम्; अथवा यथा विकल्पाद् व्यवहितादपि विकल्प उपजायते तथा व्यवहितादपि मातापितृशरीरत एवेति न भेदं पश्यामः । यथा चैकमातापितृशरीरादनेकापत्योत्पत्तिस्तथैकस्मादेव ब्रह्मणः प्रजोत्पत्तिरिति न जात्यन्तरपरिग्रहः कस्यचिदिति न परलोक- २५ सिद्धिः । नहि मातापितृसंबन्धमात्रमेव परलोकः, तथेष्टावभ्युपगमविरोधात् ।

अथानाद्यनन्त आत्माऽस्ति तमाश्रित्य परलोकः साध्यते, न ह्येकानुभवितृव्यतिरेकेणानुसन्धानं संभवति, भिन्नानुभवितर्यनुसन्धानादृष्टेः, तदयुक्तम्;

"परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" [ ] इति वचनात् ।

न ह्यनाद्यनन्त आत्मा प्रत्यक्षप्रमाणप्रसिद्धः । अनुमानेन चेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः-सिद्धे आत्मन्येकरू- ३० पेणानुसन्धानविकल्पस्याविनाभूतत्वे आत्मसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चानुसन्धानस्य तदविनाभूतत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयसद्भावान्नैकस्यापि सिद्धिः । न चासिद्धमसिद्धेन साध्यते । किंच, दर्शनाऽनुसन्धानयोः पूर्वापरभाविनोः कार्यकारणभावः प्रत्यक्षसिद्धः, तत् कुतोऽनुसन्धानस्मरणादात्मसिद्धिः? अपि च, शरीरान्तर्गतस्य ज्ञानस्यामूर्तत्वेन कथं जन्मान्तरशरीरसंचारः? अथान्तराभवशरीरसन्तत्या संचरणमुच्यते, तदपि परलोकान्न विशिष्यते । संचारश्च न दृष्टो जीवत इह जन्मनि, मरणसमये भविष्यतीति ३५ दुरधिगममेतत् न परलोकसिद्धिः । अथवा सिद्धेऽपि परलोके प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धासिद्धेर्व्यर्थमेवानुमानेन परलोकास्तित्वसाधनम् । अथागमात् प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धसिद्धिः, तथासति परलोकास्तित्वमप्यागमादेव सिद्धमिति किमनुमानप्रयासेन?

न चागमादपि परलोकसिद्धिः, तस्य प्रामाण्यासिद्धेः । न चाप्रमाणसिद्धं परलोकादिकमभ्युपगन्तुं युक्तम्, तदभावस्यापि तथाऽभ्युपगमप्रसङ्गात् । तत्र परलोकसाधकप्रमाणप्रतिपादनमकृत्वा ४०

१-त्रमेष तत् कां०, गु० । २ प्रत्यक्षप्रसिद्धः गु० ।

'भव' शब्दव्युत्पत्तिरर्थसंस्पर्शिन्यभिधातुं युक्ता। डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या तु यदि क्रियेत तदा नास्माभिरपि तत्प्रतिपादकप्रमाणपर्यनुयोगे मनः प्रणिधीयत इति पूर्वपक्षः॥

[उत्तरपक्षः–परलोकस्य व्यवस्थापनम्]

अत्रोच्यते–यदुक्तम् 'पर्यनुयोगमात्रमस्माभिः क्रियते' इति, तत्र वक्तव्यम्–पर्यनुयोगोऽपि क्रिय-
५ माणः किं प्रमाणतः क्रियते, उताप्रमाणतः? यदि प्रमाणतस्तदयुक्तम्, यतस्तत्कार्यपि प्रमाणं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानादि? यदि प्रत्यक्षम् तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्याविचारकत्वेन पर्यनुयोगस्वरूपविचाररचनाऽचतुरत्वात्।

न च प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणत्वं युक्तम्, भवदभ्युपगमेन तल्लक्षणासंभवात्। तदसंभवश्च स्वरूपव्यवस्थापकधर्मस्य लक्षणत्वात्। तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यस्वरूपव्यवस्थापको धर्मोऽविसंवादित्वल-
१० क्षणोऽभ्युपगन्तव्यः। तच्चाविसंवादित्वं प्रत्यक्षप्रामाण्येनाविनाभूतमभ्युपगम्यम्, अन्यथाभूतात् ततः प्रत्यक्षप्रामाण्यासिद्धेः; सिद्धौ वा यतः कुतश्चिद् यत् किञ्चिदनभिमतमपि सिध्येदित्यतिप्रसङ्गः। स चाविनाभावस्तस्य कुतश्चित् प्रमाणादवगन्तव्यः, अनवगतप्रतिबन्धादर्थान्तरप्रतिपत्तौ नालिकेरद्वीपवासिनोऽप्यनवगतप्रतिबन्धाद् धूमाद् धूमध्वजप्रतिपत्तिः स्यात्। अविनाभावावगमश्चाखिलदेश-कालव्याप्त्या प्रमाणतोऽभ्युपगमनीयः; अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ संवादित्व-प्रामाण्ययोरसाववगतस्त-
१५ स्यामेवाविसंवादित्वात् तत् सिध्येत् न व्यक्त्यन्तरे, तत्र तस्यानवगमात्। न चावगतलक्ष्यलक्षणसंबन्धा व्यक्तिर्देश-कालान्तरमनुवर्त्तते, तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेस्तदैव ध्वंसाद् व्यक्त्यन्तराननुगमात्। अनुगमे वा व्यक्तिरूपताविरहात् अनुगतस्य सामान्यरूपत्वात् तस्य च भवताऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा न सामान्यलक्षणानुमानविषयाभावप्रतिपादनेन तत्प्रतिक्षेपो युक्तः। स च प्रमाणतः प्रत्यक्षे लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्याऽविनाभावावगमो यदि प्रत्यक्षादभ्युपगम्यते तदयुक्तम्, प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्वविषयप्रतिभा-
२० समात्र एव भवता व्यापाराभ्युपगमात्। अथैकत्र व्यक्तौ प्रत्यक्षेण तयोरविसंवादित्व-प्रामाण्ययोरविनाभावावगमादन्यत्रापि 'एवंभूतं प्रत्यक्षम् प्रमाणम्' इति प्रत्यक्षेणापि लक्ष्य-लक्षणयोर्व्याप्त्या प्रतिबन्धावगमस्तर्ह्यन्यत्रापि 'एवंभूतं ज्ञानलक्षणं कार्यम् एवंभूतज्ञानकार्यप्रभवम्' इति तेनैव कथं न, सर्वोपसंहारेण कार्यलक्षणहेतोः स्वसाध्याविनाभावावगमः। येन 'अनुमानमप्रमाणम्, अविनाभावसंबन्धस्य व्याप्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वात्' इति दूषणमनुमानवादिनं प्रति भवताऽऽसज्यमानं शोभते।
२५ किंच, अविसंवादित्वलक्षणो धर्मः प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्यव्यवस्थापकः प्रत्यक्षप्रतिबद्धत्वेन निश्चेयः; अन्यथा तन्नैव ततः प्रामाण्यलक्षणलक्ष्यव्यवस्था न स्यात्, असंबद्धस्य केनचित् सह प्रत्यासत्ति-विप्रकर्षाभावात् तद्वदन्यत्रापि ततस्तद्व्यवस्थाप्रसङ्गः। तथाऽभ्युपगमे च यथा संवादित्वलक्षणो धर्मो लक्ष्यानवगमेऽपि प्रत्यक्षधर्मिसंबन्धित्वेनावगम्यते तथा धूमोऽपि पर्वतैकदेशे अनलानवगतावपि प्रदेशसंबन्धितयाऽवगम्यत इति कथम् 'समुदायः साध्यः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वं हेतोरवगन्त-
३० व्यम्, न च पक्षधर्मत्वाप्रतिपत्तौ साध्यधर्मानलविशिष्टतत्प्रदेशप्रतिपत्तिः; प्रतिपत्तौ वा पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणं व्यर्थम्, तत्प्रतिपत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तेः। समुदायस्य साध्यत्वेनोपचारात् तदेकदेशधर्मिधर्मत्वावगमेऽपि पक्षधर्मत्वावगमाददोषे उपचरितं पक्षधर्मत्वं हेतोः स्यादित्यनुमानस्य गौणत्वापत्तेः प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभः' इति चोद्यावसरः? प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणेऽपि क्रियमाणेऽस्य सर्वस्य समानत्वेन प्रतिपादितत्वात्। यदा चाविसंवादित्वलक्षण-प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्ययोः सर्वो-
३५ पसंहारेण व्याप्तिरभ्युपगम्यते, अविसंवादित्वलक्षणश्च प्रामाण्यव्यवस्थापको धर्मस्तत्राङ्गीक्रियते पूर्वोक्तन्यायेन तदा कथमनुमानं नाभ्युपगम्यते प्रमाणतया? तथाहि–'यत् किञ्चिद् दृष्टं तस्य यत्राविनाभावस्तद्विदस्तस्य तद् गमकं तत्र' इत्येतावन्मात्रमेवानुमानस्यापि लक्षणम्। तच्च प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणमभ्युपगच्छताऽभ्युपगम्यते देवानांप्रियेण। तथा, प्रामाण्यमप्यनुमानस्याभ्युपगतमेव, यतो यदेवाविसंवादित्वलक्षणं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम् अनुमानस्यापि तदेव। तदुक्तम्—

१ पृ० ६९ पं० ३८। २–रहानुगतस्य वा०, बा०, मां० विना सर्वत्र। ३–भावमवगत्याऽन्य–वा०, मां०, बा०। ४ पृ० ७० पं० १९–३५। ५–वात् तदन्यत्रा–मा० विना। ६ "कथं नोद्यावसर ? इति शास्य संबन्ध" मां० भां० टि०। ७ पृ० ७० पं० २३। ८ प्र० पृ० पं० ८। ९–गतमेव देवा–मां०।

"अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ [ ] इति ।

अर्थासंभवेऽभावः प्रत्यक्षस्य संवादस्वभावः प्रामाण्ये निमित्तम्, स च साध्यार्थाभावेऽभाविनो लिङ्गादुपजायमानस्यानुमानस्यापि समान इति कथं न तस्यापि प्रामाण्याभ्युपगमः?

किंच, अयं चार्वाकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी यदि परेभ्यः प्रत्यक्षलक्षणमनवबुध्यमानेभ्यस्तत् ५ प्रतिपादयति तदा तेषां ज्ञानसंबन्धित्वं कुतः प्रमाणादवगच्छति? न तावत् प्रत्यक्षात्-परचेतोवृत्तीनां प्रत्यक्षतो ज्ञातुमशक्यत्वात्-किं तर्हि स्वात्मनि ज्ञानपूर्वकौ व्यापार-व्याहारौ प्रमाणतो निश्चित्य परेष्वपि तथाभूततद्दर्शनात् तत्संबन्धितामवबुध्यते ततस्तेभ्यस्तत् प्रतिपादयति । तथाऽभ्युपगमे च व्यापार-व्याहारादेर्लिङ्गस्य ज्ञानसंबन्धित्वलक्षणस्वसाध्याव्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वं चाभ्युपगतं भवतीति कथमनुमानोत्थापकस्यार्थस्य त्रैरूप्यमसिद्धम्-येन 'नास्माभिरनुमानप्रतिक्षेपः १० क्रियते किंतु त्रिलक्षणं यदनुमानवादिभिर्लिङ्गमभ्युपगतं तन्न लक्षणभाग् भवतीति प्रतिपाद्यते' इति वचः शोभामनुभवति-प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादनार्थं परचेतोवृत्तिपरिज्ञानाभ्युपगमे त्रिलक्षणहेत्वभ्युपगमस्यावश्यंभावित्वप्रतिपादनात्? अथ नास्माभिः प्रत्यक्षमपि प्रमाणत्वेनाभ्युपगम्यते-येन 'तल्लक्षणप्रणयनेऽवश्यंभावी अनुमानप्रामाण्याभ्युपगमः' इत्यस्मान् प्रति भवद्भिः प्रतिपाद्येत-यच्च "प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्" [ ] इति वचनं तत् तान्त्रिकलक्षणालक्षितलोकसंव्यवहारिप्रत्यक्षापेक्षया, अत एव १५ लक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकानुमानस्य "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यादिग्रन्थसन्दर्भेणाप्रामाण्यप्रतिपादनं विधीयते न पुनर्गोपालाद्यज्ञलोकव्यवहाररचनाचतुरस्य धूमदर्शनमात्राविर्भूतानलप्रतिपत्तिरूपस्य, नैतच्चारु; तस्यापि महानसादिदृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणावगतस्वसाध्यप्रतिबन्धनिश्चितसाध्यधर्मिधर्मधूमबलोद्भूतत्वेन तान्त्रिकलक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकत्वस्य वस्तुतः प्रदर्शितत्वात् । 'एतत् पक्षधर्मत्वम्' 'इयं चास्य धूमस्य व्याप्तिः' इति साङ्केतिकव्यवहारस्य गोपालादिमूर्खलोकासंभविनोऽकिञ्चि २० त्करत्वात् । प्रत्यक्षस्य चाविसंवादित्वं प्रामाण्यलक्षणम्, तद् यथा संभवति तथा परतःप्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः **'सिद्धं'** इत्येतत्पदव्याख्यायां दर्शितं न पुनरुच्यते । तत् स्थितमेतत्-न प्रत्यक्षस्य भवदभिप्रायेण प्रामाण्यव्यवस्थापकलक्षणसंभवः; तद्भावे वाऽनुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसिद्धिरिति न प्रत्यक्षं पर्यनुयोगविधायि ।

नाऽप्यनुमानादिकं पर्यनुयोगकारि, अनुमानादेः प्रमाणत्वेनानभ्युपगमात् । अथास्माभिर्यद्यप्य २५ नुमानादिकं न प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते तथापि परेण तत् प्रमाणतयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रसिद्धेन तेन परस्य पर्यनुयोगो विधीयते; ननु परस्य तत् प्रमाणतः प्रामाण्याभ्युपगमविषयः, अथाप्रमाणतः? यदि प्रमाणतः तदा भवतोऽपि प्रमाणविषयस्तत् स्यात्; नहि प्रमाणतोऽभ्युपगमः कस्यचिद् भवति कस्यचिन्नेति युक्तम् । अथाप्रमाणतोऽनुमानादिकं प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते परेण तदाऽप्रमाणेन न तेन पर्यनुयोगो युक्तः, अप्रमाणस्य परलोकसाधनवत् तत्साधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽप्यसामर्थ्यात् । अथ तेन ३० प्रमाणलक्षणापरिज्ञानात् तत्प्रामाण्यमभ्युपगतमिति तत्सिद्धेनैव तेन परलोकादिसाधनाभिमतप्रमाणपर्यनुयोगः क्रियते; नन्वज्ञानात् तत् परस्य प्रमाणत्वेनाभिमतम्, न चाज्ञानादन्यथात्वेनाभिमन्यमानं वस्तु तत्साध्यामर्थक्रियां निर्वर्त्तयति; अन्यथा विषत्वेनाभिमन्यमानं महौषधादिकमपि तान् मारयितुकामेन दीयमानं स्वकार्यकरणक्षमं स्यात् । अथ नास्माभिः परलोकप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगोऽनुमानादिना स्वतन्त्रप्रसिद्धप्रामाण्येन, पराभ्युपगमावगतप्रामाण्येन वा क्रियते किं तर्हि 'यदि पर- ३५ लोकादिकोऽतीन्द्रियोऽर्थः परेणाभ्युपगम्यते तदा तत्प्रतिपादकं प्रमाणं वक्तव्यम्, प्रमाणनिबन्धना हि प्रमेयव्यवस्थितिः, तस्य च प्रमाणस्य तल्लक्षणाद्यसंभवेन तद्विषयाभिमतस्याप्यभावः' इत्येवंविचारणालक्षणः पर्यनुयोगः क्रियत इति न स्वतन्त्रानुमानोपन्यासपक्षधर्मासिद्ध्यादिलक्षणदोषावकाशो बृहस्पतिमतानुसारिणाम्; नन्वेवमप्यनया भङ्ग्या भवता परलोकाद्यतीन्द्रियार्थप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगे प्रसङ्गसाधनाख्यमनुमानम् तद्विपर्ययस्वरूपं च स्वयमेव प्रतिपादितं भवति । तथाहि-'प्रमा ४०

१-न्धित्वलक्षणम-वि० । २-लक्षणलक्षि-वा० । ३ पृ० ७० पं० १९-पृ० ७१ पं० ३ । ४ पृ० १५ पं० १० । ५ चाऽ-भा०, का०, मां० ।

णनिबन्धना प्रमेयव्यवस्थितिः' इत्येवंवदता प्रमेयव्यवस्था प्रमाणनिमित्तैव प्रतिपादिता भवति, एतच्च प्रसङ्गसाधनम्, तच्च 'व्याप्यव्यापकभावे सिद्धे यत्र व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यते' इत्येवंलक्षणम्, तेन प्रमेयव्यवस्था प्रमाणप्रवृत्त्या व्याप्ता प्रमाणतो भवता प्रदर्शनीया। अन्यथा प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेणापि प्रमेयव्यवस्था स्यात्। ततश्च कथं परलोकादिसाधकप्रमाणपर्यनुयो-
५गेऽपि परलोकव्यवस्था न भवेत्? व्याप्यव्यापकभावग्राहकप्रमाणाभ्युपगमे च कथं कार्यहेतोः स्वभावहेतोर्वा परलोकादिप्रसाधकत्वेन प्रवर्त्तमानस्य प्रतिक्षेपः व्याप्तिप्रसाधकप्रमाणसद्भावेऽनुमानप्रवृत्तेरनायाससिद्धत्वात्? प्रमाणाभावे तन्निबन्धनायाः प्रमेयव्यवस्थाया अप्यभाव इति प्रसङ्गविपर्ययः स च 'व्यापकाभावे व्याप्यस्याप्यभावः' इत्येवंभूतव्यापकानुपलब्धिसमुद्भूतानुमानस्वरूप.। एतदपि प्रसङ्गविपर्ययरूपमनुमानं प्रमाणतो व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ प्रवर्तेत इति व्याप्तिप्रसाधकस्य प्रमाणस्य
१०तत्प्रसादलभ्यस्य चानुमानस्य प्रामाण्ये स्ववाचैव भवता दत्तः स्वहस्त इति नानुमानादिप्रामाण्यप्रतिपादनेऽस्माभिः प्रयस्यते। अतो यदुक्तम् 'सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः' इति, तद् अभिधेयशून्यमिव लक्ष्यते उक्तन्यायात्।

यत् तूक्तम् 'प्रत्यक्षं सन्निहितविषयत्वेन चक्षुरादिप्रभवं परलोकादिग्राहकत्वेन न प्रवर्तते' तत्र सिद्धसाधनम्। यच्चोक्तम् 'नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षम्, परलोकवत् तस्यासिद्धेः' इति, तद् विस्मर-
१५णशीलस्य भवतो वचनम्, अतीन्द्रियार्थप्रवृत्तिप्रवणस्य योगिप्रत्यक्षस्यानन्तरमेव प्रतिपादितत्वात्।

यत् पुनरिदमुच्यते 'नापि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं तदभावे प्रवर्त्तते' तदसङ्गतम्, प्रत्यक्षेण हि संबन्धग्रहणपूर्वं परोक्षे पावकादौ यथाऽनुमानं प्रवर्तमानमुपलभ्यते स एव न्यायः परलोकसाधनेऽप्यनुमानस्य किमित्यदृष्टो दुष्टो वा। तथाहि-यत् कार्यं तत् कार्यान्तरोद्भूतम्, यथा पटादिलक्षणं कार्यम्, कार्यं चेदं जन्म इति भवत्यतो हेतोः परलोकसिद्धिः। तथाहि-

२० "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः"॥ [ ] इति।

न तावत् कार्यत्वमिहजन्मनो न सिद्धम्, अकार्यत्वे हेतुनिरपेक्षस्य नित्यं सत्त्वाऽसत्त्वप्रसङ्गात्। अथ स्वभावत एव कादाचित्कत्वं पदार्थानां भविष्यति, नहि कार्यकारणभावपूर्वकत्वं प्रत्यक्षत उपलब्धं येन तदभावान्निवर्तेत, प्रत्यक्षत. कार्यकारणभावस्यैवासिद्धे.। यद्येवं बाह्येनाप्यर्थेन सह कार्यकारणभावस्या-
२५सिद्धेः स्वसंवेदनमात्रत्वे सति अद्वैतम्, विचारतस्तस्याप्यभावे सर्वशून्यत्वमिति सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। तस्माद् यथा प्रत्यक्षेण बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वमात्मनः प्रतीयते—अन्यथेहलोकस्याप्यप्रसिद्धेः, प्रत्यक्षत. तज्जन्यस्वभावत्वानवगमे तस्य तद्ग्राहकत्वासंभवात्; तथा चेहलोकसाधनार्थमङ्गीकर्त्तव्यं प्रत्यक्षं स्वार्थेनात्मनः प्रतिबन्धसाधकम्—तथा परलोकसाधनार्थमपि तदेव साधनमिति सिद्ध. परलोकोऽनुमानत.। यथा च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वं प्रत्यक्षस्य कादाचित्कत्वेन साध्यते, धूमस्यापि वह्निप्रति-
३०बद्धत्वम्, तथेहजन्मनोऽपि कादाचित्कत्वेन जन्मान्तरप्रतिबद्धत्वमपि। ततोऽनल-बाह्यार्थवत् परलोकेऽपि सिद्धमनुमानम्।

अथेहजन्मादिभूतमातापितृसामग्रीमात्रादप्युत्पत्तेः कादाचित्कत्वं युक्तमेवेहजन्मन, नन्वेवं प्रदेश-समनन्तरप्रत्ययमात्रसामग्रीविशेषादेव धूम-प्रत्यक्षसंवेदनयोः कादाचित्कत्वमिति न सिध्यति वह्नि-बाह्यार्थप्रतीतिरिति सकलव्यवहाराभावः। अथाकारविशेषादेवानन्यथात्वसंभवितोऽ-
३५नल-बाह्यार्थसिद्धिस्तर्हीहजन्मनोऽपि प्रज्ञा-मेधाद्याकारविशेषत एव मातापितृव्यतिरिक्तनिजजन्मान्तरसिद्धि.। तथा, यथाऽऽकारविशेष एवायं तैमिरिकादिज्ञानव्यावृत्त. प्रत्यक्षस्य बाह्यार्थमन्तरेण न भवतीति निश्चीयते—अन्यथा बाह्यार्थासिद्धेर्बौद्धाभिमतसंवेदनाद्वैतमेवेति पुनरपि व्यवहाराभाव -तथेहजन्मादिभूतप्रज्ञाविशेषाद् इहजन्मविशेषाकारो निजजन्मान्तरप्रतिबद्ध इति निश्चीयतामनुमानत.। अथ प्रत्यक्षमेव सविकल्पकं परमार्थत. प्रतिपत्तुः "तत. परं पुनर्वस्तु धर्मै." [श्लो० वा०
४०सू० ४, श्लो०१२०] इत्यादि मीमांसकादिप्रसिद्धं साधकं वह्नि-बाह्यार्थपूर्वकत्वस्य धूम-आग्र(पुरो)वृत्ति

१-स्वरूपम् वा० विना। २-व्यापकसिद्धौ वां०। ३ पृ० ६९ पं० २९। ४ पृ० ७० पं० ५। ५ पृ० ७० पं० ६। ६ सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे। ७ पृ० ७० पं० ८। ८-कार्यस्य कारण-वां०, गु०। ९-भवतो-गु०। १०-पादिजन्म-वा० विना। ११-पुरोवर्ति मा०।

स्तम्भादिप्रत्ययस्य, अत्राभ्युपगमे परलोकवादिनः स्वपक्षमनायाससिद्धमेव मन्यन्ते; "नहि दृष्टेऽनुपपन्नम्" इति न्यायात् । यथैव हि निश्चयरूपा मातापितृ-जन्मप्रतिबद्धत्वसिद्धिस्तथैवेहजन्मसंस्कारव्यावृत्तादिहजन्मप्रज्ञाद्याकारविशेषान्निजजन्मान्तरप्रतिबद्धत्वसिद्धिरपि प्रत्यक्षनिश्चिता स्यादिति न परलोकक्षतिः । न च निश्चयप्रत्ययोऽनभ्यासदशायामनुमानतामतिक्रामति, "पूर्वरूपसाधर्म्यात् तत् तथाप्रसाधितं नानुमेयतामतिपतति" [   ] इति न्यायात् अन्वय-व्यतिरेक-पक्षधर्मताऽनुसरणस्यानभ्यासदशायामुपलब्धेः; अभ्यासदशायां च पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणस्यान्यत्राप्यसंवेदनात् सिद्धमनुमानप्रतीतत्वं परलोकस्य ।

अथेतरेतराश्रयदोषादनुमानं नास्त्येवैवंविधे विषये इत्युच्येत, नन्वेवं सति सर्वभेदाभावतो व्यवहारोच्छेद इति तदुच्छेदमनभ्युपगच्छता व्यवहारार्थिनाऽवश्यमनुमानमभ्युपगन्तव्यम् । एतेन प्रत्यक्षपूर्वकत्वाभावेऽप्यनुमानस्य प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । न चानुमानपूर्वकत्वेऽपीतरेतराश्रयदोषानुषङ्गः, तस्यैवेतरेतराश्रयदोषस्य व्यवहारप्रवृत्तितो निराकरणात् ।

यदप्युक्तम् 'अनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्नानुमानप्रवृत्तिः' इति, तदप्यसङ्गतम्; एवं हि सति प्रत्यक्षगृहीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषये नानुमानप्रवृत्तिमन्तरेण तन्निरास इति बाह्येऽर्थे प्रत्यक्षस्याव्यापारात् पुनरप्यद्वैतापत्तेः शून्यतापत्तेर्वा व्यवहारोच्छेद इति व्यवहारबलात् सैवानवस्था परिह्रियत इति । अभ्युपगमवादेन चैतदुक्तम्, अन्यथा बाह्यार्थव्यवस्थापनाय प्रत्यक्षं प्रवर्तते । तथा, प्रदर्शितहेतोर्व्याप्तिप्रसाधनार्थं केषांचिद् मतेन निर्विकल्पम्, अन्येषां तु सविकल्पकं चक्षुरादिकरणव्यापारजन्यम्, अपरेषां मानसम्, केषाञ्चिद् व्याप्तिग्रहणोपयोगि ज्ञानम्, अन्येषां प्रत्यक्षानुपलम्भबलोद्भूताऽलिङ्गजोहाख्यं परोक्षं प्रमाणं तत्र व्याप्रियत इति कथमनुमानेन प्रतिबन्धग्रहणेऽनवस्थे-तरेतराश्रयदोषप्रसक्तिः परलोकवादिनः प्रति भवता प्रेर्येत ?

यदप्युक्तम् 'सर्वमप्यनुमानमस्मान् प्रति प्रमाणत्वेनासिद्धम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतः किमनुमानमात्रस्याप्रामाण्यं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् "अनुमानमप्रमाणम्" इत्यादिग्रन्थेन, अथ तान्त्रिकलक्षणाक्षेपः, अतीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपो वा ? न तावदनुमानमात्रप्रतिषेधो युक्तः, लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । यतः प्रतियन्ति कोविदाः कस्यचिदर्थस्य दर्शने नियमतः किञ्चिदर्थान्तरं न तु सर्वस्मात् सर्वस्यावगमः । उक्तं चान्येन-

"स्वगृहान्निर्गतो भूयो न तदाऽऽगन्तुमर्हति" । [   ]

अतः किञ्चिद् दृष्ट्वा कस्यचिदवगमे निमित्तं कल्पनीयम् । तच्च नियतसाहचर्यमविनाभावशब्दवाच्यं नैयायिकादिभिः परिकल्पितम् । तदवगमश्च प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसहायमानसप्रत्यक्षतः प्रतीयते । सामान्यद्वारेण प्रतिबन्धावगमाद् देशादिव्यभिचारो न बाधक, नापि व्यक्त्यानन्त्यम्, उभयत्रापि सामान्यस्यैकत्वात् । सामान्याक्रुष्टाशेषव्यक्तिप्रतिभानं च मानसे प्रत्यक्षे यथा शतसङ्ख्याऽवच्छेदेन 'शतम्' इति प्रत्यये विशेषणाक्रुष्टानां पूर्वगृहीतानां शतसङ्ख्याविषयपदार्थानाम् । तथाहि— 'एते शतम्' इति प्रत्ययो भवत्येव । सामान्यस्य च सत्त्वमनुगताऽबाधितप्रत्ययविषयत्वेन व्यवस्थापितम् । तदेवं नियतसाहचर्यमर्थान्तरं प्रतिपादयदुपलब्धं सत् प्रतिपादयति । उपलम्भश्चावश्यं क्वचित् स्थितस्य, सैव पक्षधर्मता, ततः सम्बन्धानुस्मृतौ ततः साध्यावगमः । यस्तु प्रतिबन्धं नोपैति तस्यापि कथं न सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्तिः अभ्युपगमे वाऽप्रतिपन्नेऽपि संबन्धे[12] प्रतिपत्तिप्रसङ्गः ? । प्रमातृसंस्कारकारकाणां पूर्वदर्शनानामभावात् इत्यनुत्तरम्, संबन्धाप्रतिपत्तौ प्रमातृसंस्कारानुपपत्तेः । दर्शनजः संस्कारोऽप्यनभिव्यक्तः सत्तामात्रेण न प्रतिपत्त्युपयोगी, न च स्मृतिमन्तरेण तत्सद्भावोऽपि । न चानुभवप्रध्वंसनिबन्धना स्मृतिः क्वचिद्विषये, संस्कारमन्तरेण तदनुपपत्तेः प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वासंभवात् । यत्राप्यभ्यस्ते विषये वस्त्वन्तरदर्शनादव्यवधानेन वस्त्वन्तरप्रतिपत्तिस्तत्रापि प्राक्तनक्रमाश्रयणेन वस्त्वन्तरावगमः । इयांस्तु विशेषः—एकत्रानभ्यस्तत्वादन्तराले स्मृतिसंवेदनम्, अन्यत्राभ्यासाद् विद्यमानाया अप्यसंवित्तिः । केचित्तु "योगिप्रत्यक्षं

१ मातृपितृ-भा०, वा० । २-प्रसाधितां वा०, गु० । ३ पृ० ७० पं० १७ । ४ पृ० ७४ पं० १९ । ५ व्याप्तिप्र-मा० ब० । ६ पृ० ७० पं० १७ । ७ पृ० ७० पं० १९-पृ० ७१ पं० ३ । ८-णाक्षेपः वा० । ९ 'लौकिकाः' मा० टि० । कोकिलाः वा० । १०-गमेति (गम इति) निमित्तं वा०, बा० । ११-चर्यमर्थमर्थान्तरं भा०, मा०, क०, हं० विना । १२-केषु- चित्तु आदर्शेषु-न्धेऽप्रतिपत्ति- । १३-कतासंभवात् वा०, भां०, मा० ।

संबन्धग्राहकमाहुः व्याप्तेः सकलाक्षेपेणावगमात्" तथा च यत्र यत्रेति देशकालविक्षिप्तानां व्यक्तीनामनवभासाऽनुपपत्तिः, अत एकत्र क्षणे योगित्वं प्रतिबन्धग्राहिणः। एतत् पूर्वस्मादविशिष्टम्, तद् लोके अर्थान्तरदर्शनात् अर्थान्तरसुदृढप्रतीतौ तार्किकाणां निमित्तचिन्तायां पक्षधर्मत्वाद्यभिधानम्। अतो न तान्त्रिकलक्षणप्रतिक्षेपोऽपि।

५ उत्पन्नप्रतीतीनामस्तु प्रामाण्यम्, उत्पाद्यप्रतीतीनां तु अतीन्द्रियाऽदृष्ट-परलोक—सर्वज्ञाद्यनुमानानां प्रतिक्षेप इति चेत्, तदसत्; यद्यनवगतसंबन्धान् प्रतिपत्तॄनधिकृत्यैतदुच्यते तदा धूमादिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीताविनाभावानामप्यतीन्द्रियपरलोकादिप्रतिभासानुत्पत्तेरेवमुच्यते, तदसत्; ये हि कार्यविशेषस्य तद्विशेषेण गृहीताविनाभावास्ते तस्मात् परलोकाद्यवगच्छन्त्येव; अतो न ज्ञायते केन विशेषेणातीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपः? साहचर्याविशेषेऽपि
१० व्याप्यगता नियतता प्रयोजिका न व्यापकगता, अतः समव्याप्तिकानामपि व्याप्यमुखेनैव प्रतिपत्तिः। नियतताऽवगमे चार्थान्तरप्रतिपत्तौ न बाधा, न प्रतिबन्धः, एकस्य रूपभेदानुपपत्तेः। ततो न विशेषविरुद्धसंभवः नापि विरुद्धाव्यभिचारिण इति यदुक्तम् 'विरुद्धाऽनुमान—विरोधयोः सर्वत्र संभवात् क्वचिच्च विरुद्धाव्यभिचारिणः' इति, एतदप्यपास्तम्। 'अविनाभावसंबन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अवस्था—देश-कालादिभेदात्' इत्यादेश्च पूर्वनीत्याऽनुमानप्रमाणत्वेऽनुपपत्तिः।

१५ परोक्षस्यार्थस्य सामान्यान्तरेणान्यतः प्रतिपत्तौ लोकप्रतीतायां बौद्धैस्तु कार्यकारणभावादिलक्षणः प्रतिबन्धस्तन्निमित्तत्वेन कल्पितः। तदुक्तम्—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्" ॥ [ ] इत्यादि।

तथा—

२० "अवश्यंभावनियमः कः परस्यान्यथा परैः।
अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मे वाससि रागवत्" ॥ [ ] इति च।

तथाहि—क्वचित् पर्वतादिदेशे धूम उपलभ्यमानो यद्यग्निमन्तरेणैव स्यात् तदा पावकधर्मानुवृत्तितस्तस्य तत्कार्यत्वं यन्निश्चितं विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां तदेव न स्यादित्यहेतोस्तस्यासत्त्वात् क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वदा सर्वत्र सर्वाकारेण चोपलम्भः स्यात्; अहेतोः सर्वदा सत्त्वात्।
२५ स्वभावश्च यदि भावव्यतिरेकेण स्यात् ततो भावस्य निःस्वभावत्वापत्तेः स्वभावस्याप्यभावापत्तिः। तत्प्रतिबन्धसाधकं च प्रमाणं कार्यहेतोर्विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दवाच्यं प्रत्यक्षमेव सर्वत्रसाधकहेतुप्रतिबन्धनिश्चयप्रस्तावे प्रदर्शितम्। स्वभावहेतोस्तु कस्यचिद् विपर्यये बाधकं प्रमाणं व्यापकानुपलब्धिस्वरूपम्, कस्यचित् तु विशिष्टं प्रत्यक्षमभ्युपगतम्। सर्वथा सामान्यद्वारेण व्यक्तीनाम् अतद्रूपपरावृत्तव्यक्तिरूपेण वा तासां प्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः; अन्यथाऽप्रतिबद्धादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावति-
३० प्रसङ्गात्। प्रतिबन्धप्रसाधकं च प्रमाणमवश्यमभ्युपगमनीयम्; अन्यथाऽगृहीतप्रतिबन्धत्वादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावपि प्रसङ्गस्तदवस्थ एव। यत्र गृहीतप्रतिबन्धोऽसावर्थ उपलभ्यमानः साध्यसिद्धिं विदधाति तद्धर्मता तस्य पक्षधर्मत्वस्वरूपा, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं वा। तदुक्तं धर्मकीर्तिना—

"पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" [ ]

३५ अतो लोकप्रसिद्ध-तान्त्रिकलक्षणलक्षितानुमानयोर्भेदाभावादतीन्द्रियपरलोकाद्यर्थसाधकत्वमपि तस्यैवेति तत्प्रामाण्यानभ्युपगमे इहलोकस्यापि अभ्युपगमाभावप्रसङ्गः। न च 'किमत्र निर्विकल्पकम्, मानसम्, योगिप्रत्यक्षम्, ऊहो वा प्रतिबन्धनिश्चायकम्, प्रतिबन्धोऽपि नियतसाहचर्यलक्षणः कार्यकारणभावादिर्वा' इति चिन्ताऽत्रोपयोगिनी, धूमादग्निप्रतिपत्तिवत् प्रज्ञा-मेधादिविज्ञानकार्यविशेषादिजजन्मान्तरविज्ञानस्वभावपरलोकप्रतिपत्तिसिद्धेः। अतोऽनुमानाप्रामाण्यप्रतिपादनाय

१ पृ० ७५ पं० २७। २ पृ० ७० पं० ३६। ३ पृ० ७० पं० ३३-३५। ४ परे कां०। ५-०र्थनिमित्तेऽथवा-भ०। ६ पृ० ५७ पं० १८।

पूर्वपक्षवादिना यद् युक्तिजालमुपन्यस्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्; प्रतिपदमुच्चार्य न दूष्यते ग्रन्थगौरवभयात्।

यदप्युक्तम् 'परलोके प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरर्थापत्तिरेवेयम् इहजन्मान्यथाऽनुपपत्त्या परलोकसद्भावः' इति, तदपि न सम्यक्; पूर्वानुसारेण सर्वस्य नियतप्रत्ययस्य प्रवृत्तेरनुमानत्वप्रतिपादनात्। अविनाभावसंबन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वान्नात्रानुमानमिति चेत्; नन्वेवं तदेवाद्वैतं शून्यत्वं वा कस्य केन दोषाभिधानम्। तस्मात् संव्यवहारकारिणा प्रत्यक्षेण ऊहेन वा प्रतिबन्धसिद्धिरिति कथं नानुमानात् परलोकसिद्धिः?

यदप्युक्तम् 'मातापितृसामग्रीमात्रेणेहजन्मसंभवान्न तज्जन्मव्यतिरिक्तभूतपरलोकसाधनं युक्तम्' इति, तदपि प्रतिविहितमेव; समनन्तरप्रत्ययमात्रेण प्रत्ययप्रत्यक्षस्य भावात् स्वप्नादिप्रत्ययवन्न प्रत्यक्षाद् बाह्यार्थसिद्धिरपि इति बौद्धाभिमतपक्षसिद्धिप्रसङ्गोऽनन्तत्वात्। यदपि प्रत्यपादि 'न संनिहितमात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य देश-कालव्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणसामर्थ्यम्' इति, तदपि न किञ्चित्; एवं सति अतिसंनिहितविषयत्वेन प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्र एव प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति तदेव बौद्धाद्यभिमतं स्वसंवेदनमात्रं सर्वव्यवहारोच्छेदकारि प्रसक्तमिति प्रतिपादितत्वात्। तस्माल्लोकव्यवहारप्रवर्त्तनक्षमसविकल्पकप्रत्यक्षबलाद् ऊहाख्यप्रमाणाद् वा देश-कालव्याप्त्या यथोक्तलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धग्रहणे प्रवृत्तिरनुमानस्येति न व्याहतिः प्रकृतस्येति एतदपि निरस्तम् 'केचित् प्रज्ञादयः' इत्यादि। न च 'प्रज्ञा-मेधादयः शरीरस्वभावान्तर्गताः' इत्यादि चोद्यं युक्तम्, तदन्तर्गतत्वेऽपि परिहारसंभवादन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तेषां मातापित्रोः पितृशरीरजन्यत्वस्य पितृशरीरं (?) तर्हि हेतुभेदान्न भेदो मातापितृशरीरादपत्यप्रज्ञादीनाम्। अयमपरो बृहस्पतिमतानुसारिण एव दोषोऽस्तु यः कार्यभेदेऽपि कारणभेदं नेच्छति। अस्माकं तु हर्ष-विषादाद्यनेकविरुद्धधर्माक्रान्तस्य विज्ञानस्यान्तर्मुखाकारतया वेद्यस्य रूपरसगन्धस्पर्शादियुगपद्भावि—बालकुमारयौवनवृद्धावस्थाद्यनेकक्रमभाविविरुद्धधर्माध्यासितशरीरादेर्बाह्येन्द्रियप्रभवविज्ञानसमधिगम्याद् भेदः सिद्ध एव। विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च पदार्थानां भेदकः; स च जलाऽनलयोरिव शरीर-विज्ञानयोर्विद्यत एवेति कथं न तयोर्भेदः? तद्भेदादप्यभेदे ब्रह्माद्वैतवादापत्तेस्तदवस्थ एव पृथिव्यादितत्त्वचतुष्टयाभावापत्त्या व्यवहारोच्छेदः। अथवा मातापितृ-पूर्वजन्मैकसामग्रीजन्यमेतत् कार्यम्, एतन्न (तन्न) दोषोऽव्यतिरिक्तपक्षेऽपि विज्ञानशरीरयोः। पूर्वमप्युक्तम् 'विलक्षणादप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मातापितृशरीराद् विज्ञानमुपजायताम्; नहि कारणाकारमेव सकलं कार्यम्' इति, तदप्यसत्; यतो नहि कारणविलक्षणं कार्यं न भवतीत्युच्यते, अपि तु तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानात् तत्कार्यत्वम्। तथाहि—यद् यद्विकारान्वय-व्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कार्यमिति व्यवस्थाप्यते, यथा अगुरु-कर्पूरोर्णादिदाह्यदाहकपावकगतसुरभिगन्धाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी धूमस्तत्कार्यतया व्यवस्थितः, एकसन्तत्यनुपतितशास्त्रसंस्कारादिसंस्कृतप्राक्तनविज्ञानधर्मान्वयव्यतिरेकानुविधायि च प्रज्ञा-मेधाद्युत्तरविज्ञानमिति कथं न तत्कार्यमभ्युपगंस्यते? तदनभ्युपगमे धूमादेरपि प्रसिद्धवह्न्यादिकार्यस्य तत्कार्यत्वाप्रसिद्धिरिति पुनरपि सकलव्यवहारोच्छेदः।

"तस्माद्यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते।
तन्नान्तरीयकं चित्तमतश्चित्तसमाश्रितम्" ॥ [ ]

प्रतिपादितश्च प्रमाणतः प्रतिनियतः कार्यकारणभावः सर्वज्ञसाधने '**कुसमयविसासणं**' इतिपदव्याख्यां कुर्वद्भिर्न पुनरिहोच्यते।

योऽपि शालूकदृष्टान्तेन व्यभिचारः 'यथा गोमयादपि शालूकः, कश्चित् समानजातीयादपि शालूकादेव तथा केचित् प्रज्ञा-मेधादयस्तदभ्यासात्, केचित् तु रसायनोपयोगात्,

---

१ पृ० ७० पं० २१। २ पृ० ७१ पं० ४। ३ पृ० ७४ पं० २४। ४ पृ० ७१ पं० ८। ५ पृ० ७४ पं० ३२। ६ पृ० ७१ पं० ११। ७ पृ० ७४ पं० २४। ८ प्रज्ञादय इति इत्यादि भा०, का०, गु०, मा०। ९ पृ० ७१ पं० १४। १० पृ० ७१ पं० १४। ११-न्यत्वेस्य अ०। -न्यत्वस्यापि-मा०। १२-णाभेदं वा०। १३-तन्न दोषो-गु०। १४ एत न दोषो-वा०, बा०। १५-ऽव्यतिरेकपक्षेऽपि भा०, मा०। १६ पृ० ७१ पं० १८। १७-नाम्येत मां०। १८ पृ० ५७ पं० ३६।

अपरे मातापितृशुक्रशोणितविशेषादेव' इति, सोऽपि न सम्यग्; तत्रापि समानजातीय पूर्वाभ्याससंभवात्; अन्यथा समानेऽपि रसायनाद्युपयोगे यमलकयोः कस्यचित् क्वापि प्रज्ञा-मेधादिकमिति प्रतिनियमो न स्यात्, रसायनाद्युपयोगस्य साधारणत्वादिति । न च प्रज्ञादीनां जन्मादौ रसायनाभ्यासे च विशेषः, शालूक-गोमयजन्यस्य तु शालूकादेस्तदन्यस्माद् विशेषो दृश्यते ।
५ क्वचिज्जातिस्मरणं च दर्शनमिति न युक्ता दृष्टकारणादेव मातापितृशरीरात् प्रज्ञा-मेधादिकार्यविशेषोत्पत्तिः । न च गोमय-शालूकादेर्व्यभिचारविषयत्वेन प्रतिपादितस्यात्यन्तवैलक्षण्यम्, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्पुद्गलपरिणामत्वेन द्वयोरपि अवैलक्षण्यात् । विज्ञान-शरीरयोश्चान्तर्बहिर्मुखाकारविज्ञानग्राह्यतया स्व-परसंवेद्यतया स्वसंवेदन-बाह्यकरणादिजन्यप्रत्ययानुभूयमानतया च परस्परताननुयाय्यनेकविरुद्धधर्माध्यासतोऽत्यन्तवैलक्षण्यस्य प्रतिपादितत्वाद् नोपादानोपादेयभावो युक्तः ।

१० यस्तु शरीरवृद्ध्यादेश्चैतन्यवृद्ध्यादिलक्षण उपादानोपादेयभावधर्मोपलम्भः प्रतिपाद्यतेऽसौ महाकायस्यापि मातङ्गाऽजगरादेश्चैतन्याल्पत्वेन व्यभिचारीति न तद्भावसाधकः । यस्तु शरीरविकाराच्चैतन्यविकारोपलम्भलक्षणस्तद्धर्मभावः प्रतिपाद्यतेऽसावपि सात्त्विकसत्त्वानाम् अन्यगतचित्तानां वा छेदादिलक्षणशरीरविकारसद्भावेऽपि तच्चित्तविकारानुपलब्धेरसिद्धः । दृश्यते च सहकारिविशेषादपि जल-भूम्यादिलक्षणाद् बीजोपादानस्याङ्कुरादेर्विशेष इति सहकारिकारणत्वेऽपि शरीरादे-
१५ र्विशिष्टाहाराद्युपयोगादौ यौवनावस्थायां वा शास्त्रादिसंस्कारोपात्तविशेषपूर्वज्ञानोपादानस्य विज्ञानस्य विवृद्धिलक्षणो विशेषो नासंभवी ।

यदप्युक्तम् 'अनादिमातापितृपरम्परायां तथाभूतस्यापि बोधस्य व्यवहितमातापितृगतस्य सद्भावात् ततो वासनाप्रबोधेन युक्त एव प्रज्ञा-मेधादिविशेषस्य संभवः' इति, तदप्ययुक्तम्; अनन्तरस्यापि मातापितृपाण्डित्यस्य प्रायः प्रबोधसंभवात्; ततश्चक्षुरादिकरणजनितस्य स्वरू-
२० पसंवेदनस्य चक्षुरादिज्ञानस्य वा युगपत् क्रमेण चोत्पत्तौ 'मयैवोपलब्धमेतत्' इति प्रत्यभिज्ञानं सन्तानान्तरतदपत्यज्ञानानामपि स्यात्, न च मातापितृज्ञानोपलब्धेस्तदपत्यादेः कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानमुपलभ्यते । अनेन 'एकस्माद् ब्रह्मणः प्रजोत्पत्तिः' प्रत्युक्ता, एकप्रभवत्वे हि सर्वप्राणिनां परस्परं प्रत्यभिज्ञाप्रसङ्गः एकसन्तानोद्भूतदर्शन-स्पर्शनप्रत्यययोरिव ।

यच्चोक्तम् 'आत्मनोऽदृष्टेनात्मानमाश्रित्य परलोकः' इति, तदयुक्तम्; तददृष्टत्वसिद्धेः । तथाहि—
२५ देहेन्द्रिय-विषयादिव्यतिरिक्तोऽहंप्रत्ययप्रत्यक्षोपलभ्य एवात्मा । न च चक्षुरादेः करणग्रामस्यातीन्द्रियात्मविषयत्वेन ज्ञानजननाव्यापारात् कथं तज्जन्यप्रत्यक्षज्ञानविषय इति वक्तुं युक्तम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । तथाहि—उपसंहृतसकलेन्द्रियव्यापारस्य अन्धकारस्थितस्य च 'अहम्' इति ज्ञानं सर्वप्राणिनामुपजायमानं स्वसंविदितमनुभूयते, तत्र च शरीराद्यनवभासेऽपि तद्व्यतिरिक्तमात्मस्वरूपं प्रतिभाति । न चैतद् ज्ञानमनुभूयमानमप्यपह्नोतुं शक्यम्, अनुभूयमानस्याप्यपलापे सर्वापलापप्र-
३० सङ्गात् । नाप्येतन्नोत्पद्यते, कादाचित्कत्वविरोधात् । नापि बाह्येन्द्रियव्यापारप्रभवम्, तद्व्यापाराभावेऽप्युपजायमानत्वात् । नापि शब्द-लिङ्गादिनिमित्तोद्भूतम्, तदभावेऽप्युत्पत्तिदर्शनात् । न चेदं बाध्यत्वेनाप्रमाणम्, तत्र बाधकसद्भावस्यासिद्धेः । न चेदं सविकल्पकत्वेनाप्रमाणम्, सविकल्पकस्यापि ज्ञानस्य प्रमाणत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । कदाचिच्च बाह्येन्द्रियव्यापारकालेऽपि यदा 'घटमहं जानामि' इत्येवं विषयमवगच्छति तदा स्वात्मानमपि । तथाहि—तत्र यथा विषयस्याव-
३५ भासः कर्मतया तथाऽऽत्मनोऽप्यवभासः कर्तृतया । न च शरीरादीनां ज्ञातृता, यथा हि शरीराद् व्यतिरिक्ता घटादयः प्रतीतिकर्मतया प्रतिभान्ति—'मम घटादयः, अहं घटादीनां ज्ञाता' एवं 'मम शरीरादयः, अहं शरीरादीनां ज्ञाता' इत्येवं च प्रतीतिकर्मत्वेन घटादिभिस्तुल्यत्वान्न शरीरादिसंघातस्य ज्ञातृता । न च ज्ञातृप्रतिभासः, तदप्रतिभासे हि 'ममैते भावाः प्रतिभान्ति नान्यस्य' इत्येवं प्रतिभासो न स्यात्; तदवभासापह्नवे च घटादेरपि कथं प्रतीतिः? इयांस्तु विशेषः—एकस्य प्रती-
४० तिकर्मता अपरस्य तत्प्रतीतिकर्तृता न त्वनवभासः; अतो लिङ्गाद्यनपेक्ष आत्माऽवभासोऽप्यस्तीति

---

१ पृ० ७१ पं० १९ । २-तिसरणादर्शन-वा० बा० । ३ पृ० ७१ पं० १९ । ४ पृ० ७७ पं० १८ । ५ युक्तः । शरीर-कां०, गु० । ६-पयोगाद् यौ-मां० । ७ पृ० ७१ पं० २४ । ८ पृ० ७१ पं० २५ । ९ पृ० ७१ पं० २९-३० । १०-यादिवि-मां० । ११-सकलव्यापार-मां० । १२-दात्मानमपि । तत्र गु० ।

कथं तस्यादृष्टिः ? न चास्य प्रत्ययस्य बाधारहितस्यापूर्वार्थविषयस्याक्षजविषयावभासस्येवासन्दिग्धरूपस्य निश्चितरूपत्वेन प्रतिभासमानस्य स्मृतिरूपता अप्रामाण्यं वा प्रतिपादयितुं युक्तम् । अतोऽस्यामपि प्रतीतावश्वभासमानस्यापरोक्षतैव युक्ता न प्रमाणान्तरगम्यता ।

यदप्यत्राहुः-[अस्त्ययमवभासः किन्त्वस्य प्रत्यक्षता चिन्त्या । प्रत्यक्षं हीन्द्रियव्यापारजं ज्ञानम् । तथाचोक्तं भवद्भिः—"इन्द्रियाणां सत्संप्रयोगे बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] प्रत्यक्षविषयत्वात् तदर्थस्य प्रत्यक्षता न तु साक्षात्, अनिन्द्रियजत्वेन । तत्र घटादेर्वाह्येन्द्रियज्ञानविषयत्वेन सर्वलोकप्रतीताऽध्यक्षता नत्वेवमात्मनः । ५

अथैवमुच्येत—नात्मनो घटादितुल्या प्रत्यक्षता, घटादेर्हि इन्द्रियजज्ञानविषयत्वेन सा व्यवस्थाप्यते, न त्वात्मा कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः । कथं तर्हि प्रत्यक्षः ? न ज्ञानविषयत्वात् प्रत्यक्षः अपि त्वपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्ष उच्यते; तच्च केवलस्य घटादिप्रतीत्यन्तर्गतस्य वाऽपरसाधनं प्राक् प्रतिपादितम्, एतदप्यसत्; यतः अपरसाधनमिति कोऽर्थः—किं चिद्रूपस्य सत्ता, आहोस्वित् स्वप्रतीतौ व्यापारः ? यदि चिद्रूपस्य सत्तैवात्मप्रकाशनमुच्यते तदा दृष्टान्तो वक्तव्यः । न चात्राऽऽशङ्कनीयम्—अपरोक्षे दृष्टान्तान्वेषणं न कर्त्तव्यम्, यतस्तथाविधे विवादविषये सुप्रसिद्धं दृष्टान्तान्वेषणं दृश्यते । न च दीपादि दृष्टान्तः, तत्र हि सजातीयालोकानपेक्षत्वेन स्वप्रतीतौ स्वप्रकाशकत्वं व्यवस्थापितं कैश्चित् न त्विन्द्रियाग्राह्यत्वम्; तद्ग्राह्यत्वे 'स्वप्रकाशाः प्रदीपादयः' इति चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसङ्गः; तस्मान्न स्वप्रकाशाः प्रदीपादयः । यत्तु आलोकान्तरनिरपेक्षत्वं तत् कस्यचिद्विषयस्य काचित् सामग्री प्रकाशिका इति नैकत्र दृष्टत्वेनान्यत्रापि प्रसक्तिश्चोद्यते । अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः; अदर्शनादेव—नहि कश्चित् पदार्थः कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्टः । कथं तर्ह्यनुमेयत्वेऽप्यात्मप्रतीतिः प्रमात्रन्तराभावात् ? एकस्यैव लिङ्गादिकरणमपेक्ष्य(क्षया)वस्थाभेदेन भेदे सति अदोषः । १० १५ २०

किंच, प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य भावितस्य कोऽर्थः ? ज्ञातृतया स्वरूपेणावभासनमिति चेत्, घटादयोऽपि किं पररूपतया प्रतीतिविषयाः ? अतो यद् यस्य रूपं तत् प्रमाणविषयत्वेऽप्यवसीयते इति न ज्ञानाविषयता प्रमातुः । तथाहि—तस्य ज्ञातृता प्रमातृताऽऽत्मस्वरूपता, घटादेः प्रमेयता ज्ञेयता घटादिरूपता; अतो यथा तस्य स्वरूपेणावभासनान्नाऽप्रत्यक्षता तद्वदात्मनोऽपि । अभ्युपगमनीयं चैतत्, अन्यथाऽऽत्मादिस्वसंवेदनस्य प्रत्यक्षस्यापि प्रत्यक्षादिलक्षणव्यतिरिक्तं लक्षणान्तरं वक्तव्यम्; तथा च प्रमाणेयत्ताव्याघातः, केनचित् प्रत्यक्षादिलक्षणेनात्मादिविषयस्य स्वसंवेदनस्यासंग्रहात् । इतोऽप्ययुक्तं प्रमातृवत् फलेऽपि संवेदनाभ्युपगमप्रसङ्गात् । तथाऽभ्युपगमाददोष इति चेत्, तथा चोक्तम्- २५

"संवित्तिः संवित्तितयैव संवेद्या न संवेद्यतया" [ ] इति ।

एतत् प्राक् प्रतिक्षिप्तम्, न स्वरूपावभासे प्रमाणाविषयता । किंचैवं, एवं कल्प्यमाने बोधद्वयमान्तरम् स्वसंविद्रूपं च कल्पितं स्यात्, तथा चायुक्तम्, एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया ? अथोच्येत-कल्पना ह्यनवभासमानस्य, बोधद्वये तु घटादिवदवभासोऽस्तीति न कल्पना । यदीदृशाः प्रतिभासाः प्रमाणत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते तदा 'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इति करणप्रतीतिरपि प्रमातृ-फलप्रतीतिवत् कल्पनीया । ३०

याऽपि कैश्चित् करणप्रतीतिः प्रत्यक्षत्वेनोक्ता साऽपि नातीव संगच्छते । तथाहि-'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इत्यस्यामवगतौ किं गोलकस्य चक्षुष्ट्वम्, आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्तस्य ? गोलकस्य चक्षुष्ट्वे न कश्चिदन्धः स्यात् । तद्व्यतिरिक्तस्य च रश्मेरनभ्युपगमः; अभ्युपगमे वा न प्रतीतिविषयः, केवलं शब्दमात्रमुच्चारयति घटप्रतीतिकाले । एवं च प्रमातृ-फलविषयं शब्दोच्चारणमात्रमवसीयते, न च तयोः प्रतीतिगोचरता करणस्येव तथाहि-इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनमिति न्यायविदः प्रतिपन्नाः । 'किं तस्याव- ३५ ४०

१-यविषय-मां० । २ पृ० ७८ पं० ३४ । ३ तस्य हि मा० । ४-न प्रतीतौ प्रकाश-का०, गु० । ५ सुप्रकाशाः वा०, बा० विना सर्वत्र । ६-क्षावस्था मां० विना सर्वत्र । ७-ता घटादेर्रूपता घटा-गु० । ८ इतोऽप्ययुक्तम् भा० मा० ब० । ९-नाऽभ्युपगमदोष इति चेत् तथा चोक्तम् वा०, धा०, पू० । १०-णाविषयता मा० । ११-चिनैवं वा०, मा० । १२ तथायुक्तमे-वा०, या० । १३ योद्धयहेतुध-भा०, भा० ।

भासनम्' इति पर्यनुयोगे[1] मूकत्वं परिहारमाहुः, व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्। अतः प्रमात्रवभासानुपपत्तिः।
नन्वु'अहम्' इति प्रत्ययः सर्वलोकसाक्षिको नैवापह्नोतुं शक्यः। अनपह्नवे सविषयः, निर्विषयो वा? निर्विषयता प्रत्ययानामबाधितरूपाणां कथम्? सविषयत्वेऽपि प्रमात्रप्रतिभासे किंविषयोऽयं प्रत्ययः? न प्रत्ययापह्नवः न चास्य निर्विषयता किन्तु देहादिव्यतिरिक्तो विषयत्वेनावभासमान आ-५त्माऽस्य न विषयः न च ज्ञातृत्वेनावभासमान इत्युच्यते। कस्तर्हि विषयः? शरीरमिति ब्रूमः। तथाहि-'कृशोऽहम् स्थूलोऽहम् गौरोऽहम्'इति शरीराद्यालम्बनैः प्रत्ययैरस्य समानाधिकरणताऽवसीयते।
नन्वेवं सुख्यादिप्रत्ययैरप्यहङ्कारस्य समानाधिकरणता-सुख्यहं दुःख्यहमिति वा, अतो न देह-विषयता। यच्चोच्यते 'गौरोऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यदर्शनाच्छरीरालम्बनत्वम्' इति, तत्राप्येतद्वि-चार्यम्-गौरादीनां शरीरादिव्यतिरिक्तानामनहङ्कारास्पदत्वं दृष्टं तद्वच्छरीरादिगतानामपि युक्तं व्यव-१०स्थापयितुम्। तथा च वार्त्तिककृतोक्तम्—"न ह्यस्य द्रष्टुर्यदेतद् मम गौरं रूपं सोऽहमिति भवति प्रत्ययः, केवलं मतुब्लोपं कृत्वैवं निर्दिशति" [न्यायवा० पृ० ३४१ पं० २३]
अयमर्थः-शरीरेऽहङ्कार औपचारिको न तात्त्विकः, यथाऽन्यस्मिंस्तत्कार्यकारिण्यत्यन्तनिक-टेऽहङ्कारो गौणः 'योऽयं सोऽहम्' इति, एवं शरीरेऽपि। यतो निमित्ताद् अयमेतस्मिंस्तूभयसंप्रतिप-न्नेऽनात्मरूपे इदंताप्रत्ययविषयेऽहङ्कारस्तत एव शरीरेऽपि। आत्मविषयस्त्वहङ्कारो नौपचारिकः, १५इदंप्रत्ययासंभिन्नाहंप्रत्ययप्रतिभासित्वात् प्रमाता शरीरादिव्यतिरिक्तः।
एतदेव कथम्? 'ममेदं शरीरम्' इति प्रत्ययोपादानात् 'ममायमात्मा'इति प्रत्ययाभावाच्च। ननु 'ममायमात्मा' इति किं न भवति प्रत्ययः? न भवतीति ब्रूमः। कथं तर्ह्येवमुच्यते? केवलं शब्द उच्चार्यते न तु प्रत्ययस्य संभवः। अत्रापि ममप्रत्ययप्रतिभासस्यादर्शनात् शब्दोच्चारणमात्रं केन धार्यते। किमि-दानीं सुखादियोगः शरीरस्येष्यते? नैवम्, सुखादियोगाभावात् मिथ्याप्रत्ययोऽयं 'सुख्यहम्'इति २०न त्वेतदालम्बनः। अतो व्यवस्थितम्-ज्ञातृप्रतिभासादर्शनात् प्रतिभासे वा शरीरस्य ज्ञातृ-त्वेनावभासनान्न देहादिव्यतिरिक्तस्याहंप्रत्ययविषयता; शरीरस्य च ज्ञातृत्वेनावभासमानस्यापि प्रमाण-सिद्धां बुद्धियोगनिषेधान्मिथ्याप्रत्ययालम्बनता; न तु तस्याचैतन्येऽन्यः कश्चिद् ज्ञाता प्रत्यक्षप्रमाण-विषयः सिध्यतीत्यादि} तदप्यसङ्गतम्; यतो भवतु जैमिनीयानां "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि-जन्म प्रत्यक्षम्" [जैमि० अ० १-१-४] इतिलक्षणलक्षितेन्द्रियप्रत्यक्षवादिनाम् 'अहम्' इत्यवभासप्रत्य-२५यस्यानिन्द्रियजत्वेनात्राऽप्रत्यक्षत्वदोषो नास्माकं जिनमतानुसारिणाम्, न ह्यस्माकमिन्द्रियजमेव प्रत्यक्षं किंतु यद् यत्र विशदं ज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तत् तत्र प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्, "तद् इन्द्रियानि-न्द्रियनिमित्तम्" [तत्त्वार्थ० अ० १, सू० १४] इति वाचकमुख्यवचनात्। तेन यथा प्रत्यक्षविषयत्वेन घटादेः प्रत्यक्षता तथाऽऽत्मनोऽपि स्वसंवेदनाध्यक्षतायां को विरोधः? अत एव यदुच्यते 'घटादेर्भि-न्नज्ञानग्राह्यत्वेन प्रत्यक्षता व्यवस्थाप्यते; आत्मनस्त्वपरोक्षत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्षत्वम्। तच्च केवलस्य ३०घटादिप्रतीत्यन्तर्गतस्य वाऽपरसाधनं प्राक् प्रतिपादितमित्यत्र अपरसाधनमिति कोऽर्थः-किं चिद्रूपस्य सत्ता, आहोस्वित् स्वप्रतीतौ व्यापारः? इति पक्षद्वयमुत्थाप्य प्रथमपक्षे चिद्रूपस्य सत्तैवात्मप्रकाशनं यद्युच्यते तदा दृष्टान्तो वक्तव्यः' इति, तन्निरस्तम्; अध्यक्षप्रतीतेऽर्थे दृष्टान्तान्वेषणस्यायुक्तत्वात्।
अथ विवादगोचरेऽध्यक्षप्रतीतेऽपि दृष्टान्तान्वेषणं लोके सुप्रसिद्धमिति सोऽत्रापि वक्तव्य-स्तदाऽस्त्येव प्रदीपादिलक्षणो दृष्टान्तोऽपि ज्ञानस्य प्रकाशं प्रति सजातीयापरानपेक्षणे साध्ये। ३५तथाहि—यथा प्रदीपाद्यालोको न स्वप्रतिपत्तावालोकान्तरमपेक्षते तथा ज्ञानमपि स्वप्रतिपत्तौ न समानजातीयज्ञानापेक्षम्। एतावन्मात्रेणाऽऽलोकस्य दृष्टान्तत्वं न पुनस्तस्यापि ज्ञानत्वमासाद्यते। येन 'इन्द्रियाग्राह्यत्वाच्चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसङ्गः' इति प्रेर्यते। न हि दृष्टान्ते साध्य-धर्मि-धर्माः सर्वेऽपि आसञ्जयितुं युक्ताः; अन्यथा घटेऽपि शब्दधर्माः शब्दत्वादयः प्रसज्येर-न्निति तस्यापि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसङ्गः। न च साधर्म्यदृष्टान्तमन्तरेण प्रमाणप्रतीतस्याप्यर्थस्याप्रसिद्धिरिति ४०शक्यं वक्तुम्, अन्यथा जीवच्छरीरस्यापि सात्मकत्वे साध्ये तोद्धन्तत्र(तद्वत् तत्र)सिद्धदृष्टान्तस्या-भावात् प्राणादिमत्त्वादेस्तत्सिद्धिर्न स्यात्।
अथ साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि दृष्टवैधर्म्यदृष्टान्तस्य घटादेः सद्भावात् केवलव्यतिरेकिबलात् तत्र

१-गेन मूकत्वं वा०, बा०। २-स्य विषयः वा०, बा०। ३ सुखादि-मां०। ४-स्तु रूपसंप्रति-भा०मां० ब०। ५ प्रत्यक्षः भा०, मा०। ६ अथापि वा०, बा०। ७-च्चाद् मां०। ८ जैन-वां०। ९ पृ० ७९ पं० ६। १० पृ० ७९ पं० १५। ११-साध्यतोद्धन्तत्र-गु०। साध्यनोद्यतत्र-गु० ब०। साध्ये योधंतत्र-चं०। १२-व्यतिरेकिवत् तत्र वा०, बा०।

तदसिद्धिस्तर्हि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटादाविति व्यतिरेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्वं विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमासादयति? यत्तूक्तम् 'कस्यचिदर्थस्य काचित् सामग्री, तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति' तद् युक्तमेव, यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमानाः प्रदीपालोकादयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते तथा स्वसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते; प्रतिनियतत्वात् स्वकारणायत्तजन्मनां भावशक्तीनाम् । यत्तु प्रदीपालोकादिकं सजातीयालोकान्तरनिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानमपेक्षते तत् तस्याज्ञानरूपत्वात् ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति 'नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्रासञ्जयितुं युक्तः' इति पूर्वपक्ष[3]वचो निःसारतया व्यवस्थितम् ।

अथालोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिः, अदृष्टत्वात् स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च; नन्वेवमुपलभ्यमानेऽपि वस्तुनि यद्यदृष्टत्वम् विरोधश्चोच्येत तदा स्वात्मवद् घटादेरपि बाह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम्, अदृष्टत्वात् जडस्य प्रकाशायोगाच्चेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्रवक्तृता समुपजायते । {तथाह्यसावप्येवं वक्तुं समर्थः—जडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवत्, जडत्वहानिप्रसङ्गात् । नापि परतः प्रकाशमानम्, नील-सुखादिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेनासत्त्वात् ।

अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति प्रकाशमाननीलादिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः, अन्यथा भेदेनास्यां प्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात्; ननु न नील-तद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलादेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याप्रतिभासनात् । न चाध्यक्षतो विवेकेनाप्रतीयमानयोर्नील—तत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाश्रयत्वात्; नील-तत्स्वरूपवत् । अथापि कल्पना नील-तत्संविदोर्भेदमुल्लिखति—'नीलस्यानुभवः' इति; नन्वभेदेऽपि भेदोल्लेखो दृष्टो यथा—'शिलापुत्रकस्य वपुः' 'नीलस्य वा स्वरूपम्' इति । अथ तत्र प्रत्यक्षारूढोऽभेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः स तर्हि नील-संविदोरपि प्रत्यक्षारूढोऽभेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या । तदेवं नीलादिकं सुखादिकं च स्वप्रकाशवपुः प्रतिभातीति स्थितम्, तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्याप्रतिभासनेनाभावात् ।

भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधस्तथापि न तद्ग्राह्या नीलादयो युक्ताः । तथाहि—तुल्यकालो वा बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा? तुल्यकालोऽपि परोक्षः, स्वसंविदितो वा? न तावत् परोक्षः, यतः "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति" [ ] इत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्त एनत्पक्षं निराकरिष्यामः । नापि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थादिदूषणस्यात्र पक्षे प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् । स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्निलीनो बोधः स्वसंविदितः प्रतिभाति तथा तत्काले स्वप्रकाशवपुषो नीलादयो बहिर्देशसंबन्धितया प्रतिभान्ति इति समानकालयोर्नील-तत्संवेदनयोः स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात् सव्येतरगोविषाणयोरिव न वेद्यवेदकभावः । समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि[6] तं प्रति ग्राहकताप्रसङ्गः ।

समानकालप्रतिभासाऽविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलादीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका, नीलादयस्तु ग्राह्याः, नैतदपि युक्तम्; यतो नील-बोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रतिभाति । तथाहि—बोधः सुखास्पदीभूतो हृदि, बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलादिराभाति नत्वपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभासविषयः । तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलादेः कर्मता युक्ता । भवतु वा नील-बोधव्यतिरिक्ता क्रिया तथापि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः, यद्वाऽन्यतः? तत्र यदि स्वतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति तथा सति बोधः नीलम् ग्रहणक्रिया चेति त्रयं स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृ-कर्म-क्रियाव्यवहृतिः । अथान्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, ननु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रिया उपेया-अन्यथा तस्या ग्राह्यताऽसिद्धेः-पुनस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रिया उपेयेत्यनवस्था, तत्र ग्रहणक्रियाऽपराऽस्ति, तत्स्वरूपाऽनवभासनात् । ततश्चान्तःसंवेदनम् बहिर्नीलादिकं च स्वप्रकाशमेवेति ।

---

१ पृ० ७९ पं० १७ । २-स्याद् युक्तमि—भा० । ३ पृ० ७९ पं० १५ । ४-नाऽस्या प्रतिपत्तौ भां० विना सर्वत्र । ५-कं वस्तु प्रकाश—हा०, पृ० । ६-पि संमति वा०, बा०, भा० विना सर्वत्र ।

स्वसंवित्तिमात्रवादः साधीयान् यदि तदन्तर्निलीनो बोधो नीलादेर्न बोधकः किन्तु स्वप्रकाश एवासौ; तथा सति 'नीलमहं वेद्मि' इति कर्म-कर्तृभावाभिनिवेशी प्रत्ययो न भवेत्, विषयस्य कर्म-कर्तृभावस्याभावात्। ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव, यथा शुक्तिकायां रजतावगमः। अथ बाधकोदयात् पुनर्भ्रान्तिरसौ, नीलादौ तु कर्मतादेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता। नन्वत्रापि बोध-नीलादेः ५स्वरूपासंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधकः कर्म-कर्तृभावोल्लेखस्य। अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम्? नहि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति; ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्म-कर्तृभावावगतेर्निबन्धनम्। पूर्वभ्रान्तिकर्मतादेरपि अपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यनादिर्भ्रान्तिपरम्परा, कर्मतादिर्न तत्त्वम्।

अथवा 'नीलम्' इति प्रतीतिस्तावन्मात्राध्यवसायिनी पृथक्, 'अहम्' इत्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना, 'वेद्मि' इत्यपि प्रतीतिरपरैव; ततश्च परस्परासंसक्तप्रतीतित्रितयं क्रमवत् प्रति-१०भाति न कर्म-कर्तृभावः, तुल्यकालयोस्तस्यायोगात् भिन्नकालयोरप्यनवभासनाच्च कर्मतादिगतिः कथञ्चित् संभविनी।

अथापि दर्शनात् प्राक् सन्नपि नीलात्मा न भाति तदुदये च भातीति कर्मता तस्य, नैतदपि साधीयः; यतः प्राग् भावोऽर्थस्य न सिद्धः। दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणाद् दर्शनकाले हि नीलमाभाति न तु ततः प्राक्, तत् कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत् तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात्? १५न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निधिं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसङ्गात्। अथाऽन्येन दर्शनेन प्रागर्थः प्रतीयते, ननु तद्दर्शनादपि प्राक् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था। तस्मात् सर्वस्य नीलादेर्दर्शनकाले प्रतिभासनाच्च तत्पूर्वं सत्ता सिध्यति।

अथापि 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् प्रागर्थः सिध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेन एकत्वगतेरयोगात्। केन पुनरेकत्वं तयोर्गम्यते—किमिदानीन्तनदर्शनेन, २०पूर्वदर्शनेन वा? न तावत् पूर्वदर्शनेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात्। नहि तेन स्वप्रतिभासिनोऽर्थस्य वर्त्तमानकालदर्शनव्याप्तिरवसीयते, तत्काले साम्प्रतिकदर्शनादेरभावात्। न चासत् प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथत्वप्रसङ्गात्। नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनादिव्याप्तिर्नीलादेरवसीयते, तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात्। न चास्तमितपूर्वदर्शनादिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम्, वितथत्वप्रसङ्गादेव। तस्माद् 'अपास्ततत्पूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टतां तु स्मृति-२५रुल्लिखति' तदपास्तम्, दृष्टतोल्लेखाभावात्। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'स' इति स्मृतिरूपम्, 'अयम्' इति तु दृशः स्वरूपम्; तत्परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वान्नैकस्वभावौ प्रत्ययौ, तत् कुतस्तत्त्वसिद्धिः?

अथानुमानात् प्राग्भावोऽर्थस्य सिध्यति प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति, तदप्यसत्; यतः पश्चाद्दर्शनस्य प्राक्सत्तायाः संबन्धो न सिद्धः, प्राक्सत्तायाः कथञ्चिदप्यसिद्धेः। न चासिद्धया सत्तया व्याप्तं पश्चाद्दर्शनं सिध्यति येन ततस्तत्सिद्धिः। अथ यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुदयमासादयति तथा सति नियामकाभावात् सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारं तद् भवेत्, नायमपि दोषः, नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात्। तथाहि—स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाऽऽकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः। अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा नापि तद्भेदात् संवित्तिनियम इति तत्र ततः संविद्वैचित्र्यम्, तस्माच्च कथञ्चिदपि नीलादेः प्राक् ३५सत्तासिद्धिः।

अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम्? नन्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम्—यदि नीलं पूर्वकालसंबन्धिस्वरूपं स्यात् तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा; दर्शनकालभुवः सर्वदा प्रतिभासनात्। यच्च येनैव रूपेण प्रतिभाति तत् तेनैव रूपेणास्ति, यथा नीलं नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सत् न पीतादिरूपतया, सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्त्तमानकालतयैव प्रतिभाति न पूर्वादितया, तत्र पूर्वं ४०सत्ताऽर्थस्य।

१-स्तपूर्व-वा०, बा०, भां०, मां०। २ तदपास्ते, मां०, चं०, हा०, भा०। तदप्य (तदप्यपास्तम्) दृष्टतो-बा०, मा०। ३-सत्तायां (सत्तायां) वा०, बा०।

अथ नीलं तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम्। विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम्, नैतदपि युक्तम्; यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्धः प्रतिभासः, प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासिताया एवावगतेः। नहि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलादेस्तद्वेद्यताऽनधिगतेः।

अथानुमानेन नीलादीनां साधारणता प्रतीयते—यथैव हि स्वसन्ताने नीलदर्शनात् तदादानार्था प्रवृत्तिस्तथाऽपरसन्तानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् तद्विषयं दर्शनमनुमीयते, नैतदप्यस्ति; अनुमानेन स्व-परदर्शनभूतो नीलादेरेकताऽसिद्धेः; तद्धि सदृशव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशतां परदृष्टस्य प्रतिपादयेत्, यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो न तु तमेव पूर्वदृष्टम्, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात्। तन्नानुमानतोऽपि ग्राह्याकारस्यैकता। ५

ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव। प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्धः परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्रतिभासान् स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासान् विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति अन्यथा तस्यायोगात्? ततः स्व-परदृष्टस्य नीलादेः प्रतिभासभेदाद् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव, इतरथा रोमाञ्चनिकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखादेरपि स्व-परसन्तानभुवस्तत्त्वं भवेत्। १०

अथापि सन्तानभेदात् सुखादेर्भेदः; ननु सन्तानभेदोऽपि किमन्यभेदात्? तथा चेदनवस्था। अथ तस्य स्वरूपभेदाद् भेदः सुखादेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदासिद्धेः। न ह्यन्यभेदादन्यद् भिन्नम्, अतिप्रसङ्गात्। नीलादेरपि स्व-परप्रतिभासिनः प्रतिभासभेदोऽस्तीति नैकता। १५

अथ देशैकत्वादेकत्वम्, ननु देशस्यापि स्व-परदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकता युक्ता। तस्माद् ग्राहकाकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमानं नीलादिकमपि भिन्नमेव। तच्चैककालोपलम्भाद् ग्राहकवत् स्वप्रकाशम्।

अथ ग्राहकाकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदको नीलाकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्यः, अत्रोच्यते—किमिदं बोधस्य चिद्रूपत्वम्? यद्यपरोक्षं स्वरूपं नीलादेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता। अथ नीलादेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद् भवतीति ग्राह्यम्, ननु बोधस्यापि स्वस्वरूपमिन्द्रियादेर्भवतीति ग्राह्यं स्यात्। अथ यद् इन्द्रियादिकार्यं न तद् वेद्यम्, नीलादिकमपि तर्हि नयनादिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम्। २०

अथापि बोधो बोधस्वरूपतया नित्यो नीलादिकस्तु प्रकाश्यरूपतयाऽनित्य इति ग्राह्यः, तदप्यसत्; स्तम्भादेर्नयनादिबलादुदेति रूपमपरोक्षत्वम्, तद् अनित्यः स्तम्भादिर्भवतु, ग्राह्यस्तु कथम्? न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत् तस्य वेद्यम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादपरोक्षस्वरूपाः स्तम्भादयः स्वप्रकाशाः बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवलमुद्भाति न तु वेदकः, द्वयोरपि परस्परं ग्राह्य-ग्राहकतापत्तेः। २५

अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहकः, किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य? यदि नीलकाले सत्ता सा नीलस्यापि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात्। अथान्यदुन्मुखत्वम् तत् तर्हि स्वरूपनिमग्नं चकासत् द्वैतीयं स्वरूपं भवेत्। तथाहि—तस्य तदुन्मुखत्वं तद्व्यापारः, स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था। अथ न व्याप्रियते न तद्बलाद् बोधस्य ग्राहकत्वं नीलादेस्तु ग्राह्यत्वम्। अथ व्यापारस्यापरव्यापारव्यतिरेकेणापि नीलं प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात्; ननु नीलस्यापि स्वं स्वरूपं विद्यत इति बोधं प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात्। ३०

किञ्च, बोधेन यदि नीलं प्रति ग्रहणक्रिया जन्यते सा नीलाद् भिन्ना, अभिन्ना वा? भिन्ना चेत्, न तया तस्य ग्राह्यत्वम्, भिन्नत्वादेव। अथाभिन्ना तर्हि नीलादेर्ज्ञानरूपता, ज्ञानजन्यत्वादुत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ ज्ञानस्यैवंभूता शक्तिर्येन तस्य नीलं प्रति ग्राहकता नीलादेस्तु तं प्रति ग्राह्यता। ननु बोधस्य ग्राहकत्वे नीलादेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्; तदसिद्धौ ३५

१-मानस्वदृष्ट-हा०। २-स्मात् का०, गु०, चं-अ०। ३-स्मात् का०, गु०, चं-अ०। ४-चात् या०, धा०। ५-सभेदाद् भेदो-भा०, मा०। ६-कत्वात् तदेक-भां०, मां०। ७ तथैक-गु०। ८-दं चिद्रूपत्वं बोधस्य य-भां०, मां०। ९ अन्यदुन्मु-भा०, मां०। १० तृतीयस्वरू-कां०, गु०। ११-पि स्वरू-भां०, मां०।

तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। तथाहि—बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। तत्र बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः; तस्माद् व्यतिरिक्तेऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम्।

परमार्थतस्तु सुखादयो नीलादयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति, निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि
५ नोपलभ्यत इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम्? अत एव ते प्रमाणयन्ति—इह खलु यत् प्रतिभाति तदेव सद्व्यवहृतिपथमवतरति, यथा हृदि प्रकाशमानवपुः सुखम्, न तत्काले पीडाऽनुद्भासमाना समस्ति, विज्ञप्तिरेव च नीलादिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतुः। तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धदृष्ट्या युक्तम्)।

अथ बहिर्देशासंबद्धस्य जडस्यापि नीलादेरनुभवाच्च नीलादिप्रकाशस्य तद्ग्राहकत्वमसिद्धम्,
१० नाप्यनुभूयमाने स्तम्भादिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसंगतम्; प्रत्यक्षसिद्धस्वभावे वस्तुनि तद्विरुद्धस्वभावावेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाभासत्वात्। न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोधः सिध्यति; अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्तिः। नन्वेवं नीलादिसंवेदनस्यापि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवाच्च स्वसंविदितत्वमसिद्धम्, नापि स्वात्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधा-
१५ सिद्धेः। अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम्।

किंच, स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसंबन्धितया' इत्यत्र प्रतीतेर्व्यवस्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाऽव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यस्यार्थस्य न व्यवस्थितिः स्यात्। नहि स्वयमव्यवस्थितं खरविषाणादि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलब्धम्। अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थ-
२० समवेतानन्तरप्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाव्यवस्थितत्वं तर्हि तदेकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतेरपि अपरतथाभूतप्रतीत्यव्यवस्थापितत्वे नाऽर्थव्यवस्थापनप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीतिव्यवस्थापिकाऽभ्युपगन्तव्येत्यनवस्था। अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नायं दोषस्तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीतिस्तथा किं नाभ्युपगम्यते न्यायस्य समानत्वात्? अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका तर्हि प्रथमप्र-
२५ तीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थव्यवस्थापिका भविष्यतीति "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इति वचः कथं न परिप्लवेत? 'प्रतीतोऽर्थः' इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणानवगमेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात्।

अपि च, यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्यं ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेर्विषयान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्, विषया-
३० न्तरसंनिधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतस्यान्तरङ्गत्वेनातिसंनिहिततरस्य विषयस्य सद्भावात्। यस्त्वाह—'विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धत्वान्नानवस्था' तदेतदेव न संगच्छते, स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात्; एतच्च प्रतिपादितम्।

अपि च, प्रमाणसंप्लववादिना नैयायिकेन प्रत्यक्ष-शाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा चाध्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तस्यैवान्यूनानतिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेद
३५ इति अध्यक्षवच्छाब्दमपि स्पष्टप्रतिभासं स्यात्। अथैकविषयत्वे सत्यपि इन्द्रियसंबन्धाभावाच्छब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः, नन्वक्षैरपि विषयस्वरूपमुद्भासनीयम्, तच्च यदि शाब्देनापि प्रदर्श्यते तथा सति इन्द्रियसंबन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य? नहि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानावभासभेदो युक्तः, अन्यथा ज्ञानावभासभेदाद् विषयभेदव्यवस्था न स्यात्। नहि बहिरपि तदवभासभेदसंवेदनव्यतिरेकेणान्यद् भेदव्यवस्थानिबन्धनमुत्पश्यामः। अन्यच्च प्रत्यक्षेऽपि साक्षा-
४० दिन्द्रियसंबन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्यः—तस्यातीन्द्रियत्वात्—किन्तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्यात्, तच्चाविकलं यदि शाब्देऽपि वस्तुस्वरूपं प्रतिभाति तदा तत्र एवेन्द्रियसंबन्धस्तत्रापि

१–वे च सति त–मां०, भां०, वा०, बा० विना। २–षयोऽप्रति–वां०, पु०। ३–दि शब्दे–मां०, भा०, वा०, बा०।

किं नाभ्युपगम्यते? अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावान्नासावनुमीयते; ननु तदभावस्तदक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदावसायोऽभ्युपगन्तव्यः; स चैकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षज्ञानयोर्न संगच्छते ।

अथ शाब्दे[1] वस्तुरूपावभासेऽपि न सकलतद्गतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभासं तत्; नन्वेवं प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्षमस्य तत्राप्रतिभासनात् तदेव भिन्नविषयत्वं शाब्दाऽध्यक्षयोः[2] प्रसक्तम् । अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलादिकं प्रतिभाति विशदाऽविशदौ चाकारौ ज्ञानात्मभूतौ; नन्वेवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम्, विशिष्टसामग्रीजन्यस्य ज्ञानस्य विशदत्वात्, तदवभासव्यतिरेकेण तु अक्षसंबद्धनीलप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्यासंभवात् ।

अथ[3] च भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहारस्तथापि न स्वसंविदिततज्ज्ञानसिद्धिः, तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य संभवात्; एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वान्मनसः क्रमानुपलक्षणनिमित्तः उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् । नन्वेवं सत्यङ्गुलिपञ्चकस्यै[4]कज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपलक्षणकृत इति 'सदसद्धर्मः[5] सर्वः कस्यचिदेकज्ञानप्रत्यक्षः, प्रमेयत्वात्, पञ्चाङ्गुलिवत्' इति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलताप्रसक्तिः । तथा, समस्तसदसद्धर्मग्राहकेण[6] सर्वविज्ञानेन ज्ञानात्मा गृह्यते, उत नेति ? यदि न गृह्यते तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अप्रमेयत्वे तस्य भागासिद्धो हेतुः । अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणा आत्माऽपि गृह्यत इति नानैकान्तिकः; नन्वेवं सति यथेश्वरज्ञानं ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधः तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः किञ्च, एवमभ्युपगमे 'ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम्, प्रमेयत्वात्, घटवत्' इत्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवानैकान्तिकः 'प्रमेयत्वात्' इति हेतुः । तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनेकदोषसंभवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् ।

ज्ञानस्वरूपश्चा[7]त्मा, अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् । न चाकाशव्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्वं नाकाशादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत् सिद्धमिति कथं न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः ? तत्र प्रथमप[8]क्षस्य दुष्टत्वम् ।

द्वितीयपक्षेऽपि यदुक्तम् 'नहि कश्चित् पदार्थः कर्तृरूपः करणरूपो वा स्वात्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्टः' इति, तदप्यसङ्गतम्; भिन्नव्यापारव्यतिरेकेणापि आत्मनः कर्तुः प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वप्रतिपादनात् । एकस्यैव च लिङ्गादिकरणमपेक्ष्यावस्थाभेदेन यथा प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं च भवद्भिरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते तथैकदाऽप्येकस्यात्मनः अनेकधर्मसद्भावात् प्रमातृत्व-प्रमाणत्व-प्रमेयत्वान्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यन्ते तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाविरोधात् ? यच्चोक्तम् 'प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः' इत्यादि, तदप्यसारम्; ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात्[12] । न च घटादेः स्वरूपस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वात् प्रमातुः प्रमाणस्य च स्वरूपं भिन्नज्ञानग्राह्यम्, तयोश्चिद्रूपत्वेन घटादेस्तु तद्विपर्ययेण स्वरूपस्य सिद्धत्वात् । न च प्रमाण-प्रमातृस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य तल्लक्षणेनासंग्रहः, तत्संग्राहकस्य लक्षणस्य प्रदर्शितत्वात्[13] । यदपि 'घटमहं चक्षुषा पश्यामि' इत्यनेनातिप्रसङ्गापादनं कृतम्, तदप्यसङ्गतम्; नहि चक्षुषो जडरूपस्यास्वसंविदितत्वे प्रमातृ—प्रमित्योरपि चिद्रूपयोरस्वसंविदितत्वं युक्तम्; अन्यस्वभावत्वेनानुपपत्तेः । यत्तूक्तम् 'इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छि-

१ दार्न्दे[?]वस्तु—बा०, वा० विना । २ शब्दा—रा०, गु० । ३ अथ भवतु वा०, भा०, मां० । ४-च ज्ञाना-गु० । ५-सद्धर्मः स-मा०, गा०, मा०, वा० विना । ६-सद्धर्मग्रा-गो०, भा०, बा०, वा० विना । ७-नरूपश्चा-मां०, भां०, बा०, वा० । ८ पृ० ७९ पं० ११ गतस्य 'किं चिद्रूपस्य सत्ता' इति पक्षस्य । ९ पृ० ७९ पं० १८ । १० पृ० ८४ पं० १९-प्र० पृ० पं० २६ । ११ पृ० ७९ पं० २१ । १२ पृ० ७९ पं० ३१ । १३ पृ० ८० पं० २६ । १४ पृ० ७९ पं० ३४ । १५ पृ० ७९ पं० ३१ ।

ग्रस्य विषयस्यैव केवलस्यावभासनम्' इति, तदत्यन्तमसङ्गतम्; विषयस्येव तदवभाससंवेदनस्यापि
व्यवस्थापितत्वात् तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य च। अतः प्रमात्रवभास उपपन्न एव।

न च 'कृशोऽहं स्थूलोऽहम्' इति शरीरसामानाधिकरण्येनास्य प्रत्ययस्योपपत्तेस्तदालम्बनता,
चक्षुरादिकरणव्यापाराभावे शरीरस्याग्रहणेऽपि 'अहम्' इतिप्रत्ययस्य सुखादिसमानाधिकरणत्वेन
५ परिस्फुटप्रतिभासविषयत्वेनोत्पत्तिदर्शनात् न शरीरालम्बनत्वमस्य व्यवस्थापयितुं युक्तम्। न च
'कृशोऽहम्' इति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वे 'ज्ञानवानहम्' इति ज्ञानसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यापि
प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं युक्तम्; अन्यथा 'अग्निर्माणवकः' इति माणवकेऽग्निप्रत्ययस्योपचरितविषयस्य
भ्रान्तत्वेऽग्नावपि तत्प्रत्ययस्योपचरितत्वेन भ्रान्तत्वं स्यात्। अथ तत्र पाटव-पिङ्गलत्वादिलक्ष-
णस्योपचारनिमित्तस्य सद्भावात् भवति तत्रोपचरितः प्रत्ययः न चात्रोपचारनिबन्धनं किञ्चिदस्ति,
१० तदप्यसङ्गतम्; संसार्यात्मनः शरीराद्युपकृतत्वेन तदनुबद्धस्योपभोगाश्रयत्वेनोपभोगकर्तृत्वस्यात्राप्यु-
पचारनिमित्तस्य सद्भावात्। दृष्टश्च शरीरादिव्यतिरिक्तेऽप्यत्यन्तोपकारके स्वभृत्यादावुपचरितस्त-
न्निमित्तः 'योऽयं भृत्यः सोऽहम्' इति प्रत्ययः।

न च सुखादिसामानाधिकरण्येनोपजायमानस्यैवाहंप्रत्ययस्योपचरितविषयतेति वक्तुं शक्यम्,
अग्नावग्निप्रत्ययवदबाधितत्वेनास्खलद्रूपत्वेन चास्याऽत्र मुख्यत्वात्, गौरत्वादेस्तु पुद्गलधर्मत्वेन
१५ बाह्येन्द्रियग्राह्यतया अन्तर्मुखाकारानिन्द्रियाहंप्रत्ययविषयत्वासंभवात्। न च गौरत्वादिरूपाश्रय-
भूतस्य प्रतिक्षणविशरारुत्वेनाभ्युपगमविषयस्य शरीरस्य 'य एवाहं प्राग् मित्रं दृष्टवान् स एवाहं
वर्षपञ्चकादिव्यवधानेन स्पृशामि' इति स्थिरालम्बनत्वेनानुभूयमानप्रत्ययविषयत्वं युक्तम्; अन्यथा
रूपविषयत्वेनानुभूयमानस्य तस्य रसाद्यालम्बनत्वं स्यात्। न च सुखादिविवर्त्तात्मकात्मालम्बनत्वे
किञ्चिद् बाधकमुत्पश्यामः येन तद्विषयत्वेनास्य भ्रान्तत्वं स्यात्। नापि तत्र तस्य स्खलद्रूपता येन
२० वाहीके गोप्रत्ययस्येवोपचरितत्वकल्पना युक्तिमती स्यात्। तस्मादबाधितास्खलद्रूपाऽहंप्रत्ययग्रा-
ह्यत्वादात्मनो नासिद्धिः। शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थो निःसारतया न प्रतिसमाधानमर्हतीत्युपेक्षितः॥

न चात्र बौद्धमतानुसारिणैतद् वक्तुं युज्यते—अहंप्रत्ययस्य सविकल्पकत्वेनाप्रत्यक्षत्वेन न तद्ग्रा-
ह्यत्वमात्मन इति, सविकल्पकस्यैव प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेन व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्, प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि
विप्रतिपत्तिसंभवेऽनुमानस्यावतारः। न च 'सिद्धे आत्मन एकत्वे तत्प्रतिबद्धोऽनुसन्धानप्रत्ययः
२५ सिध्यति, तत्सिद्धौ च ततस्तस्यैकत्वम्' इतीतरेतराश्रयदोषावतारः; 'य एवाहं घटमद्राक्षं स एवेदानीं
तं स्पृशामि' इति प्रत्ययात् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्वरूपादात्मन एकत्वसिद्धेः।

न चानैतत् प्रेर्यम्—द्रष्टृरूपमात्मनः स्प्रष्टृरूपानुप्रवेशेन प्रतिभासते, आहोस्विदननुप्रवेशेन ?
यद्यनुप्रवेशेन तदा द्रष्टृरूपस्य स्प्रष्टृरूपेऽनुप्रवेशात् स्प्रष्टृरूपतैवेति न द्रष्टृरूपता; तथा च 'अहं द्रष्टा
स्पृशामि' इति कुत उभयावभासोल्लेख्येकं प्रत्यभिज्ञानं यतस्तदेकत्वसिद्धिः ? अथाननुप्रवेशेन तदा
३० दर्शन-स्पर्शनावभासयोर्भेदात् कुत एकं प्रत्यभिज्ञानम् ? नहि प्रतिभासभेदे सत्यप्येकत्वम्, अन्यथा
घट-पटप्रतिभासयोरपि तत् स्यात्। अथ प्रतिभासस्यैवात्र भेदो न पुनस्तद्विषयस्यात्मनः, कुतः
पुनस्तस्याभेदः ? न तावत् प्रतिभासाभेदात्, तस्य भिन्नत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। नापि स्वतः, स्वतोऽ-
द्यापि विवादविषयत्वात्। अथ दर्शन-स्पर्शनावस्थाभेदेऽपि चिद्रूपस्य तदवस्थातुरभिन्नत्वान्नायं
दोषः, तदप्यसङ्गतम्; यतो दर्शनावस्थाप्रतिभासेन तत्संबद्धमेवावस्थातृरूपं गृहीतं न स्पर्शनज्ञानसं-
३५ बन्धि, तत्र तदवस्थाया अनुत्पन्नत्वेनाप्रतिभासनात्; तदप्रतिभासने च तद्व्यापित्वेनावस्थातुरप्यप्रति-
भासनात्। नापि स्पर्शनप्रतिभासेन दर्शनावस्थाव्याप्तिरवस्थातुरवगम्यते, स्पर्शनज्ञाने दर्शनस्य
विनष्टत्वेनाप्रतिभासनात्; प्रतिभासने चाऽनाद्यवस्थापरम्पराप्रतिभासप्रसङ्ग। न च प्रागवस्थाऽप्र-
तिभासने तदवस्थाव्याप्तिरवस्थातुरवगन्तुं शक्या। यच्च येन रूपेण प्रतिभाति तत् तेनैव सदित्यभ्युप-
गन्तव्यम्, यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेणाभ्युपगम्यते। दर्शन-स्पर्शनज्ञानाभ्यां
४० च स्वसंबन्धित्वमेवावस्थातुर्गृह्यते इति तद्रूप एवासावभ्युपगन्तव्य इति कुतोऽवस्थातृसिद्धिः ?

यतो नीलप्रतिभासेऽप्येवं वक्तुं शक्यम्—किमेकनीलज्ञानपरमाण्ववभासोऽपरतन्नीलज्ञानपरमा-

---

१–म् गौरोऽहम्' इ–मा०, भा०। २–क्षरूपा–मां०, भां०, बा०, बा०। ३–एतैव न मां०, भां०, बा०, बा०। ४–भासात् त–मां०, भा०।

ण्ववभासानुप्रवेशेन प्रतिभाति, उतानुप्रवेशेन ? यद्यनुप्रवेशेन [1]तदेकतन्नीलज्ञानपरमाण्ववभासाना-
मनुप्रवेशान्नीलज्ञानसंवेदनस्यैकपरमाणुरूपत्वम्; तस्य चाननुभवात् कुतो नीलज्ञानसंवेदनसिद्धिः ?
अथाननुप्रवेशेन तदा नीलज्ञानपरमाण्ववभासानामयःशलाकाकल्पानां प्रतिभासनात् कुतः स्थूलमेक-
नीलज्ञानसंवेदनं प्रतिनीलज्ञानपरमाण्ववभासं भिन्नत्वात् ? अथ स्वसंवेदनावभासभेदे सत्यपि न
तत्प्रतिभासस्य नीलज्ञानस्य भेदः; ननु कुतो नीलज्ञानस्याभेदः किं तत्स्वसंवेदनाभेदात्, स्वतो वा ? ५
यदि स्वसंवेदनाभेदात्, तदयुक्तम्; तद्भेदस्य व्यवस्थापितत्वात् । अथ स्वत एव तदभेदः, तदप्ययु-
क्तम्; तस्याद्याप्यसिद्धत्वात् ।

तथा, यदि दर्शनावस्थायां स्पर्शनावस्था न प्रतिभातीति तदवस्थाव्याप्तिर्दर्शनज्ञानेनावस्थातुर्न
ग्रहीतुं शक्या; नन्वेवं तदप्रतिभासने तेन तद्व्याप्तिरपि कथं ग्रहीतुं शक्या ? तदप्रतिभासने 'तत
इदमवस्थातृरूपं व्यावृत्तम्' इत्येतदपि ग्रहीतुमशक्यमेव । न च तद्विविक्तप्रतिभासादेव तद्व्या- १०
प्तिर्गृहीतैवेति वक्तुं युक्तम्, तदप्रतिभासने तद्विविक्तस्यैवाग्रहणात् । न च 'तद्व्याप्तिस्तस्य स्वरूपमेव'
इति दर्शनज्ञानेन तत्स्वरूपग्राहिणा तदभिन्नस्वरूपा तद्व्याप्तिरपि गृहीतैवेति युक्तम्, तद्भ्रान्तावप्यस्य
सर्वस्य समानत्वात् । न चाबाधितैकप्रत्ययविषयस्यात्मन एकत्वमसिद्धम् । न चास्यैकत्वाध्यवसायस्य
किञ्चिद्बाधकमस्ति, तद्बाधकत्वेन संभाव्यमानस्य प्रमाणस्य यथास्थानं निपेत्स्यमानत्वात् ।

भवतु वाऽनुसन्धानप्रत्ययलक्षणाद्धेतोस्तदेकत्वसिद्धिस्तथापि नेतरेतराश्रयदोषः, यतो नैक- १५
त्वमतिबद्धमनुसन्धानमन्वयिदृष्टान्तद्वारेण निश्चीयते—येनायं दोषः स्यात्—अपि त्वनेकत्वेऽनुस-
न्धानस्यासंभवात् ततो व्यावृत्तमनुसन्धानं तदेकत्वेन व्याप्यत इत्येकसन्ताने स्मरणाद्यनुसन्धान-
दर्शनादनुमानतोऽपि तत्सिद्धिः । न च भेदे दर्शन-स्मरणादिज्ञानानामनुसन्धानं संभवति; अन्यथा
देवदत्तानुभूतेऽर्थे यज्ञदत्तस्य स्मरणाद्यनुसन्धानं स्यात् ।

अथ देवदत्त-यज्ञदत्तयोरेकसन्तानाभावान्नानुसंधानम्, यत्र त्वेकः सन्तानस्तत्र पूर्वाऽप- २०
रज्ञानयोरत्यन्तभेदेऽपि भवत्येवानुसन्धानम्; ननु सन्तानस्य यदि सन्तानिभ्यो भेदः एकत्वं च
तदा शब्दान्तरेण स एवात्माऽभिहितो यत्प्रतिबद्धमनुसन्धानम् । अथ सन्तानिभ्योऽभिन्नः सन्ता-
नस्तदा पूर्वोत्तरज्ञानक्षणानां सन्तानिशब्दवाच्यानां देवदत्त—यज्ञदत्तज्ञानवदत्यन्तभेदात् तदभिन्नस्य
सन्तानस्यापि भेद इति कुतोऽनुसन्धाननिमित्तत्वम् ? अथै[4]कसन्ततिपतितानां पूर्वोत्तरज्ञानस-
न्तानिनां कार्यकारणभावात् भेदेऽप्येकसन्तानत्वम् तन्निबन्धनश्चानुसन्धानप्रत्ययो युक्तः, न पुनर्दव- २५
दत्त-यज्ञदत्तज्ञानयोः कार्यकारणभावः, अतस्तन्निबन्धनसन्तानाभावनिमित्तस्तत्रानुसन्धानाभावः; ननु
देवदत्तज्ञानं यज्ञदत्तेन यदा व्यापार-व्याहारादिलिङ्गबलादनुमीयते तदा तद् यज्ञदत्तानुमानजनकं भव-
तीति कार्यकारणभावनिमित्तैकसन्ताननिबन्धनाऽनुसन्धानप्रसक्तिः स्यात् ।

अथ स्वसन्ततावुपादानोपादेयभावेन ज्ञानानां जन्यजनकभावः भिन्नसन्ततौ तु सहकारिभावेन
तद्भाव इति नाऽयं दोषः; ननु किं पुनरिदमुपादानत्वं यदभावाद् भिन्नसन्तानेऽनुसन्धानाभावः ? यत् ३०
स्वसन्ततिनिवृत्तौ कार्यं जनयति तदुपादानकारणम्, यथा मृत्पिण्डः स्वयं निवर्तमानो घटमुत्पादय-
तीति स घटोत्पत्तावुपादानकारणम्; अथवाऽपरम्—अनेकस्मादुत्पद्यमाने कार्ये[5] स्वगतविशेषाधायकं
तत्, नत्वेवं निमित्तकारणम् । ननु प्रतिक्षणविशरारुष्वेकस्वभावपौर्वापर्यावस्थितज्ञानस्वभावेषु
क्षणेषूपादानोपादेयभाव एव न व्यवस्थापयितुं शक्यः । तथाहि—उत्तरज्ञानं जनयत् पूर्वज्ञानं किं नष्टं
जनयति, उतानष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ? न तावन्नष्टम्, [6]चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यवि- ३५
द्यमानत्वेनोत्पादकत्वविरोधात् । नाप्यनष्टम्, क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । नाप्युभयरूपम्, एकस्वभावस्य
विरुद्धोभयरूपासम्भवात् । नाप्यनुभयरूपम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्य तदपरविधानना-
न्तरीयकत्वेनानुभयरूपताया अयोगात् ।

अथ यदि व्यापारयोगात् कारणं कार्योत्पादकमभ्युपगम्येत तदा स्यादयं दोषः—यदुत नष्टस्य
व्यापारासम्भवात् कथं कार्योत्पादकत्वम्, यदा तु प्रागभावमात्रमेव कारणस्य कार्योत्पादकत्वं तदा ४०
कुत एतद्दोषावसरः ? नन्वेतस्मिन्नभ्युपगमे प्रागभाविनोऽनेकस्मादुपजायमाने कार्ये कुतोऽयं विभागः—

---

१ एकनीलज्ञानपरमाण्ववभासे अपरतन्नीलज्ञानपरमाण्ववभासानामित्यर्थः । २-स्मनेन तद्-मां०, भां० विना । -स्मनेति तद्-वा०, बा० । ३-त्तस्मर-मां०, भां० । ४-कसंताने पति-गु० । ५-र्ये सकलस्वगत-वा० बा० विना सर्वत्र । ६ चिरंतर-वा०, गु० ।

इदमनोपादानकारणम् इदं च सहकारिकारणम् इति, द्वयोरपि कार्येणानुविहितान्वय-व्यतिरेकत्वात्? अथ सत्यप्यन्वय-व्यतिरेकानुविधाने एकस्योपादानत्वेन जनकत्वमपरस्यान्यथेति, नन्वेतदेवोपादानभावेन जनकत्वं कस्यचिद् रूपस्यानुगमे प्रागभावित्वमात्रेण दुरवसेयम्। अथाभिहितमेवोपादानकारणत्वस्य लक्षणं तदवगमात् कथं तद् दुरवसेयम्। सत्यम्, उक्तम् न तु कस्यचिद् रूपस्यान-५नुगमे तत् संभवति। नाप्यवसातुं शक्यम्।

तथाहि—यत् स्वगतविशेषाधायकत्वमुपादानत्वमुक्तं तत् किं स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वम्, आहोस्वित् सकलविशेषाधायकत्वम् इति? तत्र यदि प्रथमः पक्षः, स न युक्तः; सर्वज्ञज्ञाने स्वाकारार्पकस्यासदादिविज्ञानस्य तं प्रत्युपादानभावप्रसङ्गात्। तथा, रूपस्यापि रूपज्ञानं प्रत्युपादानभावप्रसक्तिः, तस्यापि स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वात्; अन्यथा निराकारस्य बोधस्य सर्वान् प्रत्यविशेषाद् १०'रूपस्यैवायं ग्राहको न रसादेः' इति ततः प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात्। रूपोपादानत्वे च ज्ञानस्य परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात्। किञ्च, कतिपयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे एकस्यैव ज्ञानक्षणस्य तत्कार्यानुगत-व्यावृत्तानेकधर्मसम्बन्धित्वाभ्युपगमे विरुद्धधर्माध्यासोऽभ्युपगतो भवति, तथा च यथा युगपद्भाव्यनेकविरुद्धधर्माध्यासेऽप्येकं विज्ञानं तथा क्रमभाव्यनेकतद्धर्मयोगे किमित्येकं नाभ्युपगम्येत?

१५ अथ सकलविशेषाधायकत्वेन, न तर्हि निर्विकल्पकात् सविकल्पकोत्पत्तिः। न च निर्विकल्पकयोरप्युपादानोपादेयत्वेनाभ्युपगतयोस्तद्भावः स्यात्, तथा च कुतो रूपाकारात् समनन्तरप्रत्ययात् कदाचिद् रसाद्याकारस्याप्युपादेयत्वेनाभिमतस्योत्पत्तिः?

अथ विज्ञानसन्तानबहुत्वाभ्युपगमाद् नाऽयं दोषः—तेन सर्वस्य स्वसदृशस्योत्पत्तिः—तर्ह्यस्मिन् दर्शने एकस्मिन्नपि सन्ताने प्रमातृनानात्वप्रसङ्गः; तथा च गवाऽश्वदर्शनयोर्भिन्नसन्तानवर्त्तिनो-२०रेकेन दृष्टेऽर्थेऽपरस्यानुसन्धानं न स्यात्, देवदत्त-यज्ञदत्तसन्तानगतयोरिवान्येनानुभूतेऽन्यस्य। दृश्यते च—

"गामहं ज्ञातवान् पूर्वमश्वं जानाम्यहं पुनः" [श्लो० वा० सू० ५, आत्म० श्लो० १२२]।

किञ्च, सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेयज्ञानक्षणे तस्योपयोगाद् अनुपयुक्तस्यापरस्वभावस्याभावाद् योगिविज्ञानम् रूपादिकं चैकसामग्र्यन्तर्गतं प्रति न सहकारित्वं तस्येति सहकारि-२५कारणाभावे नोपादेयक्षणव्यतिरिक्तकार्यान्तरोत्पादः।

अथ येषां कारणमेव कार्यतया परिणमति तेषां भवत्वयं दोषो नैत्वस्माकं प्रागभावमात्रं कारणत्वमभ्युपगच्छताम्। नन्वत्रापि मते येन स्वरूपेण विज्ञानमुपादेयं विज्ञानान्तरं जनयति किं तेनैव रूपमेकसामग्र्यन्तर्गतम्, उत स्वभावान्तरेण? तत्र यदि तेनैव तदा रूपमपि ज्ञानमुपादेयभूतं स्यात्, तत्स्वभावजन्यत्वात्; तदुत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ स्वभावान्तरेण तदोपादानाभिमतं ज्ञानं ३०द्विस्वभावमासज्यते। यथा चोपादान-सहकारिस्वभावरूपद्वययोगस्तथा त्रैलोक्यान्तर्गतान्यजन्यकार्यान्तरापेक्षया तस्याजनकत्वमपि स्वभावः, ततश्चैकत्वं ज्ञानक्षणस्य यथोपादान-सहकार्यऽजनकत्वानेकविरुद्धधर्माध्यासितस्याभ्युपगम्यते तथा हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मनस्तत्सन्तानस्याप्यभ्युपगन्तव्यम्। अथोपादान-सहकार्यऽजनकत्वादयो धर्मास्तत्र कल्पनाशिल्पिकल्पिताः, एकत्वं तु तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धमिति न तैस्तदपनीयत इति मतिस्तर्ह्यात्मनोऽप्येकत्वं सन्तानशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धस्य ३५स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धस्य क्रमवद्धर्ष-विषादादिकार्यदर्शनाऽनुमीयमानतदपेक्षजनकत्वाऽजनकत्वधर्मापनेयं न स्यात्। तत्र स्वगतसकलधर्माधायकत्वमुपादानत्वं भवदभ्युपगमेन सङ्गतम्। नापि सन्ताननिवृत्त्या कार्योत्पादकत्वस्वभावम्, तथाऽभ्युपगमे ज्ञानसन्ताननिवृत्तेः परलोकाभावप्रसङ्गः।

अथ समनन्तरप्रत्ययत्वमुपादानत्वमुच्यते। तथाहि—समस्तुल्यः, अनन्तरोऽव्यवहितः,

---

१–स्यानुगमे वा०, भा०। २ पृ० ८७ प० ३१। ३ पृ० ८७ प० ३२। ४ सर्वज्ञाने स्वा–मा०, भा०। ५–व च ज्ञा–मा०, भा०। ६–वृत्यानें–मां०, भां०। ७ तर्हि निर्विकल्पकोत्पत्तिः। वा०, बा०। ८–रूपक–सविकल्पकयो—वा०, बा० विना। ९–ज्ञानरूपा–मां०, भा०। १० नासाकं भा०, गु०, वा०, बा०, मां०। ११–जन्मत्वा–भा०, भा०। १२ हर्षादिविव–वा०, बा०। १३–नुमीयमानं तदपेक्ष–वा०, बा० विना सर्वत्र।–तुनीयमानं तदपेक्ष–वां०।

प्रत्ययोः जनकः । न चैतद् भिन्नसन्तानादिति न तत्रानुसन्धानसंभवः । नन्वत्रापि समत्वं कार्येण यद्युपादानत्वं प्रत्ययस्य तदा वक्तव्यम्—किं सर्वथा समत्वम्, उतैकदेशेन? यदि सर्वथा तदसत्, कार्य-कारणयोः सर्वथा तुल्यत्वे यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्; तथा च कार्य-कारणयोरेककालत्वाद् न कार्यकारणभावः, न ह्येककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणवत् । तथा, कारणाभिमतस्यापि स्वकारणकालता, तस्यापि स्वकारणकालतेति सकलसन्तानशू- ५ न्यमिदानीं समस्तं जगत् स्यात् । अथ कथञ्चित् समानता, तथा सति 'योगिज्ञानस्याप्यसदादिज्ञानालम्बनस्य तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वं स्यात्' इत्यादि दूषणं पूर्वोक्तमेव । अथानन्तरत्वमुपादानत्वम्, ननु क्षणिकैकान्तपक्षे सर्वजगत्क्षणानन्तरं विवक्षितक्षणे जगद् जायत इति सर्वेषामुपादानत्वमित्येकसन्तानत्वं जगतः । देशानन्तर्यं तत्रानुपयोगि, देशव्यवहितस्यापीहजन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वाभ्युपगमात् । प्रत्ययत्वं तु नोपादानत्वम्, सहकारित्वेऽपि प्रत्ययत्वस्य भावात् । तत्र समन- १० न्तरप्रत्ययत्वमप्युपादानत्वम् । 'न च प्रतिक्षणविशरारुषु भावेषु कथञ्चिद् एकान्वयमन्तरेण जनकत्वमपि संगच्छते किमुतोपादानादिविभागः' इति क्षणभङ्गभङ्गप्रतिपादनावसरेऽभिधास्यामः ।

अत्र केचित् तुल्येऽपि जनकत्वे स्व-परसन्तानगतयोर्विज्ञानयोरुपादानत्वे कारणमाहुः—"स्वसन्ततौ चेतितं ज्ञानं ज्ञानान्तरजनकम्, न त्वेवं परसन्ततौ; अतो जनकत्वव्यतिरिक्तस्योपादानकारणत्वे निमित्तस्य संभवादित्थंभूताद्धेतुफलभावाद् व्यवस्था" । अस्यापि व्यवस्थानिमित्तत्वमयुक्तम्, नहि १५ ज्ञानमसंवेदितं व्यवस्थां लभते । संवेदनं हि ज्ञानानां स्वत एवेष्यते, तच्च स्वसन्ततिपतिते इव परसन्ततिपतितेऽपि तुल्यम् । ज्ञानान्तरवेद्यत्वं तु न शाक्यैरभ्युपगम्यते ज्ञानस्य नियमत इति नायमप्यतिप्रसङ्गपरिहारः । न च स्वसन्ततावपि स्वसंविदितज्ञानपूर्वकता ज्ञानस्य सिद्धा, मूर्छाद्यवस्थोत्तरकालभाविज्ञानस्य तथात्वानवगमात्; यतो विज्ञानपूर्वकत्वेऽपि तत्र विप्रतिपन्ना वादिनः कुतः पुनः संविदितज्ञानपूर्वकत्वम्? तत्रैतत् स्यात्—विज्ञानपूर्वकत्वस्यानुमानेन निश्चयात् कथं विप्रतिपत्तिः? २० तच्च दर्शितम् 'तज्जातीयात् तज्जातीयोत्पत्तिः' इति, एतदसत्; अतज्जातीयादपि भावानामुत्पत्तिदर्शनात्, यथा धूमादेः ।

येऽप्यत्राहुः—"सदृश-तादृशभेदेन भावानां विजातीयोत्पत्त्यसंभवादेतददूषणम्" तेषामपि सदृश-तादृशविवेको नार्वाग्दृक्प्रमातृगोचरः, कार्यनिरूपणायामपि तयोर्विवेको दुर्लभस्तस्मादयमपरिहारः । यैः पुनरुच्यते—"सर्वस्य समानजातीयादुपादानादुत्पत्तिः, आद्यस्यापि धूमक्षणस्योपादा- २५ नत्वेन व्यवस्थापिताः काष्ठान्तर्गता अणवः" तत्रापि सजातीयत्वं न विद्मः । रूपादीनां हि रूपादिपूर्वकत्वेन वा सजातीयत्वम्, धूमत्वोपलक्षितावयवपूर्वकत्वेन वा? आद्ये विकल्पे नेदानीं विजातीयादुत्पत्तिर्गोरप्यश्वादुपजायमानस्य । उत्तरविकल्पेऽपि काष्ठान्तर्गतानामवयवानां धूमत्वं लौकिकम्, पारिभाषिकं वा? परिभाषायास्तावदयमविषयः । लोकेऽपि तदाकारव्यवस्थितानामवयवानां नैव धूमत्वव्यवहारः । तार्किकेणापि लोकप्रसिद्धव्यवहारानुसरणं युक्तं कर्तुम् । तस्मान्न सजातीयादुत्पत्तिः । ३०

यच्चात्रोच्यते—'तस्यामवस्थायां विज्ञानाभावे तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तरकालमीदृशी संवित्तिर्न भवेत् 'न मया किञ्चिदपि चेतितम्' 'स्मृतिर्ह्ययमनुभवपूर्विका, अतो येनानुभवेन सता न किञ्चिच्चेस्यते तस्यामवस्थायां तस्यावश्यं सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः' एतत् सुव्याहृतम्, 'न किञ्चिच्चेतितं मया' इति ब्रुवता वस्त्ववेदनं चोच्येत, स्वरूपावेदनं वा? वस्त्ववेदने सकलप्रतिषेधो न युक्तः । स्वरूपावेदनं तु स्वसंवेदनाभ्युपगमे दूरोत्सारितम् । तस्मादिदानीमेव मनोव्यापारात् तदवस्थाभावी ३५ सर्वानवगमः संवेद्यते ।

अस्तु वा तस्यामवस्थायां विज्ञानं तथापि जनकत्वातिरिक्तव्यापारविशेषाभावः, समनन्तरप्रत्ययत्वे जनकत्वातिरिक्तेऽभ्युपगम्यमाने तयोस्तात्त्विकभेदप्रसङ्गः; तथा च 'यदैवैकस्यां ज्ञानसन्ततौ समनन्तरप्रत्ययत्वं तदैव परसन्ततावालम्बनत्वेन जनकत्वम्' इत्येतन्न स्यात् । अथ जनकत्वसमनन्तरत्वादयो धर्माः काल्पनिकाः, अकल्पितं तु यत् स्वरूपं तत् तात्त्विकम्, तच्च बोधरूपम्; ४० किमिदानीं सांवृताद् रूपाद् भावानामुत्पत्तिः? नेत्युच्यते, कथं वा काल्पनिकत्वम्? अथ जनकत्वा-

---

१ पृ० ८८ पं० ७ । २-मसंचेतेति-वा०, बा० । ३-पत्त्वादितः वा०, गु० । ४ पृ० ७४ पं० ३८-पृ० ७८ पं० १ । ५-नात् तदु-वा०, बा० विना । ६-स्त्वसंवेदनं चोच्ये-भां०, मां० । ७-यत्वेन जनकत्वातिरिक्ताभ्यु-वा०, बा० । ८-तावालम्बनजनकत्वम्' इत्येतद् स्यात् । वा०, बा० । ९-चाकाल्प-भां० । १०-त्वमजनकत्वाति-भां० ।

तिरिक्तस्य समनन्तरप्रत्ययत्वस्यैवमुच्यते कथं तन्निबन्धना व्यवस्था? तथाहि—एकस्यां सन्तती परसन्ततिगतेन विज्ञानेन तुल्येऽपि जनकत्वे समनन्तरप्रत्ययत्वेन जननविशेषमङ्गीकृत्यैकसन्तान-व्यवस्था क्रियते, यदा तु व्यवस्थानिबन्धनस्यापि सांवृतत्वं ततस्तत्कृताया व्यवस्थायाः परमार्थसत्त्वं दुर्भणमिति। अयमपि सौगतानां दोषो न जैनानाम्, यतो 'ज्ञानपूर्वकत्वं ज्ञानस्य, स्वसंवेदनं च ५ ज्ञानस्य स्वरूपम्' इत्येतत् प्राक् प्रतिसाधितम्।

यच्चोक्तम् 'अतज्जातीयादपि भावानामुत्पत्तिदर्शनाद्, यथा धूमादेः' इत्यपि न संगतम्, यतो नास्माभिरतज्जातीयोत्पत्तिर्नाभ्युपगम्यते—विलक्षणादपि पावकात् धूमोत्पत्तिदर्शनात्—किन्तु कारण-गतधर्मानुविधानं कार्यत्वाभ्युपगमनिबन्धनम्; तच्च ज्ञानस्य प्रदर्शितं प्राक्। न च काय-विज्ञानयो-रिवानल-धूमयोः सर्वथा वैलक्षण्यम्, पुद्गलविकारत्वेन द्वयोरपि सादृश्यात्। सर्वथा सादृश्ये च १० कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गः एकत्वप्राप्तेः। यत्तु 'सदृशतादृशविवेकः कार्यनिरूपणायामपि दुर्लभः' तत्र यः कार्यदर्शनादपि विवेकं नावधारयितुं क्षमस्तस्यानुमानव्यवहारेऽनधिकार एव। तदुक्तम्—

"सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति, अतस्तदवधारणे यत्नो विधेयः" [　　　　]

अत एव 'रूपादीनां हि रूपादिपूर्वकत्वेन वा' इत्यादि अनभिमतोपालम्भमात्रम्, कथञ्चित् सादृश्यस्य कार्य-कारणयोर्दर्शितत्वात्; तस्य च प्रकृते प्रमाणसिद्धत्वात्।

१५　यच्च 'सुप्त-मूर्च्छिताद्यवस्थासु विज्ञानाभावेन तत्पूर्वकत्वमुत्तरज्ञानस्य न संभवति' इत्यभ्यधायि, तदसत्; तदवस्थायां विज्ञानाभावग्राहकप्रमाणासंभवात्। तथाहि—न तावत् सुप्त एव तदवस्थायां विज्ञानाभावं वेत्ति, तदा विज्ञानानभ्युपगमात्; तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वाद् न तदवस्थायां तदभावः। नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभावं वेत्ति, कारण-व्यापक-स्वभावानुपलब्धीनां विरुद्धवि-धेर्वाऽत्र विषयेऽव्यापारात् अन्यस्य तदभावावभासकत्वायोगात्। न चाभाववत् तद्भावस्यापि तस्या-२० मवस्थायामप्रतिपत्तिः, स्वात्मनि स्वसंविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन निश्चितस्य प्राणाऽपानशरीरोष्ण-ताकारविशेषादेस्तदवस्थायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सद्भावेनानुमानप्रतीत्युत्पत्तेः। जाग्रदवस्थायामपि परसन्ततिपतितचेतोवृत्तेरस्मदादिभिर्यथोक्तलिङ्गदर्शनोद्भूतानुमानमन्तरेणाप्रतिपत्तेः। 'न किञ्चिच्चे-तितं मया इति स्मरणादुत्तरकालभाविनस्तदवस्थायामनुभवानुमाने किं वस्त्वसंवेदनम्, स्वरूपासंवेदनं वा' इत्यादि यद् दूषणमभिहितम्, तदप्यसारम्; जाग्रदवस्थाभाविस्वसंविदितगन्धतृणस्पर्शज्ञानाऽश्व-२५ विकल्पसमयगोदर्शनादिपूत्तरकालभावि 'न मया किञ्चिदुपलक्षितम्' इति स्मरणलिङ्गबलोद्भूतानुमा-नविषयेष्वप्यस्य समानत्वात्। न च स्वसंविदितविज्ञानवादिनोऽत्रापि समानो दोष इति वक्तुं युक्तम्, "यस्य यावती मात्रा" [　　　　　] इति स्वसंविदितज्ञानस्याभ्युपगमात्।

यच्च 'समनन्तरसहकारित्वाद्यनेकधर्मयुक्तत्वमेकक्षणे ज्ञानस्यासज्यते' इति प्रतिपादितम् तद-भ्युपगम्यमानत्वेनादूषणम्। अतः पौर्वापर्यव्यवस्थितहर्ष-विषादाद्यनेकपर्यायव्याप्येकात्मव्यतिरेकेण ३० ज्ञानयोः स्वसन्तानेऽप्यनुसन्धाननिमित्तोपादानोपादेयभावासंभवाद् न परसन्तानवदनुसंधानप्रत्ययः स्यात्, दृश्यते च; अतोऽनेकत्वव्यावृत्तादनुसन्धानप्रत्ययादपि लिङ्गादात्मसिद्धिः।

अथापि स्याद् गमकत्वं हि हेतोः स्वसाध्याविनाभावग्रहणपूर्वकम्, तद्ग्रहणं च धर्म्यन्तरे, न चात्रैककर्तृकत्वेन साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिः येन प्रतिसन्धानादेकः कर्त्ताऽनुमीयेत। अथ ब्रूषे क्षणिकतासाधकस्य सत्त्वाख्यस्य हेतोर्यथा धर्म्यन्तरे व्याप्त्यग्रहणेऽपि ३५ गमकता तद्वदस्यापि, एतदचारु; तस्य हि क्षणिकतायां प्राक् प्रत्यक्षेण निश्चयाभिश्चयविपर्येण च व्याप्तेर्दर्शनाद् विपक्षात् प्रच्यावितस्य बाधकप्रमाणेन साध्यधर्मिणि यदवस्थानं तदेव स्वसाध्येन व्याप्तिग्रहणम्। अत एवास्य हेतोः साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयमिच्छन्ति। ननु व्याप्ति-साध्यनिश्चययोर्नियमेन पौर्वापर्यमभ्युपगन्तव्यम्, व्याप्तिनिश्चयस्य साध्यप्रतिपत्त्यङ्गत्वात्; अत्र तु साध्यधर्मिणि व्याप्तिनिश्चयाभ्युपगमे साध्यप्रतिपत्तिकालोऽन्योऽभ्युपगन्तव्यः, न चासावन्योऽनुभूयते; अस्त्येतद्

१-यत्वे जननं वि-वा०, भा०। २ पृ० ८९ पं० २१। ३ इत्यादि, तदपि न भां० म०। ४ पृ० ७७ पं० २८। ५ ८९ प० २४। ६ पृ० ८९ पं० २६। ७ संभवीत्यभिधायि वि०, भा०, का०, गु०। संभवतीत्यभिधा-मा०, भां०। ८ पृ० ८९ पं० १८। ९-धोऽपि। मां०। १० पार्श्वे स्थितो-गु०। ११-नि संवि-मां०। १२-रोत्तानाकार-वां०। १३ पृ० ८९ पं० १४। १४ पृ० ८८ पं० ३१। १५-पत्तेः का-वां०।

कार्यहेतोः, कस्यचित् स्वभावहेतोरपि; अस्य तु बाधकात् प्रमाणाद् विपक्षात् प्रच्युतस्य यदेव साध्यधर्मिणि स्वसाध्यव्याप्ततया ग्रहणं तदेव साध्यग्रहणम् । न चास्यैवं त्रैरूप्यम्, यतो विपक्षाद् व्यावृत्तिरेवान्वयमाक्षिपति । इयांस्तु विशेषः-कस्यचिद् हेतोर्व्याप्तिविषयप्रदर्शनाय धर्मिविशेषः प्रदर्श्यते, अस्य तु 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति धर्मिविशेषाप्रदर्शनेऽपि धर्मिमात्राक्षेपेण व्याप्तिप्रदर्शनम् । तच्च सत्त्वं क्वचिद् व्यवस्थितमुपलभ्यमानं क्षणिकताप्रतिपत्त्यङ्गम्, अतः पक्षधर्मताऽप्यत्रास्ति, न चात्रैवम् । ५

अत्राप्येनमेव न्यायं केचिदाहुः । कथम् ? तत्र हि व्यापकस्य क्रमयौगपद्यस्य निवृत्त्या विपक्षात् तन्निवृत्तिः; अत्रापि प्रमातृनियततया व्यापिकाया अभावाद् विपक्षात् प्रतिसन्धानलक्षणस्य हेतोर्निवृत्तिः । अथ तत्र बाधकप्रमाणस्य व्याप्तिः प्रत्यक्षेण निश्चीयते—क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणस्य प्रत्यक्षेण निश्चयात्—अत्र तु कथम् ? अत्रापि प्रमातृनियमपूर्वकत्वेन स्वसन्तान एव प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिनिश्चयात् कथं न तुल्यता ? १०

अथ ब्रूयात् 'प्रमातृनियतता' इत्यस्य भाषितस्य कोऽर्थः ? यदि परं भवद्ग्यन्तरेणैककर्तृकत्वं साध्यं व्यपदिश्यते तस्य प्रत्यक्षेण निश्चयाभ्युपगमे कथं बाधकप्रमाणावसेयता व्याप्तेः ? नैतत्, प्रमातृनियतताग्रहणं नैककर्तृकत्वग्रहणम्; सर्वे एव हि भावा देशादिनियततयाऽवसीयमाना व्यवहारगोचरतामुपयान्ति, प्रमातुरप्यवसाय एवमेव दृश्यते—'इदानीमत्राहम्' । एवं देशाद्यसंसर्गवत् प्रमात्रन्तरासंसर्गोऽपि निश्चीयते । तथाहि—देश-कालनिबन्धननियमवद् व्यतिरिक्तपदार्थासंसर्गस्वभावनियतप्रतिभासोऽपि घटादेरिव, अत्रैकत्वानेकत्वनिश्चयाभावः । पूर्वपाक्षिकमते तस्य नानाकर्तृकेषु सन्तानान्तरेषु व्यापकस्याभावाद् विपक्षात् प्रच्युतस्य प्रतिसन्धानस्य क्वचिदुपलभ्यमानस्यैककर्तृकत्वेन व्याप्तिः । यथा क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकरणदर्शने नैवं निश्चयः—'किं क्षणिकैः क्रम-यौगपद्याभ्यां सा क्रियते, आहोस्विदन्यथा' इति, अथ च प्रत्यक्षेण बाधकस्य व्याप्त्यवसाये पश्चाद् व्यापकानुपलब्ध्या मूलहेतोर्व्याप्तिसिद्धिः एवमेककर्तृकत्वानवसायेऽपि प्रमातृनियततया प्रतिसन्धानस्य स्वसन्ततौ व्याप्तिनिश्चये सत्युत्तरकालं विपक्षे व्यापकस्य प्रमातृनियतत्वस्याभावादेककर्तृकत्वेन प्रतिसन्धानस्य व्याप्तिसिद्धिः । एवमनभ्युपगमे 'अहम् अन्यो वा' इति प्रमातृनिश्चये प्रमेयानिश्चयाद् अन्धमूकं जगत् स्यात् । औपचारिकस्य प्रमातृनियततया प्रतिभासविषयत्वेऽनात्मप्रत्यक्षत्वं दोषः । २०

तत्रैतत् स्यात्—अस्त्ययं प्रमातृनियमनिश्चयः; स तु स्वसन्ततौ किमेककर्तृकत्वकृतः, उतस्विन्निमित्तान्तरकृतो युक्तः ? तच्चैकस्यां सन्ततौ हेतु-फलभावलक्षणं प्राक् प्रदर्शितम् । सत्यम्, प्रदर्शितं नतु साधितम् । तथाहि—तत्कृतः प्रमातृनियमो नान्यकृत इति नैतावत्प्रत्यक्षस्य विषयः, न च प्रमाणान्तरस्यापि । तद्धि अस्मिन् विषये उच्यमानम् अनुमानमुच्येत, तदपि प्रत्यक्षनिषेधाभिषिद्धम् । न च क्षणिकत्वव्यवस्थापने हेतु-फलभावकृतो नियम इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम्, तस्योपरिष्टात् निषेत्स्यमानत्वात् । न चात एव दोषाद् एककर्तृकत्वकृतोऽपि न नियम इति वक्तुं शक्यम्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वस्य तत्पूर्वकानुमानसिद्धत्वस्य चात्मनि प्राग् व्यवस्थापितत्वात् । अभ्युपगमवादेन तु क्षणिकत्वव्यवस्थापकसत्त्वहेतुतुल्यत्वमनुसन्धानप्रत्ययहेतोः प्रदर्शितम्; न तु क्षणिकत्ववद् आत्मैकत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धत्वम् येनानुमानात् तत्प्रसिद्ध्यभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः प्रेर्येत । अतोऽध्यक्षानुमानप्रमाणसिद्धत्वात् परलोकिनः "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" इति सूत्रं निःसारतया व्यवस्थितम् । २५ ३०

यदप्युच्यते 'शरीरान्तर्गतं संवेदनं कथं शरीरान्तरसंचारि; जीवतस्तावन्न शरीरान्तरसंचारो दृष्टः परस्मिन् मरणसमये भविष्यतीति दुरन्वयमेतत्' तदपि न युक्तम्; यतः कुमारशरीरान्तर्गताः पाण्डित्यादिविकल्पा वृद्धावस्थाशरीरसंचारिणो दृश्यन्ते जीवत एव, चपलतादिशरीरावस्थाविशेषाः वाग्विकाराश्च; तत् कथं न जीवतः शरीरान्तरसंचारः ? अथैकमेवेदं शरीरं बाल-कुमारादिभेदभिन्नम्, जन्मान्तरशरीरं तु मातापित्रन्तरशुक्र-शोणितप्रभवम्-शरीरान्तरप्रभवम्, एतदप्ययुक्तम्; बाल-कुमारशरीरस्यापि भेदात्; यथा च बाल-कुमारशरीरचपलताभेदस्तरुणादिशरीरसञ्चारी उपलभ्यते तथा ३५

---

१ क्रमस्य यौगप-वा०, भा०, गु०, शां० । २-मानव्यव-कां०, गु० । ३-करत्वे नि-वृ०, आ० । ४-भयभावः वा०, भा० । ५-मातृनि-मा० । ६-मातुर्नियत-भां० व० ।-मातृर्नियत-वा०, बा० । ७-क्षस्वदोषः भा०, बा० विना । ८ पृ० ९१ पं ६ । ९ तत्प्रतिसि-वा०, बा० विना । १० पृ० ७१ पं० २१ । ११ पृ० ७१ पं० १४ ।

निजजन्मान्तरशरीरप्रभवश्चपलतादिभेदः परभवभाविजन्मशरीरसंचारी भविष्यतीति ततो न माता-
पितृशुक्र-शोणितान्वयि जन्मादिशरीरम् अपि तु स्वसन्तानशरीरान्वयमेव, वृद्धादिशरीरवत्; अन्यथा
मातापितृशरीरचपलतादिविलक्षणशरीरचेष्टावन्न स्यात्। अथेहजन्मबाल-कुमाराद्यवस्थाभेदेऽपि प्रत्य-
भिज्ञानाद् एकत्वं सिद्धं शरीरस्य तदवस्थाव्यापकस्य तेन न तद्दृष्टान्तबलादत्यन्तभिन्ने जन्मान्तर-
५ शरीरादौ ज्ञानसंचारो युक्तः, तदसत्; पूर्वोत्तरजन्मशरीरज्ञानसंचारकारिणः कार्मणशरीरस्यात एव
कथञ्चिदेकत्वसिद्धेः। तथाहि—ज्ञानं तावदिहजन्मादावन्यनिजजन्मज्ञानप्रभवं प्रसाधितम्, तस्य चेह-
जन्मबाल-कुमाराद्यवस्थाभेदेषु 'तदेवेदं शरीरम्' इत्यबाधितप्रत्यभिज्ञाप्रत्ययावगतैकरूपान्वयिषु संचा-
रदर्शनात् पूर्वोत्तरजन्मावस्थास्वपि तथाभूतानुगामिरूपसमन्वितासु तस्य संचारोऽनुमीयते। न
चास्मदादीन्द्रियसंवेद्यरूपाद्याश्रयस्यौदारिकशरीरस्य जन्मान्तरशरीराद्यवस्थाऽनुगमः संभवति, तस्य
१० तत्रैव च दाहादिना ध्वंसोपलब्धेः। अतो जन्मद्वयावस्थाव्यापकस्योष्मादिधर्मानुगतस्य कार्मणशरीरस्य
विज्ञानसंचारकारिणः सद्भावः सिद्धः। पूर्वोत्तरजन्मावस्थाव्यापकस्यावस्थातुस्तदवस्थाभ्यः कथञ्चिद्-
भेदाद् मातापितृशरीरविलक्षणनिजशरीरावस्थाचपलताद्यनुविधाने उत्तरावस्थायाः कथं नावस्थातृ-
धर्मानुविधानम्?

> "तस्माद् यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्त्तते।
>
> १५ शरीरं पूर्वदेहस्य तत् तदन्वयि युक्तिमत्" ॥ [ ]

'अथ पूर्वापरयोः प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेर्न कार्यकारणभावः, अनुमानसिद्धावितरेतराश्रयदोषः' इति,
तदपि प्रतिविहितम्, एवं हि सर्वशून्यत्वमायातमिति कस्य दूषणं साधनं वा केन प्रमाणेन? इहलो-
कस्याप्यभावप्रसक्तेरिति प्रतिपादितत्वात्।

अथ कार्यविशेषस्य विशिष्टकारणपूर्वकत्वसिद्धौ यथोक्तप्रकारेण भवतु पूर्वजन्मसिद्धिः, भावि-
२० परलोकसिद्धिस्तु कथम् भाविनि प्रमाणाभावात्? तत्रापि कार्यविशेषादेवेति ब्रूमः। तथाहि-कार्य-
विशेषो विशिष्टं सत्त्वमेव, तच्च न सत्तासंबन्धलक्षणम्; तस्य निषेत्स्यमानत्वात्। नाप्यर्थक्रियाकारि-
त्वलक्षणम्, सन्ततिव्यवच्छेदे तस्याभावप्रसङ्गात्। तथाहि—शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिसन्तानानां यद्युच्छे-
दोऽभ्युपगम्यते तदा तत्सन्ततिचरमक्षणस्यापरक्षणाजननादसत्त्वम्, तदसत्त्वे च पूर्वपूर्वक्षणाना-
मर्थक्रियाऽजननादसत्त्वमिति सकलसन्तत्यभावः। अथ सन्तत्यन्तक्षणः सजातीयक्षणान्तराजननेऽपि
२५ सर्वज्ञसन्ताने स्वग्राहिज्ञानजनकत्वेन सन्निति नायं दोषः, तदसत्; स्वसन्ततिपतितोपादेयक्षणाजन-
कत्वे परसन्तानवर्त्तिस्वग्राहिज्ञानजनकत्वस्याप्यसंभवात्। नह्युपादानकारणत्वाभावे सहकारिकारणत्वं
क्वचिदप्युपलब्धम्; तत्सद्भावे वा एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतस्तत्समानकालभाविनोऽव्यभिचा-
रिणी प्रतिपत्तिर्न स्यात्, रूपक्षणस्य स्वोपादेयक्षणान्तराजननेऽपि रससन्ततौ सहकारिकारणत्वेन रस-
क्षणजनकत्वाभ्युपगमात्; तत्सद्भावेऽपि तत्समानकालभाविनो रूपादेरभावात्। तन्नोपादानकारणत्वा-
३० भावे सहकारित्वस्यापि संभव इति स्वसन्तत्युच्छेदाभ्युपगमेऽर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्वस्यासम्भव इति
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणमेव सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति कार्यविशेषलक्षणाद्धेतोर्यथोक्तप्रकारेणातीतका-
लवदनागतकालसंबन्धित्वमप्यात्मनः सिद्धम्।

यदप्युक्तम् 'यद्यागमसिद्धत्वमात्मनः, तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धस्तत्सिद्धोऽभ्युपगम्यते
तदाऽनुमानवैयर्थ्यम्' इति, तदपि मूर्खेश्वरचेष्टितम्; नहि व्यर्थम् इति निजकारणसामग्रीबलायातं
३५ वस्तु प्रतिक्षेप्तुं युक्तम्; नहि आगमसिद्धाः पदार्थाः इति प्रत्यक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः। यदपि
प्रत्यक्षाऽनुमानाविषये चार्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते—तदुक्तम्-

> "आम्नायस्य क्रियाऽर्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्-" [जैमि० १-२-१] इति,

तदप्ययुक्तम्; यतो यथा प्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीति
प्रतिपादितं तथा प्रत्यक्षाऽनुमानप्रतिपन्नेऽप्यात्मलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धलक्षणे

१-लक्षणं शरीरं चे-गु०। २-बाधितैकप्र-मां०। ३ तस्यैव च दाहा-वा०, बा०। ४ अनु
मानभावसिद्धावि-भा०, वा० विना। ५ एवं हि सति सर्व-भा०, मां०। ६ पृ० ७४ पं० २६।
७ पृ० ७१ पं० ३७। ८-यातवस्तु कां०। ९ पृ० ७५ पं० १३। १०-यते क-कां०।

किमित्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगमस्य विषयः ? न चागमस्य तत्राप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तम्, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धप्रतिपादकश्चागमः—

"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्य" [तत्त्वा० अ० ६, सू० १६]

इत्यादिना वाचकमुख्येन सूत्रीकृतोऽस्यैवानुमानविषयत्वं प्रतिपादयितुकामेन । यथा च कर्मफलसंबन्धोऽप्यात्मनोऽनुमानादवसीयते तथा यथास्थानमिहैव प्रतिपादयिष्यामः । आत्मस्वरूपप्रति- ५ पादकः प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धप्रतिपादकश्चागमः—

"एगे आया" [स्थाना० प्रथमस्था० सू० १]

"पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं कडाणं कम्माणं[3]" [ ]

इत्यादिकः सुप्रसिद्ध एव । तदेवं प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमप्रमाणप्रसिद्धत्वात् नारक-तिर्यग्-नराऽमरपर्यायानुभूतिस्वभावस्यात्मनः, न 'भवशब्दव्युत्पत्तिः अर्थाभावात् डित्थादिशब्दव्युत्पत्तितुल्या' १० इति स्थितम् ॥

[पूर्वपक्षः—जगतः ईश्वरकृतत्वस्थापनम्]

अत्राहुर्नैयायिकाः—क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयाऽपरामृष्टपुरुषाभ्युपगमे "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" इति दूषणमभ्यधायि[4] तत्र तन्नित्यसत्त्वप्रतिपादने नास्माकं काचित् क्षतिः, प्रमाणतो नित्यज्ञानादिधर्मकलापान्वितस्य तस्याभ्युपगमात् । १५

ननु युक्तमेतद् यदि तथाभूतपुरुषसद्भावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रमाणं स्यात्, तच्च नास्ति । तथाहि—न प्रत्यक्षं तथाविधपुरुषसद्भावावेदकमस्मदादीनाम् । अस्मद्विलक्षणयोगिभिस्तस्यावसाय इत्यत्रापि न किञ्चित् प्रमाणमस्ति । यदा न तत्स्वरूपग्रहणे प्रत्यक्षप्रमाणप्रवृत्तिस्तदा तद्गतधर्माणां नित्यज्ञानादीनां सद्भावावसायः[5] तु न संभवति ।

नानुमानमपि युक्तम् एतत्स्वरूपावेदकम्, प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य तस्यापि निषेधात् । सामा- २० न्यतोदृष्टस्यापि नात्र विषये प्रवृत्तिः, लिङ्गस्य कस्यचित् तत्प्रतिपादकस्याभावात्; कार्यत्वस्य पृथिव्याद्याश्रितस्य केषाञ्चिन्मतेनासिद्धेः । न च संस्थानवत्त्वस्य तत्साधकत्वम्, प्रासादादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्यात्यन्तवैलक्षण्यात् संस्थानशब्दवाच्यत्वेन चातिप्रसक्तिर्दर्शिता

"वस्तुभेदप्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः" [ ]

इत्यादिना । तस्मान्नानुमानं तत्साधनायालम् । २५

नाप्यागमः, नित्यस्यात्र दर्शनेऽनभ्युपगमात्; अभ्युपगमे वा कार्यार्थप्रतिपादकस्य सिद्धे वस्तुन्यव्यापृतेः । नापीश्वरपूर्वकस्य प्रामाण्यम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । अनीश्वरपूर्वकस्यापि संभाव्यमानदोषत्वेन प्रमाणताऽनुपपत्तेः । तस्यान्येश्वरपूर्वकत्वे तस्यापि सिद्धिः कुत इति वक्तव्यम्, तदसिद्धौ न तस्य प्रामाण्यम्, अनेकेश्वरप्रसङ्गदोषश्च । भवतु, को दोषः यत एकस्यापि साधने वयमतीवोत्सुकाः किं पुनर्बहूनामिति चेत्, न कश्चित् प्रमाणाभावं मुक्त्वा । तन्नागमतोऽपि तत्प्रतिपत्तिः । ३० एवं स्वरूपासिद्धौ कथं तस्य कारणता ?

अत्राहुः—यदुक्तम्[6] 'न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्' तदेवमेव । यदपि 'सर्वप्रकारस्यागमस्य न तत्स्वरूपावेदने व्यापृतिः' तत्रोच्यते—आगमाव्यापारेऽपि तत्स्वरूपसाधकमनुमानं विद्यते । आगमस्यापि सिद्धेऽर्थे लिङ्गदर्शनन्यायेन यथा व्यापृतिस्तथा प्रतिपादयिष्यामः । प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्धसाधनम्, सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात् । नन्वनुमानप्रमाणतायामयं विचारो ३५ युक्तारम्भः, तस्यैव तु प्रामाण्यं नानुमन्यन्ते चार्वाका इति, एतच्चानुद्घोष्यम्; अनुमानप्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् ।

यत्तूक्तम्[7] 'पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगमः' तत्र पृथिव्यादीनां यौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतं ते कथमेवं वदेयुः ? येऽपि चार्वाकाद्याः पृथिव्यादीनां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि

---

१ पृ० ६९ पं० ९ । २ प्रतिमदत्वं नार-भां० । ३ "पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कडाणं पावाणं कम्माणं" इत्यादि-ज्ञाताधर्मकथासूत्रे पृ० २०४ प्र०, पं० १-विपाकसूत्रे पृ० ३८ द्वि०, पं० १८ । ४ पृ० ६९ पं० २७ । ५-त्रावे घा-भां०, वा०, बा० । ६ प्र० पृ० पं० १७ । ७ प्र० पृ० पं० २६ । ८ प्र० पृ० पं० २१ ।

विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता? सर्वं संस्थानवत्, कार्यम्, तच्च पुरुषपूर्वकं दृष्टम्। येऽप्याहुः- "संस्थानशब्दवाच्यत्वं केवलं घटादिभिः समानं पृथिव्यादीनाम् न तत्त्वतोऽर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते"। तेषामपि न केवलमत्रानुगतार्थाभावः किन्तु धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति।

५ अथ तत्र वस्तुदर्शनायातकल्पनानिमित्तमुक्तम्, अत्र तथाभूतस्य प्रतिभासस्याभावान्नानुगतार्थकल्पना। तथाहि-कस्यचिद् घटादेः क्रियमाणस्य विशिष्टां रचनां कर्तृपूर्विकां दृष्ट्वाऽदृष्टकर्तृकस्यापि घट-प्रासादादेस्तस्य रचनाविशेषस्य कर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिः, पृथिव्यादेस्तु संस्थानं कदाचिदपि कर्तृपूर्वकं नावगतम्; नापि तादृशं धर्म्यन्तरे दृष्टकर्तृक इव पटादौ, तत् पृथिव्यादिगतस्य संस्थानस्य वैलक्षण्यात् ततो न ततः कर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिः, एवं हेतोरसिद्धत्वेन नैतत् साधनम्, अयुक्तमेतत्,
१० यतो यद्यनवगतसंबन्धान् प्रतिपत्तॄन् अधिकृत्य हेतोरसिद्धत्वमुच्यते तदा धूमादिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीताविनाभावानामपि कार्यत्वदर्शनात् तन्वादिषु ईश्वरादिकृतत्वप्रतिभासानुत्पत्तेरेवमुच्यते, तदसत्; ये हि कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन गृहीताविनाभावास्ते तस्मादीश्वरादिपूर्वकत्वं तेषामवगच्छन्त्येव। तस्माद् व्युत्पन्नानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमः, अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति।[1]

१५ अपि च, भवतु प्रासादादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्यं तथापि कार्यत्वं शाक्यादिभिः पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ-करणादिपूर्वकं दृष्टम्; अतः कार्यत्वाद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वानुमानम्। अथ कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वस्य संस्थानवत्त्वस्य च तद्वैलक्षण्यान्न ततः साध्यावगमः। अत एवाधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमद् यत् संस्थानं तद्दर्शनात् कर्त्रदर्शिनोऽपि तत्प्रतिपत्तिर्युक्तेत्यस्य दूषणस्य कार्यत्वेऽपि समानत्वात् कथं गमकता? यद्येवमनुमानोच्छेदप्रसङ्गः;
२० धूमादिकमपि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथाविधमेव यदि पर्वतोपरि भवेत् स्यात् ततो वह्न्याद्यवगमः। अथाधूमव्यावृत्तं तथाविधमेव धूमादि तर्हि कार्यत्वाद्यपि तथाविधं पृथिव्यादिगतं किं नेष्यते? अथ पृथिव्यादिगतकार्यत्वादिदर्शनात् कर्त्रदर्शिनां तदप्रतिपत्तिः, एवं शिखर्यादिगतवह्न्याद्यदर्शिनां धूमादिभ्योऽपि तदप्रतिपत्तिरस्तु। न चात्र शब्दसामान्यं वस्त्वनुगमो नास्तीति वक्तुं युक्तम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तन्न शाक्यदृष्ट्या
२५ कार्यत्वादेरसिद्धता।

नापि चार्वाक-मीमांसकदृष्ट्या, तेषामपि संस्थानवदवश्यं कार्यं घटादिवत् पृथिव्यादि स्वावयवसंयोगैरारब्धमवयवतया विश्लेषाद् विनाशमनुभविष्यति, एवं विनाशाद् वा संभावितात् कार्यत्वानुमानम् रचनास्वभावत्वाद् वा। यथोक्तं भाष्यकृता—

"येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां भावानां रूपमुपलभ्यते तेषां तन्तुव्यतिषङ्गजनितं रूपं दृष्ट्वा तद्व्यति-
३० षङ्गविमोचनात् तद्विनाशाद् वा विनङ्क्ष्यतीत्यनुमीयते" [ ]

अनेन संस्थानवतोऽनुपलभ्यमानोत्पत्तेः समवाय्यसमवायिकारणविनाशाद् विनाशमाह। तथा, पृथिव्यादेः संस्थानवतोऽदृष्टजन्मनो रूपदर्शनाद् नाशसम्भावना भविष्यति, सम्भाविताच्च नाशात् कार्यत्वानुमितौ कर्तृप्रतिपत्तिः। यथोक्तं न्यायविद्भिः—

"तत्त्वदर्शनं प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा" [ ]

३५ कार्यत्व-विनाशित्वयोश्च समव्याप्तिकत्वादेकेनापरस्यानुमानमिष्टम् "तेन यत्राप्युभौ धर्मौ" [श्लो० वा० अनु० श्लो० ९] इत्यत्र। अतो जैमिनीयानां न कार्यत्वादेरसिद्धता।

नापि चार्वाकमतेऽसिद्धत्वम्; तेषां रचनावत्त्वेनावश्यभाविनी कार्यताप्रतिपत्तिरदृष्टोत्पत्तीनामपि क्षित्यादीनाम्, अन्यथा वेदरचनाया अपि कर्तृदर्शनाभावान्न कार्यता, यतस्तत्राप्येतावच्छक्यं वक्तुम्-न रचनात्वेन वेदरचनायाः, कार्यत्वानुमानम्, कर्तृभावाऽभावानुविधायिनी
४० तद्दर्शनाल्लौकिक्येव रचना तत्पूर्विकाऽस्तु मा भूद् वैदिकी। अथ तयोर्विशेषानुपलम्भाल्लौकिकीव

१-प्राप्तस्तु-हा०,।। २-यातत्कल्प-वा०, बा०, मां०, मा०। ३ इति प-वि०। ४ घटा-मां०। ५-न यतो वि०।, ६-नष्य-कां०। ७-स्ततो षाऽनु-भा०, मा०।।

वैदिक्यपि कर्तृपूर्विका तर्हि प्रासादादिसंस्थानवत् पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्वस्यापि तद्रूपताऽस्तु, विशेषानुपलक्षणात् । तत्र हेतोरसिद्धता ।

{ मा भूदसिद्धत्वं तथाऽप्यस्मात् साध्यसिद्धिर्न युक्ता, नहि केवलात् पक्षधर्मत्वाद् व्याप्तिशून्यात् साध्यावगमः । ननु किं घटादौ कर्तृ-कर्म-करणपूर्वकत्वेन कार्यत्वादेर्व्याप्त्यनवगमः ? अस्त्येवं घटगते कार्यत्वे प्रतिपत्तिस्तथापि न व्याप्तिः, सा हि सकलाक्षेपेण गृह्यते, अत्र तु व्याप्तिग्रहणकाल एव केषाञ्चित् कार्याणामकर्तृपूर्वकाणां कार्यत्वदर्शनान्न सर्वं कार्यं कर्तृपूर्वकम्, यथा वनेषु वनस्पतीनाम् । अथ तत्र न कर्त्रभावनिश्चयः किंतु कर्त्रग्रहणम्, तच्च विद्यमानेऽपि कर्तरि भवतीति कथं साध्याभावे हेतोर्दर्शनम् ? क पुनर्विद्यमानकर्तृकाणां तदप्रतिपत्तिः ? यथा घटादीनामनवगतोत्पत्तीनाम् । युक्ता तत्र कर्तुरप्रतिपत्तिः, उत्पादकालानवगमात्; तत्काले च तस्य तत्र सन्निधानम्, अन्यदाऽस्य सन्निधानाभावादग्रहणम्; वनगतेषु च स्थावरेषूपलभ्यमानजन्मसु कर्तृसद्भावे तदवगमोऽवश्यंभावी, यथोपलभ्यमानजन्मनि घटादौ; अत उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य कर्तुस्तेष्वभावनिश्चयात् तत्र व्याप्तिग्रहणकाल एव कार्यत्वादेर्हेतोर्दर्शनान्न कर्तृपूर्वकत्वेन व्याप्तिः ।

इतश्च दृष्टहान्यदृष्टपरिकल्पनासम्भवोऽत्र-दृष्टानां क्षित्यादीनां कारणत्वत्यागः अदृष्टस्य च कर्तुः कारणत्वकल्पना न युक्तिमती । अथ न क्षित्यादेः कारणत्वनिराकरणं कर्तृकल्पनायामपि, तत्सद्भावेऽपि तस्यापरकारणत्वक्लृप्तिः, तदसत्; यतो यद् यस्यान्वय-व्यतिरेकानुविधायि तत् तस्य कारणम् इतरत् कार्यम्; क्षित्यादीनां त्वन्वय-व्यतिरेकावनुविधत्ते तनाकृष्टजातं वनस्पत्यादि नापरस्य, कथमतो व्यतिरिक्तं कारणं भवेत् ? एवमपि कारणत्वकल्पनायां दोष उक्तः "चैत्रस्य व्रणरोहणे" [ ] इत्यादिना । तस्मात् पक्षधर्मत्वेऽपि व्याप्त्यभावादगमकत्वं हेतोः ।

अथ तेषां पक्षेऽन्तर्भावान्न तैर्व्यभिचारः, तदसत्; तात्त्विकं विपक्षत्वं कथमिच्छाकल्पितेन पक्षत्वेनापोह्येत ? व्याप्तौ सिद्धायां साध्य-तदभावयोरग्रहणे वादीच्छापरिकल्पितं पक्षत्वं कथ्यते । सपक्ष-विपक्षयोर्हेतोः सदसत्त्वनिश्चयाद् व्याप्तिसिद्धिः । एवमपि साध्याभावे दृष्टस्य हेतोर्व्याप्तिग्रहणकाले व्यभिचाराशङ्कायां निश्चये वा व्यभिचारविषयस्य पक्षेऽन्तर्भावेन गमकत्वकल्पने न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी भवेत् । तस्मान्नेश्वरसिद्धौ कश्चिद् हेतुरव्यभिचार्यस्ति } ।

अत्राहुः-नाकृष्टजातैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारः व्याप्त्यभावो वा, साध्याभावे वर्तमानो हेतुर्व्यभिचारी उच्यते, तेषु तु कर्त्रग्रहणम् न सकर्तृकत्वाभावनिश्चयः । ननूक्तम् 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे कर्तुरभावनिश्चयस्तत्र युक्तः' नैतद् युक्तम्; उपलब्धिलक्षणप्राप्ततायाः कर्तुस्तेष्वनभ्युपगमात् । यच्चोक्तम् 'क्षित्याद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानदर्शनात् तेषाम् तद्व्यतिरिक्तस्य कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गदोषः' इति, एतस्यां कल्पनायां धर्माधर्मयोरपि न कारणता भवेत् । न च तयोरकारणतैव, तयोः कारणत्वप्रसाधनात्-नहि किञ्चिज्जगत्यस्ति यत् कस्यचिन्न सुखसाधनम् दुःखसाधनं वा । न च तत्साधनस्यादृष्टनिरपेक्षस्योत्पत्तिः । इयांस्तु विशेषः-शरीरादेः प्रतिनियताऽदृष्टाक्षिप्तत्वं प्रायेण, सर्वोपभोग्यानां तु साधारणाऽदृष्टाक्षिप्तत्वम् । एतत् सर्ववादिभिरभ्युपगमादप्रत्याख्येयम्; युक्तिश्च प्रदर्शितैव । चार्वाकैरप्येतदभ्युपगन्तव्यम्, तान् प्रति पूर्वमेतत्सिद्धौ प्रमाणस्योक्तत्वात् । प्रमाणसिद्धं तु न कस्यचिन्न सिद्धम् । अथादृष्टस्य कार्येणान्वय-व्यतिरेकाननुविधानेऽपि नाकारणता, न तर्हि वक्तव्यं भूम्यादिव्यतिरेकेण स्थावरादिना कार्येणेश्वरस्यान्वय-व्यतिरेकाननुविधानादकारणत्वम् । अथ जगद्वैचित्र्यमदृष्टस्य कारणत्वं विना नोपपद्यते इति तत् कल्प्यते, सर्वान् उत्पत्तिमतः प्रति भूम्यादेः साधारणत्वादतोऽदृष्टाख्यविचित्रकारणकृतं कार्यवैचित्र्यम्; एवमदृष्टस्य कारणत्वकल्पनायामीश्वरस्यापि कारणत्वप्रतिक्षेपो न युक्तः, यथा कारणगतं वैचित्र्यं विना कार्यगतं वैचित्र्यं नोपपद्यते इति तद् परिकल्प्यते तथा चेतनं कर्तारं विना कार्यस्वरूपानुपपत्तिरिति किमिति तस्य नाभ्युपगमः ? न चाकृष्टजातेषु स्थावरादिषु तस्याग्रहणेन प्रतिक्षेपः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाददृष्टवत् । न च सर्वा कारणसामग्र्युपलब्धिलक्षणप्राप्ता । अत एव दृश्यमानेष्व ये

१-च घट-भां०, वा०, बा०, मा० विना । २-रत्वेऽपि प्र-भा०, गु०, मां० । ३-यात् इ-वा०, बा० । ४-ह्यतैः भां०, कां०, गु० । ५-"वनवनस्पत्यादीनाम्" वि० टि० । ६-त्वयोश्च हे-भां०, मां० । ७ प्र० पृ० पं० ११ । ८ प्र० पृ० पं० १६ । ९ पृ० ९३ पं० ३ ।

कारणेषु कारणत्वमप्रत्यक्षम्, कार्येणैव तस्योपलम्भात्। सहकारिसत्ता दृश्यमानस्य कारणता, केषाञ्चित् सहकारिणां दृश्यत्वेऽप्यदृष्टादेः सहकारिणः कार्येणैव प्रतिपत्तिः; एवमीश्वरस्य कारणत्वेऽपि न तत्स्वरूपग्रहणं प्रत्यक्षेणेति स्थितम्। ततोऽनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात् कर्तुरुपलभ्यमानजन्मसु स्थावरेषु हेतोर्वृत्तिदर्शनान्न व्याप्त्यभावः यतो निश्चितविपक्षवृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारी।

५ ननु निश्चितविपक्षवृत्तिर्यथा व्यभिचारी तथा सन्दिग्धव्यतिरेकोऽपि, उक्तेषु स्थावरेषु कर्त्रग्रहणं किं कर्त्रभावात्, आहोस्विद् विद्यमानत्वेऽपि तस्याग्रहणमनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वेन? एवं सन्दिग्धव्यतिरेकत्वे न कश्चिद्धेतुर्गमकः। धूमादेरपि सकलव्यक्त्याक्षेपेण व्याप्त्युपलम्भकाले न सर्वा वह्निव्यक्तयो दृश्याः; तासु चाऽदृश्यासु धूमव्यक्तीनां दृश्यत्वे सन्दिग्धव्यतिरेकाशङ्का न निवर्त्तते-यत्र वह्नेरदर्शने धूमदर्शनं तत्र किं वह्नेरदर्शनमभावात्, आहोस्विद् अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वात् १० इति न निश्चयः। अतो धूमोऽपि सन्दिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकः।

अथ धूमः कार्यं हुतभुजः, तस्य तदभावे स्वरूपानुपपत्तेरदृष्टत्वेऽप्यनलस्य सद्भावकल्पना, ननु तत् कार्यमत्रोपलभ्यमानं किमिति कारणमन्तरेण कल्प्यते? अथ दृष्टशक्तेः कारणस्य कल्पनाऽस्तु मा भूद् बुद्धिमतः, वह्न्यादेर्धूमादीन् प्रति कथं दृष्टशक्तिता? प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति चेत्, बुद्धिमतोऽपि ताभ्यां कारणत्वक्लृप्तौ वह्न्यादिभिस्तुल्यता; यथा वह्न्यादिसामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टः स तामन्त १५ रेण कदाचिदपि न भवति-स्वरूपहानिप्रसङ्गात्-तद्वत् सर्वमुत्पत्तिमत् कर्तृ-कर्म-करणपूर्वकं दृष्टम्, तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यतास्वभावः, तत्सेवंस्वभावनिश्चितावन्यतमाभावेऽपि कथं भावः?

किंच, अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात् नत्वसत्त्वात्, यत्र शरीरस्य कर्तृता तत्र कुलालादेः प्रत्यक्षेणैवोपलम्भः, अत्र तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात् कथं प्रत्यक्षव्यापृतिः? नाप्येतद् वक्तव्यम् शरीराद्यभावात् तर्हि कर्तृताऽपि न युक्ता, कार्यस्य शरीरेण २० सह व्यभिचारदर्शनात्—यथा स्वशरीरस्य प्रवृत्ति-निवृत्ती सर्वश्चेतनः करोति, ते च कार्यभूते; न च शरीरान्तरेण शरीरप्रवृत्ति—निवृत्तिलक्षणं कार्यं चेतनः करोति तेन तस्य व्यभिचारः। अथ शरीरे एव दृष्टत्वात् करोतु नान्यत्र, तन्न, यतः कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्; तत् स्वशरीरगतमन्यशरीरगतं वेति नानेन किञ्चित्। एतेनैतदपि पराकृतं यदाहुरेके—

"अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्त्तते" [ ]

२५ अचेतनस्य शरीरादेरात्मेच्छानुवर्त्तित्वदर्शनात्। न चाचेतनस्य तदिच्छाननुवर्त्तिनोऽपि प्रयत्नप्रेर्यत्वं परिहार इति वक्तव्यम्, यत ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः। न च शरीराभावात् कथं प्रयत्न इति वक्तुं युक्तम्, शरीरान्तराऽभावेऽपि शरीरस्य प्रयत्नप्रेर्यत्वदर्शनात्। तत् कर्तुः शरीराभावादकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेष्वग्रहणम्, न तन्नादर्शनेन हेतोर्व्यभिचारः। येऽपि "प्रत्यक्षाऽनुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावम्" आहुस्तेषामपि कस्यचित् कार्यकारणभावस्य तत्साधनत्वे यथेन्द्रि- ३० याणाम् अदृष्टस्य च तौ विना कारणत्वसिद्धिस्तथेश्वरस्यापि। अतो न व्याप्त्यभावः।

अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रावकाशः; वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवात्।

नापि बाधः, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाग्रहणात्; साध्याभावे हेतोरभावः स्वसाध्यव्याप्तत्वादेव सिद्धः।

३५ नापि धर्म्यसिद्धता, कार्यकारणसङ्घातस्य पृथिव्यादेर्भूतग्रामस्य च प्रमाणेन सिद्धत्वात्। तदाश्रयत्वेन हेतोर्यथा प्रमाणेनोपलम्भस्तथा पूर्वं प्रदर्शितम्। अतोऽस्मादीश्वरावगमे न तत्सिद्धौ प्रमाणाभावः।

नापि हेतोर्विशेषविरुद्धता, तद्विरुद्धत्वे हेतोर्विशेषणेऽभ्युपगम्यमाने न कश्चिद्धेतुरविरुद्धो भवेत्, प्रसिद्धानुमानेऽपि विशेषविरुद्धादीनां सुलभत्वात्। यथाऽयं धूमो दहनं साधयति तथैत ४० द्देशावच्छिन्नवह्न्यभावमपि साधयति। नहि पूर्वधूमस्यैतद्देशावच्छिन्नेन वह्निना व्याप्तिः। एवं कालाद्यवच्छेदेन हेतोर्विरुद्धता वक्तव्या। अथ देश-कालादीन् विहाय वह्निमात्रेण हेतोर्व्याप्तेर्न

१ सम्मति-भां०, वा०, बा०। २ पृ० ९४ पं० १५।

विरुद्धता तर्हि तद्वत् कार्यमात्रस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तेर्यद्यपि दृष्टान्तेऽनीश्वरोऽसर्वज्ञः कृत्रिमज्ञानसम्बन्धी सशरीरः क्षित्याद्यपविष्टः कर्ता तथापि पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचारात् तद्विपर्ययसाधकत्वेऽपि न विरुद्धता । विरुद्धो हि हेतुः साध्यविपर्ययकारित्वाद् भवति । न चैतेषां साध्यता, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्यास्माद्धेतोः साध्यत्वेनेष्टत्वात् । यथा च विशेषविरुद्धादीनामदूषणत्वं तथा ५

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" [न्यायद० अ० १, आ० २, सू० ६]

इत्यत्र सूत्रे निर्णीतम् ।

इतश्चैतददूषणम्—पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विशेषः साध्यते, उत पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते? न तावत् पूर्वो विकल्पः, यदि नाम तत्रापरेण हेतुना विशेषाधानं कृतं किं तावता पूर्वस्य हेतोः साध्यसिद्धिविघातः? यथा कृतकत्वेन १० शब्दस्यानित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिस्तद्वदत्रापि । अथोत्तरो विकल्पस्तथापि स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धो व्याप्त्यभावप्रदर्शनेन क्रियते; व्याप्त्यभावश्च हेतुरूपाणामन्यतमाभावेन । न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याभावः कथ्यते । न च हेतुरूपाभावासिद्धावगमकत्वम् । तन्न विशेषविरुद्धता ।

विशेषास्तु धर्मिणः स्वरूपसिद्धावुत्तरकालं प्रमाणान्तरप्रतिपाद्या न तु पूर्वहेतुबलादभ्यु- १५ पगम्यन्ते । तच्च प्रमाणान्तरमागमः पूर्वहेतोर्हेत्वन्तरं च । "तच्चान्वयव्यतिरेकिपूर्वककेवलव्यतिरेकिसंज्ञम् । यथा गन्धाद्युपलब्ध्या तत्साधनकरणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधे करणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता तथेहापि कार्यत्वात् बुद्धिमत्कारणमात्रप्रसिद्धौ प्रसक्तप्रतिषेधात् कारणविशेषसिद्धिः केवलव्यतिरेकिनिमित्ता । तथाहि—कार्यत्वाद् बुद्धिमत्कारणमात्रसिद्धौ प्रसक्तानां कृत्रिमज्ञान-शरीरसंबद्धत्वादीनां धर्माणां प्रमाणान्तरेण बाधोपपत्तौ विशिष्टबुद्धिमत्कारणसिद्धिर्व्य- २० तिरेकिबलात्" इति केचित् ।

अन्ये मन्यन्ते—"यत्रान्वयव्यतिरेकिणो हेतोर्न विशेषसिद्धिस्तत्र तत्पूर्वकात् केवलव्यतिरेकिणो विशेषसिद्धिर्भवतु, यथा घ्राणादिषु, अत्र तु पूर्वस्माद्धेतोर्विशेषसिद्धौ न हेत्वन्तरपरिकल्पना । यथा धूमस्य वह्निनाऽन्वय-व्यतिरेकसिद्धौ 'अत्र देशे वह्निः' इति पक्षधर्मत्वबलाद् प्रतिपत्तिर्नान्वयाद् व्यतिरेकाद्वा, तयोर्एतद्देशावच्छिन्नेन वह्निनाऽसंभवात्—यद्यपि व्याप्तिकाले सकलाक्षेपेण तद्देशस्या- २५ प्याक्षेपः अन्यथाऽत्र व्याप्तेरसंभवात्, तथापि व्याप्तिग्रहणवेलायां सामान्यरूपतया तदाक्षेपः न विशेषरूपेणेति विशेषावगमो नान्वय-व्यतिरेकनिमित्तः, अपि तु पक्षधर्मत्वकृतः । अत एव "प्रत्युत्पन्नकारणजन्यां स्मृतिमनुमानम्" आहुः । प्रत्युत्पन्नं च कारणं पक्षधर्मत्वमेव—तथा कार्यत्वाद्बुद्धिमत्कारणमात्रेण व्याप्तिसिद्धावपि कारणविशेषप्रतिपत्तिः पक्षधर्मत्वसामर्थ्यात् । य इत्थंभूतस्य पृथिव्यादेः कर्ता नियमेनासावकृत्रिमज्ञानसंबन्धी शरीररहितः सर्वज्ञ एकः" इति, एवं यदा ३० पक्षधर्मत्वबलाद् विशेषसिद्धिस्तदा न विशेषविरुद्धादीनामवकाशः ।

"अन्वयसामर्थ्यादपि विशेषसिद्धिम्" अन्ये मन्यन्ते । तथा, धूममात्रस्य वह्निमात्रेण व्याप्तिः एवं धूमविशेषस्य वह्निविशेषेण इति धूमविशेषप्रतिपत्तौ न वह्निमात्रेणान्वयानुस्मृतिः किन्तु वह्निविशेषेण, एवंविशिष्टकार्यत्वदर्शनाच्च कारणमात्रानुस्मृतिः किन्तु तथाविधकार्यविशेषजनककारणविशेषानुस्मृतिः । तदनुस्मृतावत्रान्वयसामर्थ्यादेव कारणविशेषप्रतिपत्तिरिति न विशेषविरुद्धावकाशः । ३५

एतेषां पक्षाणां युक्तायुक्तत्वं सूरयो विचारयिष्यन्तीति नास्माकमत्र निर्बन्धः; सर्वथा विशेषविरुद्धस्यादूषणत्वमस्माभिः प्रतिपाद्यते तद्विरुद्धलक्षणपर्यालोचनया । प्रसक्तानां च विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया, अन्वयव्यतिरेकिमूलकेवलव्यतिरेकिबलाद्वा, पक्षधर्मत्वसामर्थ्येन वा, कार्यविशेषस्य कारणविशेषान्वितत्वेन वा नात्र प्रयत्यते, सर्वथा प्रस्तुतहेतौ न व्याप्त्यसिद्धिः ।

१-स्यात् । मां० । २ यथा मा० ब० । ३ "त्रयाणां पूर्वोक्तानाम्" वि० टि० । ४-नां विशे-मां०, मु०, मा०, बा० ।

प्रसक्तानां विशेषाणां प्रमाणान्तरबाधया विशेषविरुद्धताऽनवकाश इत्युक्तं तत्र कतमस्य प्रसक्तस्य विशेषस्य केन प्रमाणेन निराकृतिः? शरीरसंबन्धस्य तावद्व्याप्त्यभावेन, शरीरान्तररहितस्याप्यात्मनः स्वशरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा। अथात्मनः प्रयत्नवत्त्वाद् धारणादिक्रियासु शरीराद्याधारासु कर्तृत्वं युक्तम् नेश्वरस्य, तद्रहितत्वात्; तथा च भवतां मुख्यं कर्तृलक्षणम्—

५ "ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः कर्तृता" [ ] इति।

केनेश्वरस्य तद्रहितत्वात् प्रयत्नप्रतिषेधः कृतः? आत्म-मनःसंयोगजन्यत्वात् प्रयत्नस्य ईश्वरस्य तदसंभवात् कारणाभावात् तन्निषेधः। बुद्धिस्तर्हीश्वरे कथं तस्या अपि मनःसंयोगजन्यतैव? साऽपि मा भूत् का नः क्षतिः? ननु तदसत्त्वेन न त्वन्या काचित्। सोऽपि भवतु, तदभावे कस्य विशेषः शरीरादिसंयोगलक्षणः साध्यते? अत एवान्यैरुक्तम्—

१० "नातीन्द्रियार्थप्रतिषेधो विशेषस्य कस्यचित् साधनेन निराकरणेन वा कार्यः-तदभावे विशेषसाधनस्य तन्निराकरणहेतोर्वाऽऽश्रयासिद्धत्वात्-किन्त्वतीन्द्रियमर्थमभ्युपगच्छंस्तत्सिद्धौ प्रमाणं प्रष्टव्यः। स चेत् तत्सिद्धौ प्रयोजकं हेतुं दर्शयति 'ओम्' इति कृत्वाऽसौ प्रतिपत्तव्यः। अथ न दर्शयति प्रमाणाभावादेवासौ नास्ति, न तु विशेषाभावात्" [ ] तस्माद् ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायोऽस्तीश्वरे, ते तु ज्ञानादयोऽस्मदादिज्ञानादिभ्यो विलक्षणाः, वैलक्षण्यं च नित्यत्वादिधर्म-

१५ योगात्। तन्नेश्वरशरीरस्य कर्तृविशेषस्य व्याप्त्यभावात् सिद्धिः।

नाप्यसर्वज्ञत्वं विशेषः कुलालादिषु दृष्टस्तत्र साध्यते, तत्सिद्धावपि विशेषविरुद्धस्य व्याप्त्यभाव एव; न ह्यसर्वविदा कर्त्रा कुलालादिना किञ्चित् कार्यं क्रियते। ननु कुलालादेः सर्ववित्त्वे नेदानीं कश्चिदसर्ववित्, एवमेव—यद् यः करोति स तस्योपादानादिकारणकलापम् प्रयोजनं च जानाति; अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्। सर्वज्ञत्वं च प्रकृतकार्यतन्निमित्तापेक्षम्, अतः कुलालादिर्यथा कर्ता

२० स्वकार्यस्य सर्वं जानात्युपादानादि एवमीश्वरोऽपि सर्वकर्त्ता सर्वस्य कारणप्रयोजनम् विवादविषयस्य सर्वस्योपादानकारणादि च कर्तृत्वादेव जानाति; अतः कथमसावसर्ववित्?

अन्ये त्वाहुः—"क्षेत्रज्ञानां नियतार्थविषयग्रहणं सर्वविदधिष्ठितानाम्, यथा प्रतिनियतशब्दादिविषयग्राहकाणामिन्द्रियाणामनियतविषयसर्वविदधिष्ठितानां जीवच्छरीरे। तथा च इन्द्रियवृत्त्युच्छेदलक्षणं केचिद् मरणमाहुश्चेतनानधिष्ठितानाम्। अस्ति च क्षेत्रज्ञानां प्रतिनियतविषयग्रहणम्

२५ तेनाप्यनियतविषयसर्वविदधिष्ठितेन भाव्यम्। योऽसौ क्षेत्रज्ञाधिष्ठायकोऽनियतविषयः स सर्वविदीश्वरः। नन्वेवं तस्यैव सकलक्षेत्रेष्वधिष्ठायकत्वात् किमन्तर्गडुस्थानीयैः क्षेत्रज्ञैः कृत्यम्? न किञ्चित् प्रमाणसिद्धतां मुक्त्वा। नन्वेवमनिष्ठा—यथेन्द्रियाधिष्ठायकः क्षेत्रज्ञस्तदधिष्ठायकश्चेश्वरः एवमन्योऽपि तदधिष्ठायकोऽस्तु, भवत्वनिष्ठा यदि तत्साधकं प्रमाणं किञ्चिदस्ति; न त्वनिष्ठासाधकं किञ्चित् प्रमाणमुत्पश्यामः तावत एवानुमानसिद्धत्वात्।

३० आगमोऽप्यस्मिन् वस्तुनि विद्यते—तथा च भगवान् व्यासः—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"॥ [भग० गी० अ० १५, श्लो० १६-१७] इति।

३५

तथा श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका उपलभ्यते—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते" [श्वेताश्वत० उ० अ० ३, ३] इत्यादि।

१-न्या नु यथा मा०, वा०। २ अत्र उत्तरपक्षपाठानुरोधेन 'यथा व्यापारस्तथा ईश्वरस्यापि क्षित्यादिकार्ये' इति अधिकं योज्यम्। ३ "नैयायिक' गमाधरो—प्रागुक्तप्रकारेण बुद्ध्यादेर्निषेधे तस्येश्वरस्य अभावेन क्षतिर्न काचित्" भां० मां० टि०। ४ "परः पुन आह—साऽपि भवतु इति" भां० टि०। ५ कारणम्—व०, वा०।

न च स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम्, प्रमाणजनकत्वस्य सद्भावात्। तथाहि—प्रमाजनकत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिजनकत्वेन तच्चेहास्त्येव। प्रवृत्ति-निवृत्ती तु पुरुषस्य सुख-दुःखसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद् भवत इति। अथ विध्यङ्गत्वादमीषां प्रामाण्यं न स्वरूपार्थत्वादिति चेत्, तदसत्; स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात्। तथाहि—स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्वम्, निन्दायास्तु निवर्त्तकत्वमिति। अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहित-प्रतिषिद्धेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्। तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टम् एवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात्, वाक्यस्वरूपताया अविशेषात् विशेषहेतोश्चाभावादिति। तथा, स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "मेध्या आपः, दर्भाः पवित्रम्, अमेध्यमशुचि" इत्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्यङ्गतायामप्यविशेषेण प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रसङ्गः, न चैतदस्ति; मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तत इत्युपलम्भात्। तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपाववोधे सति इष्टे प्रवृत्तिदर्शनात् अनिष्टे च १० निवृत्तेरिति ज्ञायते—स्वरूपार्थानां प्रमाजनकत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अपरिज्ञानाच्च प्रवृत्त्यावतिप्रसङ्गः। अथ स्वरूपार्थानां प्रामाण्ये "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्येवमादीनामपि यथार्थता स्यात्, न, मुख्ये बाधकोपपत्तेः। यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना, तदभावे तु प्रामाण्यमेव। न चेश्वरसद्भावप्रतिपादनेषु किञ्चिदस्ति बाधकमिति स्वरूपे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमित्यागमादपि सिद्धप्रामाण्यात् तदवगमः। ईश्वरस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहण-१५ प्रवृत्तानां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीनामुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सवितृप्रकाशः। यथा तेषां सावित्रं प्रकाशं विना नोपधानाकारग्रहणसामर्थ्यं तथेश्वरं विना क्षेत्रविदां न स्वविषयग्रहणसामर्थ्यमित्यस्ति भगवानीश्वरः सर्ववित्"। [ ]

इतश्चासौ सर्ववित्—ज्ञानस्य सन्निहितसदर्थप्रकाशकत्वं नाम स्वभावः, तस्यान्यथाभावः कुतश्चिद्दोषसद्भावात्। एतत् तावद् रूपं चक्षुराद्याश्रयाणां ज्ञानानाम्। यत् पुनश्चक्षुरनाश्रितं२० न च रागादिमलावृतं तस्य विषयप्रकाशनस्वभावस्य विषयेषु किमिति प्रकाशनसामर्थ्यविघातः यथा दीपादेरपवरकान्तर्गतस्य? ननु रागादेरावरणस्य कथं तत्राभावोऽवगतः तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्? प्रमाणस्याभावे संशयोऽस्तु रागादीनाम् न त्वभावः। विपर्यासकारणा रागादयः, एषां कारणाभावे कथं तत्र भावः? विपर्यासश्चाधर्मनिमित्तः, न च भगवत्यधर्मः, तत्सद्भावे वा इत्थंविधस्यासदादिभिश्चिन्तयितुमप्यशक्यस्य कार्यस्य कथं तस्मादुत्पादः अनेका-२५ दृष्टकल्पनाप्रसङ्गात्? किञ्च, रागादय इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टाः। न च भगवतः कश्चिदिष्टानिष्टसाधनो विषयः, अवाप्तकामत्वात्।

या तु प्रवृत्तिः शरीरादिसर्गे सा कैश्चित् क्रीडार्थमुक्ता, सा चावाप्तप्रयोजनानामेव भवति नत्वन्येषाम्। अतो यदुक्तं वार्त्तिककृता—

"क्रीडा हि रतिमविन्दताम्; न च रत्यर्थी भगवान्, दुःखाभावात्" [न्यायवा० पृ० ४६२] ३० तत् प्रतिक्षिप्तम्। न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्त्तन्ते, तस्मात् क्रीडार्था प्रवृत्तिः।

अन्ये मन्यन्ते—"कारुण्याद् भगवतः प्रवृत्तिः। नन्वेवं केवलः सुखरूपः प्राणिसर्गोऽस्तु, नैवम्; निरपेक्षस्य कर्तृत्वेऽयं दोषः, सापेक्षत्वे तु कथमेकरूपः सर्गः? यस्य यथाविधः कर्माशयः पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफलोपभोगाय तत्साधनान् शरीरादींस्तथाविधांस्तत्सापेक्षः सृजति" [ ] इति। "न चेश्वरत्वव्याघातः सापेक्षत्वेऽपि, यथा सवितृप्र-३५ काशस्य स्फटिकाद्यपेक्षस्य, यथा वा करणाधिष्ठायकस्य क्षेत्रज्ञस्य, सापेक्षत्वेऽपि तेषु तस्येश्वरता तद्वत्रापि (तद्वदत्रापि) नेश्वरताविघं (विघ्नं) घातः" [ ] इति केचित्।

अन्ये मन्यन्ते—"यथा प्रभुः सेवाभेदानुरोधेन फलभेदप्रदो नाप्रभुस्तथेश्वरोऽपि कर्माशयापेक्षः फलं जनयतीति 'अनीश्वरः' इति न युज्यते वक्तुम्" [ ]

भाष्यकार: कारुण्यप्रेरितस्य प्रवृत्तिमाह। तन्निमित्तायामपि प्रवृत्तौ न वार्त्तिककारीयं४०

---

१ प्रमाणजन-भा०, बा० विना। २—प्रविदो न भा०, का०, गु०। ३ तस्येश्वरताऽविघात इति केवि०। तस्येश्वरताविघात इति के-सर्वत्र अन्यत्र। तस्य नेश्वरत्वविघात इति के-भा० म०। ४ भा०, बा० विना नास्त्यम। ५ अत्र न्यायद० अ० ४, आ० १, सू० २१ सवन्धि भाष्यं द्रष्टव्यम्।

दूषणम्—"संसृजेत् शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः" [श्लो० वा० सू० ५, संबन्धा० श्लो० ५२]
इत्येवमादि, यतः कर्माशयानां कुशलाऽकुशलरूपाणां फलोपभोगं विना न क्षय इति भगवान-
वगच्छंस्तदुपभोगाय प्राणिसर्गं करोति। उपभोगः कर्मफलस्य शरीरादिकृतः, कस्यचित्तु अशुभस्य
कर्मणः प्रायश्चित्ताद् अक्षयः। तत्रापि स्वल्पेन दुःखोपभोगेन दीर्घकालदुःखप्रदं कर्म क्षीयते,
५ न तु फलमदत्त्वा कर्मक्षयः। येषामपि मतं सम्यग्ज्ञानाद् विपर्यासनिवृत्तौ तज्जन्यक्लेशक्षये
कर्माशयानां सद्भावेऽपि सहकार्यभावान्न शरीराद्याक्षेपकता, तत्रापि कुशलं कर्म समाधि-
धाऽन्तरेण न तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः; तयोस्तु संचये प्रवृत्तस्य यम—नियमानुष्ठानेऽनेकविधदुः-
खोत्पत्तिः, अतः कथं केवलसुखिरूपः प्राणिसर्गः? नारक—तिर्यगादिसर्गोऽपि अकृतप्रायश्चि-
त्तानां तत्रत्यदुःखानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तावभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दुःखिप्राणिसृष्टावपि
१० करुणया प्रवर्त्तनम्। तन्नासर्वज्ञत्वं विशेषः।

नापि कृत्रिमज्ञानसंबन्धित्वम्, तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाभावात्। यद् ज्ञानमनित्यं तत्
शरीरादिसापेक्षं प्रत्यर्थनियतम् तज्ज्ञानस्य तु शरीराद्यभावे कुतः प्रत्यर्थनियतता? भवतु
तज्ज्ञानं प्रतिनियतविषयम् न तस्य प्रतिनियतविषयत्वेऽस्माकं पक्षक्षतिः। कथं न क्षतिः?
तस्य तथाविधत्वे युगपत् स्थावरानुत्पादप्रसङ्गः, तदनुत्पादे च कर्तृत्वासिद्धिः, तत्-
१५ सिद्धौ कस्य कृत्रिमज्ञानसंबन्धिताविशेषः? अथ युगपत्कार्यान्यथानुपपत्त्या प्रत्यर्थनियता-
मनेकां बुद्धिमीश्वरे प्रतिपद्येत तत्रापि सन्तानेन वा तथाभूता बुद्धयः, युगपद्वा भवेयुः?
प्राच्ये विकल्पे पुनरपि युगपत्कार्यानुत्पादप्रसङ्गः। युगपदुत्पत्तौ वा बुद्धीनां शरीरा-
दियोगस्तस्यैषितव्यः, स च पूर्वं प्रतिक्षिप्तः। अथ कार्यस्य बहुत्व-महत्त्वाभ्यां बहवो बुद्धिमन्तः
कर्त्तारो भवन्तु, न त्वेकः सर्वज्ञः सर्वशक्तियुक्तः; नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ईश्वरानेकत्वप्रसङ्गः,
२० भवतु, को दोषः? व्याहतकामानां स्वतन्त्राणामेकस्मिन्नर्थेऽप्रवृत्तिः। अथ तन्मध्येऽन्येषामेका-
यत्तता तदा स एवेश्वरः, अन्ये पुनस्तदधीना अनीश्वराः। अथ स्थपत्यादीनां महाप्रासादादि-
करणे यथैकमत्यं तद्वदत्रापि, नैतदेवम्; तत्र कस्यचिदभिप्रायेण नियमितानामैकमत्यम्, न
त्वत्र बहूनां नियामकः कश्चिदस्ति। सद्भावे वा स एवेश्वरः। एवं यस्य यस्य विशेषस्य साधनाय
वा निराकृतये वा प्रमाणमुच्यते तस्य तस्य पूर्वोक्तेन न्यायेन निराकरणं कर्त्तव्यम्। तन्न
२५ विशेषविरुद्धता ईश्वरसाधकस्य।

प्रसङ्ग-विपर्ययोरप्यनुत्पत्तिः। प्रसङ्गस्य व्याप्त्यभावात्, तन्मूलत्वात् तद्विपर्ययस्य, तथे-
ष्टविघातकृतश्च। यच्च नित्यत्वादकर्तृकत्वमुच्यते शाक्यैस्तदपि क्षणभङ्गभङ्गे प्रतिक्षिप्तम्। यदपि
व्यापारं विना न कर्तृत्वं तदपि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्योक्तत्वान्निरस्तम्।

वार्त्तिककारेणापरं प्रमाणद्वयमुपन्यस्तं तत्सिद्धये—
३० "महाभूतादिव्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुख-दुःखनिमित्तम्, रूपादिमत्त्वात्, तुर्यादिवत्।
तथा, पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्त्तन्ते,
अनित्यत्वात्, वास्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४६७] इति।

अविद्धकर्णस्तु तत्सिद्धये इदं प्रमाणद्वयमाह—
"द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, स्वारम्भकावयवसन्निवे-
३५ शविशिष्टत्वात्, घटादिवत्, वैधर्म्येण परमाणवः" [ ] इति। तत्र द्वाभ्यां दर्शन-
स्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं महद्-नेकद्रव्यवत्त्व-रूपाद्युपलब्धिकारणोपेतं पृथिव्युदकज्वलनसंज्ञकं
त्रिविधं द्रव्यं द्वीन्द्रियग्राह्यम्। अग्राह्यं वाय्वादि, यस्माद् महत्त्वमनेकद्रव्यवत्त्वं रूपसमवाया-
दिश्चोपलब्धिकारणमिष्यते, तच्च वाय्वादौ नास्ति। यथोक्तम्—

"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशेषिकद० अ० ४-१-६]
४० "रूपसंस्काराभावाद् वायावनुपलब्धिः" [वैशेषिकद० अ० ४-१-७] रूपसंस्कारो रूप-
समवायः, द्व्यणुकादीनां त्वनुपलब्धिरमहत्त्वादिति। अन्ये तु "वायोरपि स्पर्शनेन्द्रिय

१ पृ० ५० पं० २। २–घातकृतश्च भां०। ३–णभङ्गे प्र–मां०, गु०, मा०। ४ अत्र दर्शीयम् अविद्धकर्णोक्तं प्रमाणद्वयं तत्त्वसंग्रहेऽपि (पृ० ४१ श्लो० ४७–४८) ईश्वरपरीक्षाप्रकरणे समालोचितम्। ५–माणमिम–भां०।

प्रत्यक्षग्राह्यत्वम्" इच्छन्ति । द्वीन्द्रियग्राह्यत्वापेक्षया तु रूपसमवायाभावादनुपलब्धिरित्युक्तम्[1]। तत्र सामान्येन द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधने सिद्धसाध्यतादोषः, घटादिषु उभयसिद्धेर्विवादाभावात्; अभ्युपेतबाधा च, अण्वाकाशादीनां तथाऽनभ्युपगमात्, तेषां च नित्यत्वात् प्रत्यक्षादिबाधा । अतस्तदर्थं विमत्यधिकरणभावापन्नग्रहणम् । विविधा मतिर्विमति-र्विप्रतिपत्तिरिति यावत्, तस्या अधिकरणभावापन्नं विवादास्पदीभूतमित्यर्थः। एवं च सति शरीरेन्द्रियभुवनादय एवात्र पक्षीकृता इति नाण्वादिप्रसङ्गः । कारणमात्रपूर्वकत्वेऽपि साध्ये सिद्धसाध्यता मा भूदिति बुद्धिमत्कारणग्रहणम् । साङ्ख्यं प्रति मतुबर्थानुपपत्तेर्न सिद्धसाध्यता अव्यतिरिक्ता हि बुद्धिः प्रधानात् साङ्ख्यैरुच्यते, न च तेनैव तदेव तद्वद् भवति । स्वार-म्भकाणामवयवानां सन्निवेशः-प्रचयात्मकः संयोगः-तेन विशिष्टं व्यवच्छिन्नं तद्भावस्तस्मात् । अवयवसन्निवेशविशिष्टत्वं गोत्वादिभिर्व्यभिचारीत्यतः स्वारम्भकग्रहणम् । गोत्वादीनि तु द्रव्यार-म्भकावयवसन्निवेशेन विशिष्यन्ते न तु स्वारम्भकावयवसन्निवेशेनेति । तेन योऽसौ बुद्धिमान् स ईश्वर इत्येकम् । द्वितीयं तु तनु-भुवन-करणोपादानानि [2]चेतनाचेतनानि चेतनाधिष्ठितानि स्वका-र्यमारभन्त इति प्रतिजानीमहे, रूपादिमत्त्वात्, यद् यद् रूपादिमत् तत् तत् चेतनाधिष्ठितं स्वका-र्यमारभते, यथा तन्त्वादि, रूपादिमच्च तनु-भुवन-करणादिकारणम्, तस्माच्चेतनाधिष्ठितं स्वका-र्यमारभते । योऽसौ चेतनस्तनु-भुवन-करणोपादानादेरधिष्ठाता स भगवानीश्वर इति ।

उद्द्योतकरस्तु प्रमाणयति—

"भुवनहेतवः प्रधान-परमाण्व-दृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयबुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते; स्थित्वा प्रवृत्तेः, तन्तु-तुर्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४५७] इति ।

प्रशस्तमतिस्त्वाह—

"सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः, उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात्, अप्र-सिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वकः" [ ] इति । प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादिति प्रबुद्धानां सतां प्रत्यर्थं नियतत्वादित्यर्थः । यदुपदेशपूर्वकश्च स सर्गादौ व्यवहारः स ईश्वरः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानातिशय इति सिद्धम् ।

तथाऽपराण्यपि उद्द्योतकरेण तत्सिद्धये साधनान्युपन्यस्तानि-

"बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिकं व्यक्तं सुख-दुःखनिमित्तं भवति, अचेतनत्वात्, कार्य-त्वात्, विनाशित्वात्, रूपादिमत्त्वात्, वास्यादिवत्" [न्यायवा० पृ० ४५९] इति ।

अथ भवत्वस्माद्धेतुकदम्बकादीश्वरस्य सर्वजगद्धेतुत्वसिद्धिः सर्वज्ञत्वं तु कथं तस्य सिद्धम् येनासौ निःश्रेयसाभ्युदयकामानां भक्तिविषयतां यायात्? जगत्कर्तृत्वसिद्धेरेवेति ब्रूमः । तथा चाहुः प्रशस्तमतिप्रभृतयः-

"कर्तुः कार्योपादानो-पकरण-प्रयोजन-संप्रदानपरिज्ञानात्" [ ] इह हि यो यस्य कर्ता भवति स तस्योपादानादीनि जानीते, यथा कुलालः कुण्डादीनां कर्ता, तदुपादानं मृत्पिण्डम्, उप-करणानि चक्रादीनि, प्रयोजनमुदकाहरणादि, कुटुम्बिनं च संप्रदानं जानीत इत्येतत् सिद्धम्; तथे-श्वरः सकलभुवनानां कर्ता, स तदुपादानानि परमाण्वादिलक्षणानि, तदुपकरणानि [4]धर्म-दिक्-कालादीनि, व्यवहारोपकरणानि सामान्य-विशेष-समवायलक्षणानि, प्रयोजनमुपभोगम्, संप्रदान-संज्ञकांश्च पुरुषान् जानीत इति; अतः सिद्धमस्य सर्वज्ञत्वमिति । अत एव नात्रैतत् प्रेरणीयम्— [5]सर्वज्ञपूर्वकत्वे क्षित्यादीनां साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, हेतुश्च विरुद्धः, असर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वेन कुम्भादेः कार्यस्य व्याप्तिदर्शनात्, किञ्चिज्ज्ञपूर्वकत्वे साध्येऽभ्युपेतबाधा, कारणमात्रपूर्वकत्वे साध्ये कर्मणा सिद्धसाधनमिति, यतः सामान्येन स्वकार्योपादानो-पकरण-संप्रदानाभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं साध्यते तत्र चास्त्येव घटादिदृष्टान्तः । तस्य ह्युपादानो-पकरणाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकत्वं सकललोक-

---

१ पृ० १०० पं० १८ । २ चेतनानि चे-बा०, वा०, मु०, हा० । वि० प्रतौ तु 'चेतनाचेतनानि' इति पाठः रामपि छिन्नः । प्रमेयकमलमार्तण्डे तु अत्र स्थले "तनु-करण-भुवनोपादानानि चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते"—पृ० ७५ प्रथ० पं० ४ । ३-पु च प्रत्य-भां०, बा०, वा०, मां० विना । ४ धर्माऽधर्म-दिक्-मु० । ५-ज्ञपूर्वक-पां०, मु० ।

प्रसिद्धं कथमन्यथाकर्तुं शक्यते अपह्नोतुं वा ? न तु कर्मणा सिद्धसाध्यता, तस्य सकलजगल्लक्षणकार्योपादानाद्यनभिज्ञत्वात्; तदभिज्ञत्वे वा तस्यैव भगवतः 'कर्म' इति नामान्तरं कृतं स्यात्। शेषं त्वत्र चिन्तितमेव। तदेवं सकलदोषरहितादुक्तहेतुकलापाद् ज्ञानाद्यतिशयवद्गुणयुक्तस्य सिद्धेः तस्य च शासनप्रणेतृत्वं नान्येषां योगिनामिति 'भवजिनानां शासनम्'इति अयुक्तमुक्तमिति स्थितम्
५इति पूर्वपक्षः॥

[उत्तरपक्षः—जगतः ईश्वरकृतत्वनिराकरणम्]

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावदुक्तम्–'सामान्यतोदृष्टानुमानस्य तत्र व्यापाराभ्युपगमात् प्रत्यक्षपूर्वकानुमाननिषेधे सिद्धसाधनम्' इति, तदसङ्गतम्; सामान्यतोदृष्टानुमानस्यापि तत्साधकत्वेनाप्रवृत्तेः। तथाहि-तनु-भुवन-करणादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, घटादिवद्
१० इत्यत्र धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धस्तावत् कार्यत्वलक्षणो हेतुः।

[तथाहि-अवयविरूपं तावत् तन्वादि अवभासमानतनु न युक्तम्; देशादिभिन्नस्य तन्वादेः स्थूलस्यैकस्यानुपपत्तेः। न ह्यनेकदेशादिगतमेकं भवितुं युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदलक्षणत्वात्–देशादिभेदस्य च विरुद्धधर्मरूपत्वात्। तथाप्यभेदे सर्वत्र भिन्नत्वेनाभ्युपगते घट-पटादावपि भेदोपरतिप्रसङ्गात्; नहि भिन्नत्वेनाभ्युपगते तत्राप्यन्यद् भेदनिबन्धनमुत्पश्यामः। प्रतिभासभेदात्
१५तत्र भेद इति चेत्, न; विरुद्धधर्माध्यासं भेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदानुपपत्तेः।

अथ 'अवयवी एको न भवति, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्' इत्येतत् किं स्वतन्त्रसाधनम्, उत प्रसङ्गसाधनमिति? न तावत् स्वतन्त्रसाधनं युक्तम्, अवयविनः प्रमाणासिद्धत्वेन हेतोराश्रयासिद्धत्वदोषात्; प्रमाणसिद्धत्वे वा तत्प्रतिपादकप्रमाणबाधितपक्षनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन तस्य कालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टत्वात्। न च परस्यावयवी सिद्ध इति नाश्रयासिद्धत्वदोष इति वक्तुं
२०युक्तम्, यतः परस्य किं प्रमाणतोऽसौ सिद्धः, उताप्रमाणतः? प्रमाणतश्चेत् तर्हि भवतोऽपि किं न सिद्धः प्रमाणसिद्धस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्? तथा च तदेव कालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः। अथाऽप्रमाणतस्तदा न परस्यापि सिद्ध इति पुनरप्याश्रयासिद्धत्वम्। तन्न प्रथमः पक्षः। नाऽपि द्वितीयः, यतः व्याप्याभ्युपगमो यत्र व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यते तत् प्रसङ्गसाधनम्। न च परस्य भेद–विरुद्धधर्माध्यासयोर्व्याप्यव्यापकभावः सिद्धः, देशादिभेदलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि
२५ रूप-रसयोर्भेदाभ्युपगमात्। तद्भावेऽपि सामान्यादावभेदस्य प्रमाणसिद्धत्वादिति न वक्तव्यम्।

यतः प्रथमः पक्षस्तावद् अनभ्युपगमादेव निरस्तः। प्रसङ्गसाधनपक्षे तु यद् दूषणमभिहितम्–'देशभेदलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूप-रसयोर्भेदः' इति, तद् व्याप्यव्यापकभावापरिज्ञानं सूचयति न पुनर्व्याप्यव्यापकभावाभावम्, यतो देशभेदे सति यद्यभेदः क्वचित् सिद्धः स्यात् तदा व्यापकाभावेऽपि विरुद्धधर्माध्यासस्य भावान्न तस्य तेन व्याप्तिः स्यात्; यदा तु देशाभेदेऽपि रूप-
३०रसयोर्भेदस्तदा देशभेदो भेदव्यापको न स्यात्। न पुनरेतावता भेदो विरुद्धधर्माध्यासव्यापको न स्यात्। यदि हि भेदव्यावृत्तावपि देशादिभेदो न व्यावर्तेत तदा व्यापकव्यावृत्तावपि व्याप्यस्याव्यावृत्तेर्न भेदेन देशादिविरुद्धधर्माध्यासो व्याप्येत, न चैतत् क्वचिदपि सिद्धम्। यत् तु 'सामान्यादावभेदस्य प्रमाणतः सिद्धेर्भेदव्यावृत्तावपि न देशादिभेदलक्षणस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य निवृत्तिः' इति, तदयुक्तम्; सामान्यादेः प्रमाणतोऽभिन्नरूपस्यासिद्धेः। उक्तं च—
३५"यदि विरुद्धधर्माध्यासः पदार्थानां भेदको न स्यात् तदाऽन्यस्य तद्भेदकस्याभावाद् विश्वमेकं स्यात्" [ ] प्रतिभासभेदस्यापि तमन्तरेण भेदव्यवस्थापकस्याभावादिति व्याप्यव्यापकभावसिद्धेः कथं न प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः ?

अथैकत्वप्रतिभासाद् देशादिभेदेऽपि तन्वादेरेकता, न; देशभेदेन व्यवस्थितानामवयवानां प्रतिभासभेदेन भेदात्, न ह्येकरूपा भागा भासन्ते, पिण्डस्याणुमात्रताऽऽपत्तेः; तद्व्यतिरिक्तस्य
४०चापरस्य तन्वाद्यवयविनो द्रव्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। न च तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तता परैर्नाभ्युपगम्यते।

१ पृ० ९९ पं० २०। २ पृ० ९३ पं० २५। ३ प्र० पृ० प० २४। ४ 'विरुद्धधर्माध्यास' मां० टि०। ५ "भेदेन" मां० टि०। ६ प्र० पृ० पं० २५।

"महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः" [वैशेषिकद० अ० ४-१-६]

इति वचनात् । तत् सिद्धमनुपलब्धेः 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इति विशेषणम् । न च मध्यो-र्ध्वादि-भागव्यतिरिक्तचतुर्बहिर्ग्राह्याकारतां बिभ्राणस्तन्त्वादिद्रव्यात्मा दर्शने चकास्तीत्यनुपलब्धिरपि सिद्धा । न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यः पृथगनुपलक्षणमिति वक्तुं शक्यम्, समानदे-शत्वादिति विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-समानदेशत्वमवयवाऽवयविनोः किं पारिभाषिकम्, ५ लौकिकं वा? यदि पारिभाषिकम्, तदनुद्धोष्यम्; परिभाषाया अत्रानधिकारात् । न च तत् तत्र भवदभिप्रायेण सिद्धम् । तथाहि-अन्य एव पाण्यादय आरम्भका देशास्तन्त्वाद्यवयविनो भवद्भिः परिभाष्यन्ते, अन्ये च पाण्यादीनां तदवयवानामारम्भका देशाः, आरभ्यारम्भकवादनिषेधात् । तत्र पारिभाषिकं समानदेशत्वम् । नापि लौकिकम्, आकाशस्य लोकप्रसिद्धस्य समानदेशस्यासान् प्रति असिद्धत्वात् । प्रकाशादिरूपस्य च देशस्य तत्सिद्धस्य समानत्वेऽपि भिन्नानां वाताऽऽतपा-१० दीनां भेदेनोपलब्धेः । तथाहि-समानदेशा अपि भावा वाताऽऽतपादयो भिन्नतनवः पृथक् प्रथन्ते; न चैवमवयविनिर्भासः । तन्नावयवी तन्त्वादिभिन्नोऽस्ति ।

अथ मन्दमन्दप्रकाशे अवयवप्रतिभासमन्तरेणाप्यवयविनि प्रतिभास उपलभ्यते तत् कथं प्रतिभासाभावात् तस्याभावः? असदेतत्; नहि तथाभूतोऽस्पष्टप्रतिभासोऽवयविस्वरूपव्यव-स्थापको युक्तः, तत्प्रतिभासस्यास्पष्टरूपस्य स्पष्टज्ञानावभासितत्स्वरूपेण विरोधात् । अथ स्वरूप-१५ द्वयमेतदवयविनः-स्पष्टम् अस्पष्टं च । तत्रास्पष्टं मन्दालोकज्ञानविषयः; स्पष्टं तु सालोकज्ञानभूमिः । नन्वेतत् स्वरूपद्वयं केनावयविनो गृह्यते? न तावद् मन्दालोकज्ञानेन, तत्र सालोकज्ञानविषय-स्पष्टरूपानवभासनात्; अस्पष्टतत्स्वरूपप्रतिभासं हि तदनुभूयते । नापि सालोकज्ञानेन स्पष्टतत्-स्वरूपावभासिना, तत्र मन्दालोकज्ञानावभासिततत्स्वरूपानवभासनात्; नहि परिस्फुटप्रतिभास-वेलायामविशदरूपाकारोऽवयव्यर्थः प्रतिभाति तत् कथमसावचयविनः स्वरूपम्? अथ 'मन्दालो-२० कदृष्टमवयविनः स्वरूपं परिस्फुटमिदानीं पश्यामि' इति तयोरेकता; ननु किमपरिस्फुटरूपतया परिस्फुटं रूपमवगम्यते, आहोस्वित् परिस्फुटतयाऽपरिस्फुटम्? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदाऽपरिस्फुट-रूपसंबन्धित्वमेवावयविनः प्राप्नोति, परिस्फुटस्य रूपस्यास्फुटरूपताऽनुप्रवेशेन प्रतिभासनात् । अथ द्वितीयः पक्षः, तथासति स्पष्टस्वरूपसंबन्धित्वमेव, अस्पष्टस्य विशदस्वरूपानुप्रविष्टत्वेन प्रतिभासनात् । तन्न स्वरूपद्वयावगमोऽवयविनः । एकत्वप्रतिभासनं तु प्रतिभासरहितमभिमानमात्रं २५ स्पष्टास्पष्टरूपयोः; अन्यथा सालोकज्ञानवद् मन्दालोकज्ञानमपि परिस्फुटप्रतिभासं स्यात् । अथाऽऽ-लोकभावाभावकृतस्तत्र स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदः; नन्वालोकेनाप्यवयविस्वरूपमेवोद्भासनीयम्, तच्चेद् अविकलं मन्दालोके प्रतिभाति कथं न तत्र तदवभासकृतः स्पष्टावभासः? अन्यथा विषया-वभासव्यतिरेकेणापि ज्ञानप्रतिभासभेदे न ज्ञानावभासभेदो रूप-रसयोरपि भेदव्यवस्थापकः स्यात् । अथावयविस्वरूपमेकमेवोभयत्र प्रतीयते, व्यक्ताऽव्यक्ताकारौ तु ज्ञानस्यात्मानाविरुच्येत-३० तदप्यसत्; यतो यदि ज्ञानाकारौ तौ कथमवयविरूपतया प्रतिभातः? तद्रूपतया च प्रतिभासना-दवयव्याकारौ तावभ्युपगन्तव्यौ । नहि व्यक्तरूपताम् अव्यक्तरूपतां च मुक्त्वा अवयविस्वरूपमपर-माभाति । तद् तस्यानवभासादभाव एव । व्यक्ताऽव्यक्तैकात्मनश्चावयविनो व्यक्ताऽव्यक्ताकारवद् भेदः । नहि प्रतिभासभेदेऽप्येकता, अतिप्रसङ्गात् । तन्न अस्पष्टप्रतिभासमन्धकारेऽवयविनो रूपम-वयवाप्रतिभासेऽपि प्रतिभातीति वक्तुं युक्तम्, उक्तदोषप्रसङ्गात् । ३५

किंच, किं कतिपयावयवप्रतिभासे सति अवयवी प्रतिभातीत्यभ्युपगम्यते, आहोस्वित् सम-स्तावयवप्रतिभासे? यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; जलमग्नमहाकायस्तम्भादेरुपरितनकतिपयावयव-प्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिनः स्तम्भाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात् । अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽपि न युक्तः; मध्य-परभागवर्त्तिसमस्तावयवप्रतिभासासंभवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसङ्गात् । अथ भूयोऽवयवग्रहणे सति अवयवी गृह्यत इत्यभ्युपगमः, सोऽपि न युक्तः; यतोऽर्वाग्भागभाव्यवयव-४० मात्रिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणाद् न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या; व्याप्याग्रहणे तेन तद्व्यापकत्वस्यापि ग्रहीतुमशक्तेः; ग्रहणे वाऽतिप्रसङ्गः । तथाहि—यद् येन रूपेण अवभाति

१ या कां० । २-भासिततस्व-भा० ।

तत् तेनैव रूपेण सदिति व्यवहारविषयः—यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तेनैव रूपेण तद्विषयः, अर्वाग्भागभाव्यवयवसंबन्धितया चाऽवयवी प्रतिभातीति स्वभावहेतुः। न च परभागभाविव्यवहितावयवाऽप्रतिभासनेऽप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीति वक्तुं शक्यम्, तदप्रतिभासने तद्गतत्वेनाप्रतिभासनात्। यस्मिंश्च प्रतिभासमाने यद् रूपं न प्रतिभाति, तत् ततो भिन्नम्—यथा ५ घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानं पटस्वरूपम्। न प्रतिभाति च अर्वाग्भागभाव्यवयवसंबन्ध्यवयविस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसंबन्ध्यवयविस्वरूपम् इति कथं न तत् ततो भिन्नम्? तथाऽप्यभेदेऽतिप्रसङ्गः प्रतिपादितः। नापि परभागभाव्यवयवाऽवयविग्राहिणा प्रत्यक्षेण अर्वाग्भागभाव्यवयवसंबन्धित्वं तस्य गृह्यते, तत्र तदवयवानां प्रतिभासात् तत्संबन्ध्येवावयविस्वरूपं प्रतिभासेत नार्वाग्भागभाव्यवयवसंबन्धि, तेषां तत्राप्रतिभासनात्। तदप्रतिभासने च तत्संब-१० न्धिरूपस्याप्यप्रतिभासनात्, व्याप्याप्रतिपत्तौ तद्व्यापकत्वस्याप्यप्रतिपत्तेः। नापि स्मरणेन अर्वाक्-परभागभाव्यवयवसंबन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः, प्रत्यक्षानुसारेण स्मरणस्य प्रवृत्त्युपपत्तेः; प्रत्यक्षस्य च तद्ग्राहकत्वनिषेधात्। नाप्यात्मा अर्वाक्-परभागावयवव्यापित्वमवयविनो ग्रहीतुं समर्थः—सत्तामात्रेण तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्तेः; अन्यथा स्वाप-मद-मूर्च्छाद्यवस्थास्वपि तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्—किन्तु दर्शनसहायः; तच्च दर्शनं न अवयविनोऽवयवव्याप्तिग्राहकं प्रत्यक्षादिकं संभवतीति प्रतिपा-१५ दितम्। अथार्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकालं परभागदर्शनेऽनन्तरस्मरणसहकारीन्द्रियजनितं 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविनः पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्, तदयुक्तम्; प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैतद्विषयस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अक्षानुसारि हि प्रत्यक्षम्, न चाक्षाणामर्वाक्-परभागभाव्यवयवग्रहणे व्यापारः संभवति, व्यवहिते तेषां व्यापारासंभवात्; संभवे वाऽतिव्यवहितेऽपि मेरुपृष्ठादौ व्यापारः स्यात्। तच्च तदनुसारिणोऽध्यक्षरूपस्य प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य तत्र व्यापारः। न च २० स्मरणसहायस्यापीन्द्रियस्याविषये व्यापारः संभवति, यद् यस्याऽविषयः न तत् तत्र स्मरणसहायमपि प्रवर्त्तते—यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धादौ, अविषयश्च व्यवहितोऽक्षाणां परभागभाव्यवयवसंबन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति नाक्षजस्य प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यावयविस्वरूपग्राहकत्वम्। न च 'स एवायम्' इति प्रतीतिरेका, 'सः' इति स्मृतेः रूपम्, 'अयम्' इति तु दृशः स्वरूपम्। तत् परोक्षाऽपरोक्षाकारत्वाद् नैकस्वभावावेतौ प्रत्ययौ। अथ 'स एवायम्' इत्येकमपि २५ करणतया एतौ प्रतिभात इति एकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानम्, न; आकारभेदे सति दर्शन-स्मरणयोरिव सामानाधिकरण्याध्यवसायेऽप्येकत्वानुपपत्तेः। अन्यत्राप्याकारभेद एव भेदः, स चात्रापि विद्यत इति कथमेकत्वम्? किञ्च, 'सः' इत्याकारः 'अयम्' इत्याकारानुप्रवेशेन प्रतिभाति, आहोस्विद् अननुप्रवेशेनेति? यदि अनुप्रवेशेन, 'सः' इत्याकारस्य 'अयम्' इत्याकारे अनुप्रविष्टत्वादभाव इति 'अयम्' इत्याकार एव केवलः भात इति कुत. 'सोऽयम्' इत्येका प्रत्यभिज्ञा? अथ 'अयम्' इत्याकारः ३० 'स.' इत्येतस्मिन्ननुप्रविष्टस्तदा 'सः' इत्येव भासो न 'अयम्' इत्यपि इति कथमेका प्रत्यभिज्ञा? अथ 'स एव' 'अयम्' इत्याकारौ परस्परानवनुप्रविष्टौ प्रतिभातस्तथापि भिन्नाकारौ भिन्नविषयौ च द्वौ प्रत्ययाविति कथमेकार्था एका प्रत्यभिज्ञा प्रतिभासभेदस्य विषयभेदव्यवस्थापकत्वात्? न च प्रतिभासभेदेऽपि विषयाभेदः, प्रतिभासाभेदव्यतिरेकेण विषयाभेदव्यवस्थायां प्रमाणं विना प्रमेयाभ्युपगमः स्यात्; तथा च सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। तन्न प्रत्यभिज्ञातोऽप्यवयव्येकत्वग्रहः। अनुमानस्य च ३५ अवयविस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षनिषेधे तत्पूर्वकस्य निषेधः कृत एव। सामान्यतोदृष्टस्य चावयविप्रतिषेधप्रस्तावे निषेधो विधास्यत इत्यास्तां तावत्।

अथ 'एको घटः' इति द्रव्यप्रतीतिरस्ति तदवयवव्यतिरेकिणी तत् कथमभावोऽवयविनः? न; घटाद्यवसायेऽपि तदवयवाध्यवसायः नामोल्लेखश्चाध्यवसीयते नावयवि द्रव्यम्, वर्णाद्यक्षराकारशून्यस्य तद्रूपस्य केनचिदप्यननुभवात्। वर्णाद्यत्यक्षराकारशून्यं चावयविस्वरूपमभ्युपगम्यते। न च ४० तेन रूपेण कल्पनाज्ञानेऽपि तत् प्रतिभाति, न चान्याकारः प्रतिभासोऽन्याकारस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थापकः; अन्यथा नीलप्रतिभासः पीतस्य व्यवस्थापकः स्यादिति न वस्तुव्यवस्था स्यात्।

---

१ –स्याप्रति–कां०, मु०। २ पृ० १०३ पं० ४१। ३ पृ० १०३ पं० ४१। ४–सारि हि तत्र प्रत्य –कां०, मु०, डा०। ५–नम् आका–भा०, वा० विना।

तस्माद् न कल्पनोल्लिख्यमानवपुरप्यवयवी बहिरस्ति, केवलमनादिरयमेकव्यवहारो मिथ्यार्थः । न च व्यवहारमात्राद् बहिरेकं वस्तु सिध्यति, 'नीलादीनां स्वभावः' इत्यत्रापि व्यवहाराभेदादेकताप्राप्तेः स्वभावस्य । अथ तत्र प्रतिनीलादिस्वभावं दर्शनभेदादेकत्वं बाध्यते, इहापि तर्हि बहीरूपस्योर्ध्वाऽधो-मध्यादिनिर्भासस्य भेदादेकता तन्वादीनां प्रतिदलतु । तन्नावयविरूपो बाह्योऽर्थोऽस्ति ।

अथावयविनोऽभावे तदवयवानामपि पाण्यादीनां दिग्भेदादिविरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः, तदवयवानामप्यङ्गुल्यादीनां तत एव भेदात् तावद् भेदो यावत् परमाणवः, तेषां च स्थूलप्रतिभासविषयत्वानुपपत्तिः । स्थूलतनुश्च बहिर्नीलादिरूपः प्रतिभासः स्फुटमुद्भाति । न च स्थूलरूपं प्रत्येकं परमाणुषु संभवति, तथात्वे परमाणुत्वायोगात् । नापि समुदितेषु स्थूलरूपसंभवः, समुदितावस्थायामप्यणूनां स्वरूपेण सूक्ष्मत्वात् । न च तद्व्यतिरिक्तः समुदायोऽस्ति, तथात्वे द्रव्यवादप्रसङ्गात्; तत्र चोक्तो दोषः । तन्न स्थूलता परमाणुषु कथञ्चिदपि संभवति । न चान्यादृग् निर्भासोऽन्यादृक्षस्यार्थस्य प्रकाशकः, नीलदर्शनस्यापि पीतव्यवस्थापकत्वापत्तेः; तथा च नियतविषयव्यवस्थोच्छेदः । किञ्च, परमाणोरपि नानादिक्संबन्धादेकता नोपपद्यैव । तथा चाह–

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" [ ] इति ।

पुनस्तदंशानामपि नानादिक्संबन्धात् सांशताऽऽपत्तिः, तथा चानवस्था । तस्मान्न परमाणूनामपि सत्त्वम् इत्यवयव्यग्रहणे सर्वाग्रहणप्रसङ्ग इति प्रतिभासाभावापत्तेर्न प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः ।

असदेतत् ।

अवयव्यभावेऽपि निरन्तरोत्पन्नानां घटाद्याकारेण परमाणूनां सद्भावात् तद्ग्राहकाणामपि ज्ञानपरमाणूनां तथोत्पन्नानां तद्ग्राहकत्वाद् न बहिरर्थाभावः, नापि तत्प्रतिभासाभाव इति कथं प्रसङ्गसाधनस्य नावकाशः स्थूलैकरूपावयव्यभावेऽपि? यदि चावयविनोऽभावे परमाणूनामप्यभावप्रसक्तेः प्रतिभासाभावेन प्रसङ्गसाधनानवकाशः प्रतिपाद्येत तदा सुतरां परमाणुरूपस्य ज्ञानरूपस्य चार्थस्याभावे कार्यत्वादिलक्षणस्य हेतोराश्रयासिद्धतादोषः ।

बाह्यार्थनयेन चास्माभिराश्रयासिद्धतादोषात् कार्यत्वलक्षणाद्धेतोर्नेश्वरसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्, यदि पुनर्विज्ञान-शून्यवादानुकूलं भवताऽप्यनुष्ठीयते तदा साध्य-दृष्टान्तधर्मिसाध्य-साधनधर्मादीनामनुमित्यङ्गभूतानां सर्वेषामप्यसिद्धेः कुत उपन्यस्तप्रयोगादीश्वरसिद्धिः? तदेवं तन्वादिलक्षणस्य कार्यत्वादिहेत्वाश्रयस्यावयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुः । }

{ तथा, 'बुद्धिमत्कारणम्' इति साध्यनिर्देशे 'बुद्धिमत्' इति मतुबर्थस्य साध्यधर्मविशेषणस्यानुपपत्तिः, तज्ज्ञानस्य ततो व्यतिरेके अकार्यत्वे च 'तस्य' इति संबन्धानुपपत्तेः । तद्गुणत्वात् तत् तस्येति चेत्, न; अकार्यत्वे व्यतिरेके च 'तस्यैव तद्गुणो नाकाशादेः' इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः । समवायो व्यवस्थाकारीति चेत्, न; तस्यापि ताभ्यामर्थान्तरत्वे स एव दोषः–व्यतिरेके समवायस्यापि सर्वत्राविशेषान्न ततोऽपि तद्व्यवस्था । अथेश्वरात्मकार्यत्वाद् ईश्वरात्मगुणस्तज्ज्ञानम्, कुत एतत्? तस्मिन् सति भावादिति चेत्, आकाशादावपि सति तस्य भावात् तत्कार्यता किं न स्यात्? अथ तदभावेऽभावात् तत्कार्यत्वम्, तन्न; नित्य-व्यापिताभ्यां तस्य तदयोगात् । तदात्मन्युत्कलितस्य तस्य दर्शनाद् तत्कार्यतेति, किमिदं तस्य तत्रोत्कलितत्वम्? तत्र समवेतत्वं तस्येति चेत्, नन्विदमेव पृष्टं किमिदं समवेतत्वं नाम? तत्र समवायेन वर्त्तनमिति चेत्, ननु किं व्याप्त्या समवायेन तत्र वर्त्तनम्, आहोस्विदव्याप्त्या? यदि व्याप्त्या तदाऽस्मदादिज्ञानवैलक्षण्यं यथा तज्ज्ञानस्यादृष्टस्यापि कल्प्यते तथाऽकृष्टोत्पत्तिषु वने वनस्पत्यादिषु घटादौ कर्म-कर्तृ-करणनिर्वर्त्त्यं कार्यत्वमुपलब्धमपि चेतनकर्तृरहितमपि भविष्यतीति कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे साध्ये स्याद्व्यभिचारीति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायातेति । अथ अव्याप्त्या तत् तत्र वर्तते तदा देशान्तरोत्पत्तिमत्सु तन्वादिषु तस्याऽसंविधानेऽपि यथा व्यापारस्तथाऽदृष्टस्याप्यग्न्यादिदेशेऽप्यसन्निहितस्यापि ऊर्ध्वज्वलनादिविषयो व्यापारो भविष्यतीति ।

"अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्माऽदृष्टकारितम्" [वैशेषिकद० अ० ५-२-१३]

---

१ पृ० १०२ पं० ११ ।
पा० त० १४

इत्यनेन सूत्रेण सर्वगतात्मसाधकहेतुसूचनं यत् कृतं तदसङ्गतं स्यात्, ज्ञानादिविशेषगुणवदृष्ट गुणस्य तत्रासन्निहितस्याप्यग्न्याधूर्द्धज्वलनादिकार्येषु व्यापारसंभवात्। न च सामान्यगुण-विशेषगुणत्वलक्षणोऽपि विशेषो गुण-गुणिनोर्भेदे संभवति। किंच, समवायस्य सर्वत्राविशेषे 'तत्रैव तेन वर्त्तनं नान्यत्र' इति कुतोऽयं विभागः? अथ तत्राऽऽधेयत्वं समवेतत्वं तदा आत्मवद्
५ गगनादेरपि सर्वगतत्वे 'तदात्मन्येव तदाधेयत्वं नान्यत्र' इति दुर्लभोऽयं विभागः। ततस्तज्ज्ञानस्य तदात्मनो व्यतिरेके 'तस्यैव तज्ज्ञानम्' इति संबन्धानुपपत्तिः।

अथ ततस्तज्ज्ञानस्य भेदेऽपि संबन्धस्य समवायरूपस्य भावान्नायं दोषः' असदेतत्; समवायस्यानुपपत्तेः।

[प्रसङ्गवशात् समवायनिरसनम्]

१० तथाहि—किं सतां समवायः, आहोस्विद् असतामिति? तत्र यदि असतामिति पक्षः, स न युक्तः, शशविषाण-व्योमोत्पलादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। अथात्यन्तासत्त्वात् तेषां न तत्प्रसङ्गः, ननु तदात्म-तज्ज्ञानयोरत्यन्तासत्त्वाभावः कुतः? तत्समवायादिति चेद्, इतरेतराश्रयत्वम्—सिद्धे तत्समवाये तयोरत्यन्तासत्त्वाभावः, तदभावाच्च तत्समवाय इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अथ सतां समवायः, ननु तेषां समवायात् प्राक् कुतः सत्त्वम्? यदि अपरसमवायात्, तदसत्, तस्यै-
१५कत्वाभ्युपगमात्। अनेकत्वेऽपि यदि अपरसमवायात् प्राक् तेषां सत्त्वम्, सम(तत्सम)वायादपि प्रागपरसमवायात् तेषां सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था। अथ समवायात् प्राक् तेषां स्वत एव सत्त्वमिति नानवस्था तर्हि समवायव्यतिरेकेणापि सत्त्वाभ्युपगमे व्यर्थं समवायपरिकल्पनमिति 'सत्तासंबन्धात् पदार्थानां सत्ता' इत्युच्यमानं न शोभामावहति।

अथ समवायात् प्राक् पदार्थानां न सत्त्वम् नाप्यसत्त्वम् सत्तासमवायः सत्त्वम्, असदे-
२०तत्; यतो यदि तत्समवायात् प्राक् पदार्था योगिज्ञानमपि न जनयन्ति तदा कथं तेषां नासत्त्वम्? अथ तद् जनयन्ति तदा कथं तेषां न सत्त्वम्? किंच, अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापर-सद्भावनान्तरीयकत्वात् कथमसत्त्वनिषेधे न सत्त्वविधानम्? तद्विधाने वा कथं नासत्त्वनिषेधः? इत्ययुक्तमुक्तमुद्द्योतकरेण—"गोत्वसंबन्धात् प्राग् न गौः, नाप्यगौः, गोत्वयोगाद् गौः" [न्यायवा० पृ० ३१८ पं० २१] इति। अपि च, समवायाद् यदि पदार्थानां सत्त्वम् समवायस्य कुतः सत्त्वमिति
२५वक्तव्यम्। यदि अपरसमवायात्, अनवस्था। अथ स्वत एव समवायस्य सत्त्वम्, पदार्थानामपि तत् स्वत एवास्तु, पुनरपि व्यर्थं सत्तासमवायकल्पनम्। अथ यदि नाम समवायस्य स्वतः सत्त्वमिति रूपम् कथमन्यपदार्थानामपि तदेव रूपमिति सचेतसा वक्तुं युक्तम्? नहि लवणस्य स्वतो लवणत्वे सूपादेरपि तद्व्यतिरेकेण तद् भवति, असदेतत्; यतोऽध्यक्षतः सिद्धे पदार्थस्वभावे युज्येतैतद् वक्तुम्; न च समवायादेः स्वरूपतः सत्त्वम् अन्यपदार्थानां तु तत्सद्भावात् सत्त्वमित्यध्यक्षात् सिद्धम्।

३० अपि च, अयं समवायः किं समवायिनोः परिकल्प्यते, उतासमवायिनोरिति विकल्पद्वयम्। तत्र यद्यसमवायिनोरिति पक्षः, स न युक्तः; घट-पटयोरत्यन्तभिन्नयोस्तत्प्रसङ्गात्। न चासमवायिनोर्भिन्नसमवायेन समवायित्वं तदभिन्नं विधातुं शक्यम्, विरुद्धधर्माध्यासेन ताभ्यां तस्य भेदप्रसङ्गात्। नापि भिन्नम्, तत्करणे तयोः तत्संबन्धित्वानुपपत्तेः। भिन्नस्योपकारमन्तरेण तदयोगात्। उपकारेऽपि तद्भिन्नसमवायित्वकरणे पुनरपि तयोरसमवायित्वम्, अन्योन्योपकारकरणे
३५त्वनवस्था। स्वत एव तु समवायिनोः किं समवायेन तद्धेतुना परिकल्पितेन? अथ समवायेन तयोस्तद्व्यवहारः क्रियते, ननु यदि समवायिनोः स्वरूपं प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरस्तदा तत एव तद्व्यवहारस्यापि सिद्धेर्व्यर्थमेव तदर्थं तत्परिकल्पनम्।

अथ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वात् समवायस्य एवं विकल्पनमयुक्तम्, तदसत्। यदि हि तत्सिद्धत्वं

१-गुणत्व-वि-गु०। २ "गगनादौ" वि० टि०। ३-नुपपत्ते. वा०, बा० विना। ४ न प्रसङ्ग० भा०, मा०, पो०, गु०। ५ समवायादपि तत्सपरपरसमवायात् वा०, बा०। ६ "तत्सम" (सद्भाव) वि० टि०। ७ प्रमेयकमलमार्तण्डे तु "स्वत एव तु समवायिनो समवायिनो किं समवायेन?" इत्यादिपाठः—पृ० १८८ द्वि० पृ० पं० ८।

तस्य स्यात् तदा युक्तमेतत्, न च प्रत्यक्षप्रमाणे तत्स्वरूपावभासः-नहि तदात्मा, ज्ञानम् तत्समवायश्चेति त्रितयमिन्द्रियजाध्यक्षगोचरः, नापि स्वसंवेदनाध्यक्षविषयः, तस्य भवताऽनभ्युपगमात्। नाप्येकार्थसमवेतानन्तरमनोऽध्यक्षविषयः, तस्य प्रागेव निषिद्धत्वात्। न च बाह्येष्वपि घट-रूपादिष्वर्थेषु 'अयं घटः, एते च तत्समवेता रूपादयः, अयं च तदन्तरालवर्त्ती भिन्नः समवायः' इति त्रितयमध्यक्षप्रतीतौ विभिन्नस्वरूपं प्रतिभाति। तत्प्रतिभाने वा द्रव्य-गुण-समवायानामध्यक्षसिद्धत्वाद् विभिन्नस्वरूपतया न गुणगुणिभावे समवाये वा कस्यचिद् विवादः स्यात्, नाप्येकत्वविभ्रमो घट-रूपादीनाम्, ततश्च तन्निराकरणार्थं शास्त्रप्रणयनमपार्थकं स्यात्। ननु यथा प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽप्यनेकान्ते जैनेन, स्वलक्षणे वा बौद्धेन स्वगुरागमाहितवासनाबलाल्लोकस्य तेन तदप्रतिपन्नताविभ्रमः तन्निराकरणार्थं च शास्त्रप्रणयनम् तथाऽत्रापि स्यादिति तर्हि तथाविधशास्त्ररहितानामबला-बालादीनां न समवायप्रत्यक्षताविभ्रम इति तेषां 'शुक्लः पटः' इति प्रतीतिर्न स्यात्, अपि तु 'अयं पटः, एते शुक्लादयो गुणाः, अयं च तदन्तरालवर्त्ती अपरः समवायः' इति प्रतीतिः स्यात्। अथ समवायस्य सूक्ष्मत्वात् प्रत्यक्षत्वेऽप्यनुपलक्षणात् तत्रस्थत्वेन रूपादीनामुपचारात् 'शुक्लः पटः' इति प्रतिपत्तिः स्यात्, नैतत्; एवं दण्डेऽपि 'पुरुषः' इति प्रतिपत्तिः स्यात्। उपचाराच्चेयं प्रतिपत्तिरुपजायमाना स्खलद्रूपा स्याद् वाहीके गोबुद्धिवत्। न च 'समवेतमिदं वस्तु अत्र' इति प्रतिपत्तौ विशेषणभूतः समवायः प्रतिभातीति वक्तुं युक्तम्, बहिष्प्रतिभासमानरूपादिव्यतिरेकेण अन्तश्चाभिजल्पमन्तरेणापरस्य वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यस्य ग्राह्याकारतां बिभ्राणस्य बहिः समवायस्वरूपस्याप्रतिभासनात्। वर्णाद्याकाररहितं च परैः समवायस्वरूपमभ्युपगम्यते। न च तत्कल्पनाबुद्धावपि प्रतिभाति। न चान्यादृशः प्रतिभासोऽन्यादृक्षस्यार्थस्य व्यवस्थापकः, अतिप्रसङ्गात्। तन्न समवायोऽध्यक्षप्रमाणगोचरः।

यस्त्वाह-"नित्यानुमेयत्वात् समवायस्यानुमानगोचरता, तेनायमदोष इति। तच्चानुमानम्-'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिस्तन्तु-पटव्यतिरिक्तसंबन्धपूर्विका, 'इह' इति बुद्धित्वात्, इह कंसपात्र्यां जलबुद्धिवत्" [ ] इत्येतत्, सोऽप्ययुक्तवादी; 'समवायस्यान्यस्य वा पदार्थस्य नित्यैकरूपस्य कारणत्वासंभवात् क्वचिदपि' इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च 'तन्तुषु पटः, शृङ्गे गौः, शाखायां वृक्षः' इति लौकिकी प्रतीतिरस्ति, 'पटे तन्तवः, गवि शृङ्गम्, वृक्षे शाखा' इत्याकारेण प्रतीत्युत्पत्तेः संवेदनात्, तस्याश्च समवायनिबन्धनत्वे तन्त्वादीनां पटाद्यारब्धत्वप्रसङ्गः। २५

किंच, समवायस्य समवायिभिरनभिसंबन्धे तस्य तत्र "संबद्धबुद्धिजननं तेषां संबन्ध एव च" [ ] इति च न युक्तम्, न हि दण्ड-पुरुषयोः संयोगः सह्य-विन्ध्याभ्यामनभिसंबध्यमानस्तत्र संबन्धबुद्धिहेतुः तत्संबन्धो वा। तैस्तदभिसंबन्धे वा स्वतः द्रव्य-गुण-कर्मणां स्वाधारैः स्वतः संबन्धः किं न स्यात् यतः समवायपरिकल्पनाऽऽनर्थक्यमश्नुवीत? 'इह समवायिषु समवायः' इति च बुद्धिरपरनिमित्तिका प्रकृतस्य हेतोरनैकान्तिकत्वं कथं न साधयेत् ३० स्वतस्तत्संबन्धाभ्युपगमे? समवायान्तरेण तस्य तदभिसंबन्धेऽनवस्थालता गगनतलावलम्बिनी प्रसज्येत। विशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धबलात् तस्य तदभिसंबन्धे तस्यापि तैः संबन्धोऽपरविशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धबलाद् यदि सैवानवस्था। समवायबलात् तस्य तत्संबन्धे व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। स्वतस्तैस्तस्याभिसंबन्धे बुद्ध्यादीनामपि स्वत एव स्वाधारैः संबन्धो भविष्यतीति व्यर्थं संबन्धपरिकल्पनम्। तन्न समवायः कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः। पुनरपि चैनं ३५ यथास्थानं निषेत्स्याम इति आस्तां तावत्।

तदेवं बुद्धेस्तदात्मनो व्यतिरेके संबन्धासिद्धेर्मतुबर्थानुपपत्तिः।

अथ अव्यतिरिक्ता तदात्मनस्तद्बुद्धिस्तथाऽपि तदनुपपत्तिः, न हि तदेव तेनैव तद्वद् भवति किंच, तदात्मनस्तद्बुद्धेरव्यतिरेके यदि तदात्मनि तद्बुद्धेरनुप्रवेशस्तदा बुद्धेरभावाद् बुद्धिविकलो गगनादिवद् जडस्वरूपस्तदात्मा कथं जगत्स्रष्टा स्यात्? बुद्ध्यादिविशेषगुणगणवैकल्ये च तदा- ४० त्मनोऽसदाद्यात्मनोऽप्यात्मत्वेन तद्वैकल्याद् मुक्तात्मन इव संसारित्वं न स्यात्, नवानां विशेषगुणानामात्यन्तिकक्षयोपेतस्यात्मनो मुक्तत्वाभ्युपगमात् तस्य चासदाद्यात्मस्वपि समानत्वात्

१ पृ० ८४ पं० २०। २-कताचि—भा०। ३-पत्तिः, नैत-कां०, गु०, वा०, बा०। ४ "पदार्थे" वि० टि०। ५-संबन्ध-गु०, त्रि०। ६ एव वचनं युक्तम्। नहि दण्ड-भा०, मा०। ७ तत्संबुद्धौ वा०, बा० विना।

भवदभ्युपगमेन। अथ आत्मत्वाविशेषेऽपि तदात्मा अस्मदाद्यात्मभ्यो विशिष्टोऽभ्युपगम्यते तर्हि कार्यत्वाविशेषेऽपि घटादिकार्येभ्यः स्थावरादिकार्यमकर्तृकत्वेन विशिष्टं किं नाभ्युपगम्यते? तथा च न कार्यत्वादिलक्षणो हेतुरनुपलभ्यमानकर्तृकैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारी स्यात् । अथ तद्बुद्धौ तदात्मनोऽनुप्रवेशस्तदा बुद्धिमात्रमाधारशून्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। तथा चास्मदादिबुद्धे-
५रपि तद्वदाधारविकलत्वेन मतुवर्थासंभवाद् घटादावपि बुद्धिमत्कारणत्वस्यासिद्धत्वात् साध्यविकलो दृष्टान्तः । अथ अस्मदादिबुद्धिभ्यो बुद्धित्वे समानेऽपि तद्बुद्धेरेवानाश्रितत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्येभ्यः पृथिव्यादिकार्यस्य कार्यत्वे समानेऽपि अकर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषोऽभ्युपगन्तव्य इति पुनरपि कार्यत्वलक्षणो हेतुस्तैरेव व्यभिचारी।

किंच, असौ तद्बुद्धिः क्षणिका, अक्षणिका वा इति वक्तव्यम् । यदि क्षणिकेति पक्षः,
१० तदाऽऽत्मानं समवायिकारणम्, आत्म-मनःसंयोगं चाऽसमवायिकारणम्, तच्छरीरादिकं च निमित्तकारणमन्तरेण कथं द्वितीयक्षणे तस्या उत्पत्तिः? तदनुत्पत्तौ च अचेतनस्याण्वादेश्चेतनानधिष्ठितस्य कथं भूधरादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः वास्यादेरिवाचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्? ततश्चेदानीं भूरुहादीनामनुत्पत्तिप्रसङ्गात् कार्यशून्यं जगत् स्यात्। अथ समवाय्यादिकारणमन्तरेणापि तद्बुद्धेरस्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यादुत्पत्तिरभ्युपगम्यते; नन्वेवं घटादिकार्यवैलक्षण्यं
१५ भूधरादिकार्यस्य किं नाभ्युपगम्यते इति तदेव चोद्यम्। किंच, यदीशबुद्धिः समवाय्यादिकारणनिरपेक्षैवोत्पत्तिमासादयति तर्हि मुक्तानामप्यानन्दादिकं शरीरादिनिमित्तकारणाद्व्यतिरेकेणाप्युत्पत्स्यते इति न बुद्धि-सुखादिविकल जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात्।

अथ अक्षणिका तद्बुद्धिः; नन्वेवमस्मदादिबुद्धिरप्यक्षणिका किं नाभ्युपगम्यते? अथ प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधान्नास्मदादिबुद्धिरक्षणिका तर्हि तद्विरोधादेव अकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु कार्यत्वं
२० बुद्धिमत्कारणपूर्वकं नाभ्युपगन्तव्यम् । अथास्मदादिबुद्धेः क्षणिकत्वसाधकमनुमानमक्षणिकत्वाभ्युपगमबाधकं प्रवर्त्तते न पुनरकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु, किं पुनस्तदनुमानम्? अथ क्षणिका बुद्धिः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, शब्दवत् इत्येतत्। ननु यथा अस्यानुमानस्यास्मदादिबुद्ध्यक्षणिकत्वाभ्युपगमबाधकस्य संभवस्तथाऽकृष्टोत्पत्तिषु स्थावरेषु कर्तृपूर्वकत्वाभ्युपगमबाधकस्य तस्य संभवः प्रतिपादयिष्यत इति नात्र वस्तुनि भवतौत्सुक्यमास्थेयम्। यथा च
२५ बुद्धिक्षणिकत्वानुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वं तथा शब्दस्य पौद्गलिकत्वविचारणायां प्रतिपादयिष्यत इत्येतदप्यास्तां तावत्। यथा वा बुद्धित्वाविशेषेऽपि ईशाऽस्मदादिबुद्ध्योरयमक्षणिकत्व-क्षणिकत्वलक्षणो विशेषस्तथा भूरुह-घटादिकार्ययोरप्यकर्तृ-कर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषः किं नाभ्युपगम्यते? इति पुनरपि तदेव दूषणं कार्यत्वादेर्हेतोरनैकान्तिकत्वलक्षणं प्रकृतसाध्ये।} तदेवं बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वलक्षणे साध्ये मतुवर्थासंभवात् तन्वादीनामनेकधा प्रमाणबाधासंभवाच्च
३० शास्त्रव्याख्यानादिलिङ्गानुमीयमानपाण्डित्यगुणस्य देवदत्तस्येव मूर्खत्वलक्षणे साध्येऽनुमानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्य कार्यत्वादेर्हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वेन तत्पुत्रत्वादेरिवागमकत्वम् अनुमानबाधितत्वं वा पक्षस्येति स्थितम्।

तथा, 'कार्यत्वात्' इति हेतुरप्यसिद्धः। {तथाहि—किमिदं तन्वादीनां कार्यत्वम्-प्रागसतः स्वकारणसमवायः सत्तासमवायो वेति चेत्, कुतः प्रागिति? कारणसमवायादिति चेत्। ननु
३५ तत्समवायसमये प्रागिव स्वरूपसत्त्ववैधुर्ये 'प्राक्' इति विशेषणमनर्थकम्, सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद् भवति; अत्र तु व्यभिचार एव, न संभवः। तथाहि—यदि कारणसमवायसमये स्वरूपेण सद् भवति तन्वादि तदा तत्काल इव तस्य प्रागपि सत्त्वे कार्यत्वं न स्यादिति विशेषणमुपादीयते 'प्रागसतः' इति। यदा पुनः प्रागिव कारणसमवायवेलायामपि स्वरूपसत्त्वविकलता तदा 'प्राक्'ति विशेषणं न कञ्चिदर्थं पुष्णाति, 'असतः' इत्येवास्तु।

४० न चासतः कारणसमवायोऽपि युक्तः, शशविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। तस्य कारणविरहान्न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, कुत एतत्? असत्त्वात्, तनु-करणादेरपि तद्वदसत्त्वे किं कृतोऽयं विभागः—अस्य कारणमस्ति न शशशृङ्गादेरिति? तन्वादेः कारणमुपलभ्यते नेतरस्येत्यपि नोत्तरम्, यतः

१-कर्तृत्वेन पा०, बा० विना। २ प्र० पृ० ५० २। ३ प्र० पृ० ५० २।

कार्य-कारणयोरुपलम्भे सति एतत् स्यात् 'इदमस्य कारणम् कार्यं चेदमस्य' इति । न च परस्य तदुपलम्भः प्रत्यक्षतः, उपलम्भकारणमुपलम्भविषय इति नैयायिकानां मतम्—"अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १, पं० २] इत्यत्र भाष्ये "प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसायात्मकज्ञाने कर्त्तव्येऽर्थः सहकारी विद्यते यस्य तद् अर्थवत् प्रमाणम्" [ ] इति व्याख्यानात् । न चाजनकं सहकारि, 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः । न चासत् शशविषाणसमं ज्ञानस्यान्यस्य वा कारणम्, विरोधात् । अपि च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पत्तिमत्, कार्य-कारणादिना च इन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः, सोऽपि कथं तेनासता जन्यते इति चिन्त्यम् । संयोगाभावे च रूपादिनेन्द्रियस्य संयुक्तसमवायः, रूपत्वादिना तु संयुक्तसमवेतसमवाय इति सर्वं दुर्घटम् । एतेन द्रव्यत्वादिसामान्यसंबन्धोऽपि तस्य निरूपितः । तत्र तन्वादिविषयमध्यक्षम् । अत एव नानुमानमपि । तदेवं खरविषाणादिवत् कार्य-कारणादेरनुपलम्भान्न युक्तमेतत्-शरीरादेः कारणमस्ति, न शशशृङ्गादेरिति ।

यदि पुनस्तनु-करणादिः सन् वन्ध्यासुतादिपरिहारेणेति मतिः, तत्र कुतः स एव सन्? कारणसमवायात्, सोऽपि कुतः? सत्त्वात्, अन्योऽन्यसंश्रयः—तत्समवायात् सत्त्वम् अतश्च तत्समवाय इति । प्रागसतः सत्तासमवायात् स एव सन्निति चेत्, कुतः प्राक्? सत्तासमवायात्; ननु तत्समवायकाले प्रागिव स्वरूपसत्त्वविरहे 'प्राग्' इति विशेषणमनर्थकमित्यादि सर्वं वक्तव्यम् । असतश्च सत्तासमवाये खरशृङ्गादेरपि संभवेत् अविशेषात् । 'प्राग्' इति च विशेषणं शशशृङ्गादिव्यवच्छेदार्थं परेणोक्तम्, सत्तासंबन्धसमये च तन्वादेः स्वरूपसत्त्वाभावे कस्ततो विशेषः? अयमस्ति विशेषः—कूर्मरोमादिकमत्यन्तासत्, इतरत् पुनः स्वयं न सत् नाप्यसत्; अत एव सत्तासंबन्धात् 'तदेव सत्' इत्युच्यत इति, तदेतज्जडात्मनो भवतः कोऽन्यो भाषते । तथाहि—'न सत्' इतिवचनात् तस्य सत्तासंबन्धात् प्रागभाव उक्तः, सत्प्रतिषेधलक्षणत्वादस्य । 'नाप्यसत्' इत्यभिधानाद् भावः, असत्त्वनिषेधरूपत्वाद् भावस्य रूपान्तराभावात् । तथैव वैयाकरणानां न्यायः—"द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः" [ ] इति, कथमन्यथा 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यत्र नैरात्म्यनिषेधः सात्मकः सिध्येत्?

अत्र केचित् ब्रुवते—"नैवं प्रयोगः क्रियतेऽपि तु 'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्" इति । तैरप्येवं प्रयोगं कुर्वद्भिः सात्मकत्वाभावो नियमेन प्राणादिसत्त्वाभावेन व्याप्तोऽभ्युपगन्तव्यः—अन्यथा व्यभिचाराशङ्का न निवर्त्तेत—तदभ्युपगमे चेदमवश्यं वक्तव्यम्—जीवच्छरीरे प्राणादिमत्त्वं प्रतीयमानं स्वाभावं निवर्त्तयति, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवर्त्तते, इतरथा तेनासौ व्याप्तो न स्यात् । यस्मिन्निवर्त्तमाने यन्न निवर्त्तते न तेन तद् व्याप्तम्, यथा निवर्त्तमानेऽपि प्रदीपे अनिवर्त्तमानः पटादिर्न तेन व्याप्तः, न निवर्त्तते च प्राणादिमत्त्वाभावे निवर्त्तमानेऽपि सात्मकत्वाभाव इति । निवर्त्तते इति चेत्, तन्निवृत्तावपि यदि सात्मकत्वं न सिध्यति न तर्हि तदभावो निवर्त्तते, सात्मकत्वाभावाभावेऽपि तदभावस्य तदवस्थत्वात् । सिध्यतीति चेत्, आयातमिदम्—"द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः" [ ] इति । तथा चेदमपि युक्तम्-'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इति ।

अन्ये तु मन्यन्ते—"अन्यत्र दृष्टो धर्मः क्वचिद्धर्मिणि विधीयते, निषिध्यते च" [ ] इति वचनात् केवलं घटादौ नैरात्म्यमप्राणादिमत्त्वेन व्याप्तं दृष्टम्, तदेव निषिध्यते जीवच्छरीरेऽप्राणादिमत्त्वाभावेन, न पुनः सात्मकत्वं विधीयते; तस्यान्यत्रादर्शनात्" इति । तेषां घटादौ नैरात्म्यं प्रतिपन्नं प्रतिषिध्यते इति भवतु सूक्तम्, तथापि तन्निषेधसामर्थ्याद् यदि जीवच्छरीरे सात्मकत्वं न स्यात् न तर्हि तत्र तन्निषेधः—यदा हि नैरात्म्यनिषेधो न सात्मकः—किन्तु यथाऽऽत्मनोऽभावो नैरात्म्यं तथाऽस्याऽभावोऽपि तुच्छरूपः आत्मनोऽन्यत्वाद् भङ्ग्यन्तरेण नैरात्म्यमेव, पुनस्तन्निषेद्धव्यम्, पुनरपि तन्निषेधस्तुच्छरूपो नैरात्म्यमित्यपरस्तन्निषेधो मृग्यः, तथा च सति अनवस्थानान्न नैरात्म्यनिषेधः । किंच, यदि नाम घटादौ नैरात्म्यमुपलब्धं किमित्यन्यत्र निषिध्यते? इतरथा देवदत्ते पाण्डित्यमुपलब्धं यज्ञदत्तादौ निषिध्येत । तत्र प्राणादिमत्त्वदर्शनादिति चेत्, युक्तमेतद् यदि प्राणादिमत्त्वं नैरात्म्यविरुद्धं स्याद् अग्निरिव शीतविरुद्धः, न चैवम्, अन्यथा सर्वमदोषविरुद्धं भवेत् । प्राणादिमत्त्वेन

१ पृ० १०८ पं० ३५ ।

स्वाभावो नैरात्म्यव्यापको विरुद्धः, ततः प्राणादिमत्त्वभावात् तदभावो निवर्त्तते, वह्निभावादिव शीतम्, स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं नैरात्म्यमादाय निवर्त्तते, यथा धूमाभावः पावकाभावमिति । वृत्तमत्रोत्तरम्–यदि नैरात्म्याभावः सात्मको न भवेत् तदवश्यं नैरात्म्यमिति । भवतु तर्हि नैरात्म्य-निषेधः सात्मकः, तथा सति 'सत्तासंबन्धात् प्राक् तन्वादिर्ना (दि ना) सत्' इति वचनात् तदा
५ तस्य सत्त्वमुक्तम्, 'न सत्' इत्यभिधानादसत्त्वमिति विरोधः । ततोऽसदेव तदभ्युपगन्तव्यमिति न वन्ध्यासुतादेस्तनु–करणादेर्विशेषः । भवत्वेवं तथापि तन्वादेरेव सत्तासंबन्धात् सत्त्वम् न खरशृङ्गादेः तथादर्शनादिति चेत्, उक्तमत्र तथादर्शनोपायाभावादिति ।

[प्रासङ्गिकं सत्तापदार्थनिरसनम्]

अपि च, सत्ताऽपि यदि असती कथं ततो वन्ध्यासुतादेरिवापरस्य सत्त्वम्? सती चेद् यदि
१० अन्यसत्तातः, अनवस्था । स्वतश्चेत्, पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम् । किञ्च, यदि स्वत एव सत्ता सती उपेयते तदा प्रमाणं वक्तव्यम् । अथ स्वतः सत्ता सती–तत्संबन्धात् तन्वादीनां सत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः–तर्ह्यन्योन्यसंश्रयः–तत्संबन्धात् तन्वादिसत्त्वे सिद्धे सत्तासत्त्व-सिद्धिः, ततस्तत्संबन्धात् तन्वादिसत्त्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । अथ सत्ता स्वतः सती, सदभिधानप्रत्ययविषयत्वात्, अवान्तरसामान्यादिवत्; न, द्रव्यादिना व्यभिचारः–द्रव्यादिरपि
१५ 'सद् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत् कर्म' इत्येवं सदभिधानप्रत्ययविषयो भवति, न चासौ परेण स्वतः सन्नभ्युपगतः सत्ताप्रकल्पनवैफल्यप्रसङ्गात् । न च द्रव्यादौ तद्विषयत्वं परापेक्षं न सत्तायामिति वक्तुं युक्तम्, तस्यामपि तदपेक्षत्वसंभवात् । अथ तत्र तस्य तदपेक्षत्वे किं तदपरमिति वक्तव्यम्; नन्वेतद् द्रव्यादावपि समानम् । तत्र सत्तेति चेत्, अत्रापि द्रव्यादिकम् इति तुल्यम्–यथैव हि सत्तासंबन्धात् द्रव्यादिकं सत् न स्वतः तथा द्रव्यादिस्वरूपसत्त्वसंबन्धात् सत्ता सती न स्वतः ।
२० द्रव्यादेः स्वरूपसत्त्वं नास्ति तेनायमदोषः, तदस्तित्वे को दोष इति वाच्यम् । ननु तस्या (तस्य). स्वतः सत्त्वेऽवान्तरसामान्याभावप्रसङ्गो दोषः, ननु स्वतोऽसत्त्वे खरविषाणादेरिव सुतरां तदभाव-दोष. । अपि च, यो हि तत्र सत्तासंबन्धं नेच्छति स कथमवान्तरसामान्यसंबन्धमिच्छेत् ? न चात्र प्रमाणं स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नावान्तरसामान्यमिति । अथैतत्—द्रव्यादयो न स्वतः सन्तः, अवान्तरसामान्यवत्त्वात्, यत् पुनः स्वतः सत् न तद् अवान्तरसामान्यवत्, यथा सामान्य-विशेष-
२५ समवाया इति व्यतिरेकी हेतुः, नैतत्; यदि हि द्रव्यादयो धर्मिणः कुतश्चित् प्रतीतिगोचर-चारिणेत्सन्तो भवन्ति [सं कथमवान्तरसामान्यसंबन्धमिच्छेत्? न चात्र प्रमाणं स्वतोऽसन्तो द्रव्यादयो नावान्तरसामान्यमिति । अथैतत्–द्रव्यादयो न स्वतः सन्तोऽवान्तरसामान्यवत्त्वात्, यत् पुनः स्वतः सत् न तदवान्तरसामान्यवत्, यथा] सामान्यप्रतीतिः सत्त्वं साधयन्ती स्वत इति प्रतिज्ञाम् तदसत्त्वविपर्ययावाधने चेद् (चारिणस्सन्तो भवन्ति तदा कथं न तत्प्रतीतिः स्वतस्सत्त्वं
३० साधयन्ती 'न स्वतस्सन्तस्ते' इति प्रतिज्ञां तदसत्त्वविषयां बाधते । न चेद्) मन्नोत्तरम्–न स्वतः सन्तस्ते प्रतीतिविषयाः किन्तु सत्तासंबन्धादिति, यतो 'न स्वयमसन्तस्तत्संबन्धात् तद्विषया भवन्ति' इत्युक्तम् । किंच, द्रव्यादेरेकान्तेन यस्य भिन्नान्यवान्तरसामान्यानि कथं तस्य तानि स्युः यतोऽवान्तरसामान्यवत्त्वादिति हेतुः सिद्धः स्यात्? अथ तथापि तस्याति (तस्येति), न, परस्परमपि स्युरिति सामान्यसमवायात् परिशेषवत् (सामान्य-समवाय-विशेषवत्) इति वैधर्म्यनिदर्शनम्
३५ युक्तम् । यदि मतम्—द्रव्यादौ तानि समवेतानि ततस्तस्य तानि न सामान्यादेर्विपर्ययादिति, तत्र सम्यक्; 'तत्र समवेतानि' इति समवायेन संबद्धानीति यदर्थः, स न युक्त, समवायस्य निषिद्धे-त्वात्प्रतिपत्स्यमानत्वाच्च । भवतु वा समवायः तथापि यत्र द्रव्ये, गुणे, कर्मणि च द्रव्यत्वम्, गुणत्वम्, कर्मत्वं चाऽवान्तरसामान्यं तत्रैव पृथिवीत्वादीनि, रूपत्वादीनि, गमनत्वादीनि च तथाविधानि सामान्यानि, समवायोऽपि तत्रैव सामान्यवत् तस्य सर्वगतत्वाच्च द्रव्यादिवदन्योन्यसत्तानीति न

---

१ पृ० १०९ प० ३८ । २ तन्वादिर्नाऽसदिति व–वा०, बा० विना । ३ पृ० १०९ प० १८ । ४ पृ० १०९ प० २ । ५ तदभावा (वो) दोषः भा० । ६–तद् यथा सामा– मा०, भा० । ७ [ ] एतचिह्नान्तर्गता पङ्क्तय केनाऽपि कारणेन द्विरुक्ता जाता इति प्रतिभाति । ८ इति प्रति प्रतिज्ञा–गु० । ९–ज्ञातम् भा० । १०–पय बाध–वा०, बा० । ११ तस्यापि वा०, बा० विना । १२ पृ० १०६ प० १० ।

द्रव्यादेः स्वतः सत्त्वबाधनमित्याशङ्का न निवर्त्तते-'किं द्रव्यादिसंबन्धाद् सत्ता सती किं वा तया द्रव्यादिकं सत्' इति । तत्र सत्तातः तन्वादेः सत्त्वम्, तस्या एवासिद्धत्वात् ।

{ सत्ताप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् सत्तायाः प्रत्यक्षेणाबाधितविषयत्वेन एवमुपन्यस्यमानस्य प्रसङ्गसाधनस्यानवकाशः । न च द्रव्यप्रतिभासवेलायां प्रत्यक्षबुद्धौ परिस्फुटरूपेण व्यक्तिविवेकेन सत्ता न प्रतिभातीति शक्यं वक्तुम्, अनुगताकारस्य व्यावृत्ताकारस्य च प्रत्यक्षानुभवस्य संवेदनात् । न चानुगत-व्यावृत्तवस्तुव्यतिरेकेण द्व्याकारा बुद्धिर्घटते । न हि विषयव्यतिरेकेण प्रतीतिरुत्पद्यते, नीलादिस्वलक्षणप्रतीतेरपि तथाभावप्रसङ्गात् । अथ तैमिरिकस्य बाह्यार्थसन्निधिव्यतिरेकेणापि केशोण्डुकादिप्रतीतिरुदेति तथैवानुगतरूपमन्तरेणापि भिन्नवस्तुष्वनुगताकारा बुद्धिरुदेष्यतीति न ततः सत्ताव्यवस्था, तदयुक्तम्; तैमिरिकप्रतीतौ हि प्रतिभासमानस्य केशोण्डुकादेर्बाधक-कारणदोषपरिज्ञानादतत्त्वम्; सत्तादर्शने तु न बाधकप्रत्ययोदयः नापि कारणदोषपरिज्ञानमिति न तद्ग्राहिणो विज्ञानस्य मिथ्यात्वम् । १० तथाहि—विभिन्नेष्वपि घट-पटादिष्वर्थेषु 'सत् सत्' इति अभेदमुल्लिखन्ती प्रतीतिरुदयमासादयति; न चासौ कालान्तरादौ विपर्ययमुपगच्छन्ती लक्ष्यते, सर्वदा सर्वेषां घट-पटादिषु 'सत् सत्' इति व्याहृतेः । व्यवहारमुपरचयन्ती च प्रतीतिः परैरपि प्रमाणमभ्युपगम्यते । यथोक्तं तैः-"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [ ] इति । तदेवमवस्थितम्-अनुगताकारा हि बुद्धिर्व्यावृत्तरूपप्रतीत्यनधिगतं साधारणरूपमुल्लिखन्ती मु(सु)परिनिश्चितरूपा बाधाऽयोगात् प्रमाणम् । सा च अक्षान्वय-व्यतिरेकानुसारितया प्रत्यक्षम् । तथाहि-विस्फारितलोचनस्य घट-पटादिषु रूपमारूढां सत्तामुल्लिखन्ती 'सत् सत्' इति प्रतीतिः, तदभावे च न भवतीति तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायितया कथं न प्रत्यक्षम्? तस्माद् बहुषु व्यावृत्तेषु तुल्याकारा बुद्धिरेकतामवस्यति । यच्चात्र विभिन्नेषु घटादिषु प्रतिनियतमेकमनुगतस्वरूपं सैव जातिः ।

अथ व्यक्तिव्यतिरिक्ता जातिरुपेयते न च व्यक्तिदर्शनवेलायां तद्रूपसंस्पर्शविषयव्यतिरिक्तवपुरपरमनुगतिरूपं प्रतिभाति तत् कथं तत् सामान्यम्? नैतदस्ति; यस्मादगृहीतसङ्केतस्यापि तनुभृतः प्रथममुद्भाति वस्तु; द्वितीये तुल्यरूपतामनुसरति बुद्धिः क्वचिदेव न सर्वत्र । प्रतिपत्त्यन्यता च सर्वत्र भेदव्यवहारनिबन्धनं तुल्यदेश-कालेऽपि रूप-रसादौ च, प्रतिपत्त्यन्यता जातावपि विद्यत इति कथं न सा भिन्नाऽस्ति? तथाहि—व्यक्त्याकारविवेकेन विशदमनुगतिरूपता भाति तद्विवेकेन च व्यावृत्तरूपतेति कथं व्यक्तिस्वरूपाद् भिन्नावभासिनी जातिर्भिन्ना नाभ्युपगमविषयः? २५

अथैकेन्द्रियावसेयत्वाद् जाति-व्यक्त्योरेकता रूप-रसादौ तु भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद् भेदः, तदप्यसङ्गतम्; यत एकेन्द्रियग्राह्यमपि वाताऽऽतपादिकं समानदेशं च भिन्नं प्रतिभातीति भिन्नवपुरभ्युपेयते तथा प्रतिनियतेन्द्रियविषयमपि जाति-व्यक्तिद्वयं भिन्नम्; भिन्नप्रतिभासादेव । तथाहि—घटमन्तरेणापि पटग्रहणे 'सत् सत्' इति पूर्वप्रतिपन्ना सत्ताऽवगतिर्दृष्टा; यदि तु व्यक्तिरेव सती न जातिः तत्सत्त्वेऽपि तद्व्यतिरिक्ता च, तथा सति व्यक्तिरूपवत् तदननुगतिरपि व्यक्त्यन्तरे प्रसज्येत । प्रतीयते च सद्रूपता युगपद् घट-पटादिषु परस्परविविक्ततनुष्वपि सर्वदा । तेनैकरूपैव जातिः, प्रत्यक्षे तथाभूताया एव तस्याः प्रतिभासनात्; शब्द-लिङ्गयोरपि तस्यामेव संबन्धग्रहणमिति ताभ्यामपि सा प्रतीयते । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणावसेयत्वात् सत्तायाः न तन्निराकरणाय प्रसङ्गसाधनानुमानप्रवृत्तिरिति । }

असदेतत् । ३५

यतो न व्यक्तिदर्शनवेलायां स्वरूपेण बहिर्ग्राह्याकारतया प्रतीतिमवतरन्ती जातिरुद्भाति, नहि घट-पटवस्तुद्वयप्रतिभाससमये तदेव तद्व्यवस्थितमूर्त्तिरभिन्नाऽभिन्ना वा जातिराभाति, तदाकारस्यापरस्य ग्राह्यतया बहिस्तत्राप्रतिभासनात् । बहिर्ग्राह्यमासाद्य बहिरर्थव्यवस्थाकारी, नान्तरावभासः । यदि तु सोऽपि तद्व्यवस्थाकारी स्यात्, तथा सति हृदि परिवर्त्तमानवपुषः सुखादेरपि प्रतिभासाद् बहिस्तद्व्यवस्था स्यात्; तथा च 'सुखाद्यात्मकाः शब्दादयः' इति साङ्ख्यदर्शनमेव स्यात् । अथ सुखादिराकारो बाह्यरूपतया न प्रतिभातीति न बहिरसौ, जातिरपि तर्हि न बहीरूपतया प्रतिभातीति न बहीरूपाऽभ्युपगन्तव्या, यतः कल्पनामतिरपि दर्शनदृष्टमेव घटादिरूपं बहिरुल्लिखन्ती तद्भिन्नं च अन्तः

१-क्षसामान्यया-मा० । -क्षाया-भां० । २-स्य च प्रत्य-वा०, बा० विना ।

प्रतिभाति, न तु तद्व्यतिरिक्तमपूर्वं जातिमुद्द्योतयति । तत्र तदयनेयाऽपि यद्विजातिरस्ति । तैमिरिकज्ञाने यद्विप्रकाशमानवपुषोऽपि हि केशोण्डुकादयो न तथाऽभ्युपेयन्ते, बाध्यमानज्ञानविषयत्वात् । जातिस्तु न यद्वीरूपतया क्वचिदपि ज्ञाने प्रतिभातीति कथं सा सत्त्वाभ्युपगमविषयः ? बुद्धिरेव केवलं घट-पटादिषु प्रतिभासमानेषु 'सत् सत्' इति तुल्यतनुराभाति । यदि तर्हि न बाह्या जातिरस्ति,
५ बुद्धिरपि कथमेकरूपा प्रतिभाति नहि यद्विर्निमित्तमन्तरेण तदाकारोत्पत्तिमती सा युक्ता ? ननु येनोच्यते यद्विर्निमित्तनिरपेक्षा जातिमतिरिति, किन्तु यद्विर्जातिर्न निमित्तमिति, बाह्यास्तु व्यक्तयः काश्चिदेव जातिबुद्धेर्निमित्तम् । ननु यदि व्यक्तिनिबन्धनाऽनुगताकारा मतिः, तथा सति यथा खण्ड-मुण्डव्यक्तिदर्शने 'गौर्गौः' इति प्रतिपत्तिरुदेति तथा गिरिशिखरादिदर्शनेऽपि 'गौर्गौः' इत्येतदाकारा प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिभेदाविशेषात्, तदयुक्तम्; भेदाविशेषेऽपि खण्ड-मुण्डादिव्यक्तिषु 'गौर्गौः'
१० इत्याकारा मतिरव्ययमासादयन्ती समुपलभ्यत इति ता एव तामुपजनयितुं समर्था इत्यवसीयते, न पुनर्गिरिशिखरादिषु 'गौर्गौः' इति मतिरदेति न ते तन्निबन्धनम् । यथा च आमलकीफलादिषु यथाविधानमुपयुक्तेषु व्याधिविरतिलक्षणं फलमुपलभ्यत इति तान्येव तद्विधौ समर्थानीत्यवसीयते, भेदाविशेषेऽपि न पुनस्त्रपुष-दध्यादीनि । अथ भिन्नेष्वपि भावेषु 'सत् सत्' इति मतिरस्ति, विभिन्नेषु च भावेषु यदेकत्वं तदेव जातिः, तत्रोच्यते—तदेकत्वं घट-पटादिषु किमन्यत्, उतानन्यत् ? न
१५ तावदन्यत्, तस्याप्रतिभासनादित्युक्तेः । नाप्यनन्यत्, एकरूपाऽप्रतिभासनात्; न हि घटस्य पटस्य चैकमेव रूपं प्रतिभाति, सर्वात्मना प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपदर्शनात् । तस्मादप्रतीतेरभिन्नाऽपि जातिर्नास्ति, बुद्धिरेव तुल्याकारप्रतिभासा 'सत् सत्' इति शब्दश्च दृश्यत इति तदन्वय एव युक्तः न जात्यन्वयः तस्यादर्शनात् । न च बुद्धिस्वरूपमप्यपरबुद्धिस्वरूपमनुगच्छति इति न तदपि सामान्यमित्येकानुगतजातिवादो मिथ्यावादः ।

२० अपि च, अनेकव्यक्तिव्यापि सामान्यं तद्वादिभिरभ्युपगम्यते । न च तद्व्यापित्वं तस्य केनचित् ज्ञानेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तथाहि–सन्निहितव्यक्तिप्रतिभासकाले जातिस्तद्व्यक्तिसंस्पर्शिनी, स्फुटमवभाति न व्यक्त्यन्तरसंबन्धितया, तस्यास्तथाऽसन्निधानेन प्रतिभासायोगात् । तदप्रतिभासे च तन्निष्ठताऽपि नावगतेति कथमसन्निहितव्यक्त्यन्तरसंबद्धशरीरा जातिरवभाति । यदेव हि परिस्फुटदर्शने प्रतिभाति रूपं तदेव तस्या युक्तम्, दर्शनासंस्पर्शिनः स्वरूपस्यासंभवात्; संभवे
२५ वा तस्य दृश्यस्वभावाद् भेदप्रसङ्गात्, तदेकत्वे सर्वत्र भेदप्रतिहतेः अनानैकं जगत् स्यात् । दर्शनगोचरातीतं च व्यक्त्यन्तरसंबद्धं जातिस्वरूपमप्रतिभासनादसत्; प्रतिभासने वा तस्य तत्संबद्धानां व्यवहितव्यक्त्यन्तराणामपि प्रतिभासप्रसङ्ग इति सकलजगत्प्रतिभासः स्यात् । अथ मतम्–सन्निहितव्यक्तिदर्शनकाले व्यक्त्यन्तरसंबन्धिनी जातिर्न भाति; यदा तु व्यक्त्यन्तरं दृश्यते तदा तद्दर्शनवेलायां तद्गतत्वेन जातिराभातीति साधारणस्वरूपपरिच्छेदः पश्चात् संभवतीति, ततश्च
३० पश्चादर्थान्वयदर्शने कथं न तस्यास्तद्व्यापिताग्रहः ? असदेतत्; यतो व्यक्त्यन्तरदर्शनकालेऽपि तत्परिगतमेव जाते· स्वरूपं प्रतिभाति न पूर्वव्यक्तिसंस्पर्शितया; तस्याः प्रत्यक्षगोचरातिक्रान्ततया तत्संबद्धस्यापि रूपस्य तदतिक्रान्तत्वात् । तत् कथं सन्निहिताऽसन्निहितव्यक्तिसंबद्धजातिरूपावगमः ?

अथ प्रत्यभिज्ञानादनेकव्यक्तिसंबन्धित्वेन जातिः प्रतीयते, ननु केयं प्रत्यभिज्ञा ? यदि प्रत्यक्षम्, कुतस्तदवसेया जातिरेकानेकव्यक्तिव्यापिनी प्रत्यक्षा ? अथ नयनव्यापारानन्तरं समुपजायमाना
३५ प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम् ? निर्विकल्पकस्याप्यक्षान्वय-व्यतिरेकानुविधानात् प्रत्यक्षत्वं तदत्रापि तुल्यम्, असदेतत्, यदि अक्षजा प्रत्यभिज्ञा तथा सति प्रथमव्यक्तिदर्शनकाल एव समस्तव्यक्तिसंबद्धजातिरूपपरिच्छेदोऽस्तु । अथ तदा स्मृतिसहकारिविरहान्न तदवगतिः, यदा तु द्वितीयव्यक्तिदर्शनं तदा पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधसमुपजातस्मृतिसहितमिन्द्रियं तत्स्वदर्शनं जनयति, तदप्यसत्; यतः स्मरणसचिवमपि लोचनं पुरःसन्निहितायामेव व्यक्तौ तत्स्थजातौ च प्रतिपत्तिं
४० जनयितुमीशम्; न पूर्वव्यक्तौ, असन्निधानात् । तत्र तत्स्थितां जातिं दर्शनं परिदृश्यमाने व्यक्त्यन्तरे संधत्ते ।

अथेन्द्रियवृत्तिर्न स्मरणसमवायिनी करणत्वादिति नासौ संधानकारिणी, पुरुषस्तु कर्तृतया

---

१ तर्हि बाह्या भा०, मां०, वा०, बा० विना । २ पृ० १११ पं० ३८ ।

स्मृतिसमवायीति चक्षुषा परिगतेऽर्थे तदुपदर्शितपूर्वव्यक्तिगतां जातिं संधास्यतीति, तदसत्; यतः सोऽपि न स्वतन्त्रतयाऽर्थग्राहकः किन्तु दर्शनसहायः। यदि पुनः स्वतन्त्र पदार्थग्राहकः स्यात् तथा सति स्वाप-मद-मूर्च्छादिष्वपि सर्वव्यक्त्यनुगतजातिप्रतिपत्तिः स्यात्। तस्मादात्माऽपि दर्शनसहाय पदार्थवेदी। दर्शनं च पुरःसन्निहितं व्यक्तिस्वरूपमनुसरति, नहि स्मृतिगोचरमपि पूर्वदृष्टव्यक्तिगतं जात्यादिकमिति न दर्शनसहायोऽपि तदनुसंधानसमर्थ आत्मा। अथ स्मरणोपनीतं जातिरूपमात्मा ५ तत्र संधास्यति; नन्वत्रापि स्मृतिः परिहृतपुरोवर्तिव्यक्तिदर्शनविषया पूर्वदृष्टमर्थमनुसरन्ती संलक्ष्यते। तत् कथं पुरोवर्तिनि अप्रवर्त्तमाना स्वविषयान् सामान्यादींस्तत्र संघटयितुं क्षमा? तदस्मृतं च संघटनं कथमात्माऽपि कर्तुं क्षमः? तथाहि-दर्शने सति द्रष्टरि तस्य स्वरूपे जाते तन्निमग्नं न स्मृतिकृतं स्मर्तृरूपं भाति। यदि तु भाति तथा सति द्रष्टृरूप एवासौ, न स्मर्ता। अथ स्मर्तृरूपे द्रष्टृस्वरूपमनुप्रविष्टं प्रतिभाति, तथापि स्मर्त्तैवाऽसौ न द्रष्टा। अथ द्रष्टृ-स्मर्तृस्वरूपे विविक्ते भातः, तथा सति १० तयोर्भेद इति नैकत्वम्। तथाहि-द्रष्टृस्वरूपं दृग्विषयावभासि प्रतिभाति, स्मर्तृस्वरूपमपि पुंसः स्मृतिविषयमवतीर्णमवभाति; तत् कुतः पूर्वापरयोर्जाति-रूपयोः संधानम्?

यत् पुनरुक्तम् 'स्मरतः पूर्वदृष्टार्थानुसंधानादुत्पद्यमाना मतिश्चक्षुःसंबद्धत्वे प्रत्यक्षम्' इति, एतदप्यसत्; नेन्द्रियमतिः स्मृतिगोचरपूर्वरूपग्राहिणी, तत् कथं सा तत्संधानमात्मसात्करोति? पूर्वदृष्टसंधाने हि तत्प्रतिभासनम्, तत्प्रतिभाससंबन्धे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रतिभा- १५ सनम् असंनिहितविषयग्रहणं च, तत् कुतस्तयोरैक्यम्? अथ परोक्षग्रहणं स्वात्मना नेन्द्रियमतिः संस्पृशति, एवं तर्हि तद्विविक्तेन्द्रियमतिरिति कथं तत्संधायिका सामग्री अभ्युपेयते? यदि च स्मृतिविषयस्वभावतया दृश्यमानोऽर्थः प्रत्यक्षबुद्धिभिरवगम्यते, तथा सति स्मृतिगोचरः पूर्वस्वभावो वर्त्तमानतया भातीति विपरीतख्यातिः सर्वं दर्शनं भवेत्। अथ यत् तदा तत्राविद्यमानमर्थमवैति ज्ञानं तत्र विपरीतख्यातिः, प्रत्यक्षप्रतीतिस्तु पूर्वसंधानादप्युपजायमाना पुरः सदेव २० वस्तु गृह्णती कथं विपरीतख्यातिर्भवेत्? ननु पूर्वरूपग्राहितया तस्याः सदर्थग्रहणमेव न संभवति; स्मरणोपनेयं हि रूपं प्रतियती वर्तमानतया प्रत्यक्षबुद्धिर्न प्रतिभासमानवपुषः सत्तां साधयितुमलम्, प्रत्यस्तमितेऽपि रूपे स्मृतेरवतारात्। तदनुसारिणी चाक्षमतिरपि तदेवानुसरन्ती न सत्ताऽऽस्पदम्। तस्मादिन्द्रियमतिः सकला पूर्वरूपग्रहणं परिहरन्ती वर्त्तमाने परिस्फुटे वर्त्तत इति तदेव तद्गतां जातिमुद्भासयितुं प्रभुरिति न पूर्वापरव्यक्तिगता जातिः समस्ति। यदेव हि द्वितीयव्य- २५ क्तिगतं रूपं भाति तदेव सत्, पूर्वव्यक्तिगतं तु रूपं न भातीति न तत् सत्। ततश्चानेकव्यक्तिव्यापिकाया जातेरसिद्धिरिति न तत्र लिङ्ग-शब्दयोरपि प्रवृत्तिरिति न ताभ्यामपि तत्प्रतिपत्तिः। यथा च व्यक्तिभिन्नाऽनुस्यूता जातिर्न संभवति तथा यथास्थानं प्रतिपादयिष्यत इत्यास्तां तावत्।

तदेवं सत्ता-समवाययोः परपरिकल्पितयोरसिद्धेः 'प्रागसतः कारणसमवायः सत्तासमवायो वा कार्यत्वम्' इति कार्यत्वस्यासिद्धत्वात् स्वरूपासिद्धोऽपि कार्यत्वलक्षणो हेतुः}। ३०

अथ स्यादेष दोषो यदि यथोक्तलक्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं स्यात्, यावताऽभूत्वा भवनलक्षणं कार्यत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तं तेनायमदोषः। नन्वेवमपि भू-भूधरादेः कथमेवंभूतं कार्यत्वं सिद्धम्? अथ यदि अत्र विप्रतिपत्तिविषयता तदाऽनुमानतस्तेषु कार्यत्वं साध्यते, तच्चानुमानम्-'भू-भूधरादयः कार्यम्, रचनावत्त्वात्, घटादिवत्' इति कथं न तेषु कार्यत्वलक्षणो हेतुः सिद्धः? असदेतत्; यतोऽत्रापि प्रयोगे भू-भूधरादेरवयविनोऽसिद्धेराश्रयासिद्धः 'रचनावत्त्वात्' इति हेतुः, तदसिद्धत्वं च प्राक् ३५ प्रतिपादितम्।

किञ्च, {किमिदं रचनावत्त्वम्? यदि अवयवसन्निवेशो रचना तद्वत्त्वं च पृथिव्यादेस्तदुत्पाद्यत्वम् तदाऽवयवसन्निवेशस्य संयोगापरनाम्नोऽसिद्धत्वादसिद्धविशेषणो रचनावत्त्वादिति हेतुः। तथा, पृथिव्यादिषु संयोगजन्यत्वस्य विशेष्यस्यासिद्धत्वादसिद्धविशेष्यश्च प्रकृतो हेतुः।

कथं संयोगासिद्धत्वम् येनोक्तदोषदुष्टः प्रकृतो हेतुः स्यात्? उच्यते, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ४० बाधकप्रमाणोपपत्तेश्च। तथाहि—

[प्रासङ्गिकं संयोगस्य निरसनम्]

"संख्या-परिमाणानि पृथक्त्वम् संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपि(द्रव्य)समवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशेषिकद० ४-१-११]

१-यमाने परो-शु०। २-शति एतर्हि त-शु०। ३ पृ० १०२ पं० ११।

इति वचनात् दृश्यवस्तुसमवेतस्य संयोगस्य परेण प्रत्यक्षग्राह्यत्वमभ्युपगतम्। न च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्वयप्रतिभासकाले‌ऽध्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगो बहिर्ग्राह्यरूपतां बिभ्राणः प्रतिभाति, नापि कल्पनाबुद्धौ वस्तुद्वयं यथोक्तं विहाय शब्दोल्लेखं चान्तरम् अपरं वर्णाकृत्यक्षराकाररहितं संयोगस्वरूपमुद्भाति। तदेवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य संयोगस्यानुपलब्धेरभावः, शशविषाणवत्।

५ तेन यदाह उद्द्योतकरः—

"यदि संयोगो नार्थान्तरं भवेत् तदा क्षेत्र-बीजोदकादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम्, तस्मात् सर्वदा कार्याऽनारम्भात् क्षेत्रादीन्यङ्कुरोत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षाणि, यथा मृत्पिण्डादिसामग्री घटादिकरणे कुलालादिसापेक्षा; योऽसौ क्षेत्रादिभिरपेक्ष्यः स संयोग इति सिद्धम्। किञ्च, असौ संयोगो द्रव्ययोर्विशेषणभावेन प्रतीयमानत्वात् ततोऽर्थान्तरत्वेन प्रत्यक्षसिद्ध
१० एव। तथाहि—कश्चित् केनचित् 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्तो ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एवाहरति न द्रव्यमात्रम्। किञ्च, दूरतरवर्त्तिनः पुंसः सान्तरेऽपि वने निरन्तररूपावसायिनी बुद्धिरुदयमासादयति, सेयं मिथ्याबुद्धिः मुख्यपदार्थानुभवमन्तरेण न क्वचिदुपजायते। न ह्यननुभूतगोदर्शनस्य गवये 'गौः' इति विभ्रमो भवति। तस्मादवश्यं संयोगो मुख्योऽभ्युपगन्तव्यः। तथा, 'न चैत्रः कुण्डली' इत्यनेन प्रतिषेधवाक्येन न कुण्डलं प्रतिषिध्यते, नापि चैत्रः, तयोरन्यत्र देशादौ सत्त्वात्।
१५ तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते। तथा, 'चैत्रः कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन न चैत्र-कुण्डलयोरन्यतरविधानम्, तयोः सिद्धत्वात्; पारिशेष्यात् संयोगविधानम्। तस्मादस्त्येव संयोगः" [न्यायवा० पृ० २१९] इति, तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्; संयुक्तद्रव्यस्वरूपावभासव्यतिरेकेणापरस्य संयोगस्य प्रत्यक्षे निर्विकल्पके सविकल्पके वाऽप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात्।

न च संयुक्तप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या संयोगकल्पनोपपन्ना, निरन्तरावस्थयोरेव भावयोः संयुक्त-
२० प्रत्ययहेतुत्वात्। यावच्च तस्यामवस्थायां संयोगजनकत्वेन संयुक्तप्रत्ययविषयौ ताविष्येते तावत् संयोगमन्तरेण संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वेन तद्विषयौ किं नेष्येते किं पारम्पर्येण? न च सान्तरे वने निरन्तरावभासिनी बुद्धिर्मुख्यपदार्थानुभवपूर्विका, अस्खलत्प्रत्ययत्वेनानुपचरितत्वात्। 'न चैत्रः कुण्डली' इत्यादौ चैत्रसंबन्धिकुण्डलं निषिध्यते विधीयते वा न संयोगः। न च संबन्धव्यतिरेकेण चैत्रस्य कुण्डलसंबन्धानुपपत्तिरिति वक्तुं शक्यम्, यतश्चैत्र-कुण्डलयोः किं संबन्धिनोः स संबन्धः, उतासंबन्धिनोः?
२५ नासंबन्धिनोः, हिमवद्विन्ध्ययोरिवासंबन्धिनोः संबन्धानुपपत्तेः; न चासंबन्धिनोर्भिन्नसंबन्धेन तद्भिन्नं संबन्धित्वं शक्यं विधातुम्, विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात्। नापि भिन्नम्, तत्सद्भावेऽपि तयोः स्वरूपेणासंबन्धित्वप्रसङ्गात्; भिन्नस्य तत्कृतोपकारमन्तरेण तत्संबन्धित्वायोगात्; ततोऽपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। संबन्धिनोस्तु संबन्धपरिकल्पनं व्यर्थम्, संबन्धमन्तरेणापि तयोः स्वत एव संबन्धिस्वरूपत्वात्।

३० यत्तूक्तम् 'विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण क्षिति-बीजोदकादीनां नाङ्कुरजनकत्वम्, सा च विशिष्टावस्था तेषां संयोगरूपा शक्तिः, तदनारम्भ्; यतो यथा विशिष्टावस्थायुक्ताः क्षित्यादयः संयोगमुत्पादयन्ति तथा तदवस्थायुक्ता अङ्कुरादिकमपि कार्यं निष्पादयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्तिन्याः परिकल्पनम्। अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्त्तत इति निर्बन्धस्तर्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यतिरेकेण नासौ प्रवर्त्तेत इत्यपरा संयोगशक्तिः
३५ परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यनवस्था। अथ तामन्तरेणापि शक्तिमुत्पादयन्ति तर्हि कार्यमपि तामन्तरेणैवाङ्कुरादिकं निर्वर्त्तयिष्यन्तीति व्यर्थं संयोगशक्तेस्तदन्तरालवर्त्तिन्याः कल्पनम्। न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्त्तयितुं क्षमाः तथाऽभ्युपगमे सर्वदा तन्निर्वर्त्तनप्रसङ्गादङ्कुरादेरप्यनवरतोत्पत्तिप्रसङ्गः। न चान्यतरकर्मादिसव्यपेक्षाः संयोगमुत्पादयन्ति क्षित्यादय इति नायं दोषः, कर्मोत्पत्तावपि संयोगपक्षोक्तदूषणस्य सर्वस्य तुल्यत्वात्।
४० तस्मादेकसामग्र्यधीनविशिष्टोत्पत्तिमत्पदार्थव्यतिरेकेण नापरः संयोगः, तस्य बाधकप्रमाण-

---

१ प्र० पृ० पं० ११। २ धारा पृ० १०६ पं० १४ गतपाठानुरोधेन 'उत्कारेऽपि सम्बिसम्बन्धिक्षणं पुनरि तयो अर्थसम्बन्धम्' इत्यर्थोऽनुसन्धेय। ३ प्र० पृ० पं० ६।

विषयत्वात् साधकप्रमाणाभावाच्च। यस्तु 'संयुक्ते द्रव्ये एते' इति, 'अनयोर्वाऽयं संयोगः' इति व्यपदेशः स भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपाभ्यां तथाऽवस्थोत्पन्नवस्तुद्वयनिबन्धन एव, नातोऽपरस्य संयोगस्य सिद्धिः। न चाक्षणिकत्वे तयोः स संबन्धी युक्तः। तत्संबन्धस्य समवायस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च। न च तज्जन्यत्वादसौ तत्संबन्धी, अक्षणिकत्वे जनकत्वविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। क्षणिकत्वेऽपि तयोरेकसामग्र्यधीना नैरन्तर्योत्पत्तिरेव, नापरः संयोग इति 'रचनावत्त्वात्' इत्यत्र हेतोर्विशेषणस्य संयोगविशेषस्य रचनालक्षणस्याऽसिद्धेस्तद्वतो विशेष्यस्याप्यसिद्धिरिति स्वरूपासिद्धत्वम्}। ५

अथ पृथिव्यादेः कार्यत्वं बौद्धैरभ्युपगम्यत एवेति नासिद्धत्वं तैरस्य हेतोः प्रेरणीयम्। नन्वत्रापि यादृग्भूतं बुद्धिमत्पूर्वकत्वेन देवकुलादिष्वन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्याप्तं कार्यत्वमुपलब्धम्-यदक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णदेवकुलादावुपलभ्यमानं लौकिकपरीक्षकादेस्तत्र कृतबुद्धिमुत्पादयति-तादृग्भूतस्य क्षित्यादिषु कार्यत्वस्याऽनुपलब्धेरसिद्धः कार्यत्वलक्षणो हेतुः। उपलम्भे वा तत्र ततो जीर्णदेवकुलादिष्विवाऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिः स्यात्; न ह्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सुविवेचितं कार्यं कारणं व्यभिचरति, तस्याऽहेतुकत्वप्रसङ्गात्। अतः क्षित्यादिषु कार्यत्वदर्शनादक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्यनुपपत्तेर्यद् बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं कार्यत्वं देवकुलादिषु निश्चितं तत् तत्र नास्तीत्यसिद्धो हेतुः; केवलं कार्यत्वमात्रं प्रसिद्धं तत्र। न च प्रकृत्या परस्परमर्थान्तरत्वेन व्यवस्थितोऽपि धर्मः शब्दमात्रेणाऽभेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये पर्याप्तो भवति, साध्यविपर्ययेऽपि तस्य भावाविरोधात्; यथा वल्मीके धर्मिणि कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानमिति। यद् बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं तच्च क्षित्यादावसिद्धम्; यच्च क्षित्यादौ कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेनोपन्यस्यमानं सिद्धं तत् साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धव्यतिरेकत्वेनानैकान्तिकम्; न ततोऽभिमतसाध्यसिद्धिः। १० १५ २०

नन्वेतत् कार्यसमं नाम जात्युत्तरम्। तथाहि-'कृतकत्वादनित्यः शब्दः' इत्युक्ते जातिवाद्यत्रापि प्रेरयति-किमिदं घटादिगतं कृतकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तम्, किं वा शब्दगतम्, अथोभयगतमिति? आद्ये पक्षे हेतोरसिद्धिः, न ह्यन्यधर्मोऽन्यत्र वर्तते। द्वितीयेऽपि साधनविकलो दृष्टान्तः। तृतीयेऽप्येतावेव दोषाविति। एतच्च कार्यसमं नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम्; यथोक्तम्-"कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत् साध्यासिद्धिदर्शनं तत् कार्यसमम्" [ ] इति, कार्यत्वसामान्यस्यानित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पनवद् बुद्धिमत्कारणत्वे क्षित्यादेः कार्यत्वमात्रेण साध्येऽभीष्टे धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात्, असदेतत्; यतः सामान्येन कार्यत्वानित्यत्वयोर्विपर्यये बाधकप्रमाणबलाद् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यं शब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं साधयतीति कार्यत्वमात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मविकल्पनं यत् तत्र क्रियेत तत् सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसमजात्युत्तरतामासादयति; न त्वेवं क्षित्यादेर्बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वसामान्यं हेतुत्वेन संभवति, तस्य विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनाऽनैकान्तिकत्वात्। यच्च बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तं देवकुलादौ कार्यत्वं प्रतिपन्नम्-यदक्रियादर्शिनोऽपि जीर्णप्रासादादौ कृतबुद्धिमुत्पादयति-तत् तत्रासिद्धमिति प्रतिपादितम्। २५ ३०

अपि च, यदि अत्र व्यापकनित्यैकबुद्धिमत्कारणं क्षित्यादेः कारणत्वेनाऽभिप्रेतं कार्यत्वलक्षणाद्धेतोः तथा सति घटादौ दृष्टान्तधर्मिणि तत्पूर्वकत्वेन कार्यत्वस्यानिश्चयात् साध्यविकलो दृष्टान्तः, विरुद्धश्च हेतुः स्यात्, अनित्यबुद्ध्याधाराव्यापकाऽनेककर्तृपूर्वकत्वेन व्याप्तस्य कार्यत्वस्य घटादौ निश्चयात्। अथ बुद्धिमत्कारणत्वमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतं क्षित्यादौ तर्हि नित्यबुद्ध्याधार-व्यापकैककर्तृपूर्वकत्वलक्षणस्य विशेषस्य क्षित्यादावसिद्धेर्नेश्वरसिद्धिः। अथ बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यमेव क्षित्यादौ साध्यते, तच्च पक्षधर्मताबलाद् विशिष्टविशेषाधारं सिध्यति निर्विशेषस्य सामान्यस्यासंभवात्, अनित्यज्ञानवतः शरीरिणः क्षित्यादिविनिर्माणसामर्थ्यरहितत्वेन घटादावुपलब्धस्य विशेषस्य बुद्धिमत्कारणत्वसामान्याधारस्य तत्रासंभवात्। नन्वेवं सामान्याश्रयत्वेन यद् घटादौ व्यक्तिस्वरूपं ३५ ४०

१-भ्रान्तरप्रतिक्षेपाभ्यां हा०। -भेदान्तरं प्रतिक्षेपाभ्यां आ०। २-न्धो यु-आ०, वृ०, का०। ३ पृ० १०६ पं० १०। ४-कारत्वमा-भा०, मां० प०। ५-व्यतिरेकि-भा०। ६ न्यायदर्शने पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निके सू० ३७-३८ निरूपितं [कार्यसमम्]। ७ प्र० पृ० पं० १८।

प्रतिपन्नं तस्य क्षित्यादावसंभवात्, अन्यस्य च व्यक्तिस्वरूपस्य विवक्षितसामान्याश्रयत्वेनाप्रसिद्धत्वात्, निराधारस्य च सामान्यस्यासंभवात्, बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यस्यैव क्षित्यादौ न सिद्धिः स्यात्; न हि क्वचिद् गोत्वाधारस्य खण्डादिव्यक्तिविशेषस्याऽसंभवेऽन्यरूपमहिष्यादिव्यक्तिसमाश्रितं गोत्वं कुतश्चिद्धेतोः सिद्धिमासादयति।

५ अथ कार्यत्वस्य क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वाभावेऽभावप्रसङ्गाद् विलक्षणव्यक्त्याश्रितस्यापि तत्सामान्यस्य तत्र सिद्धिर्भवत्येव; यथा महानसविलक्षणगिरिशिखराद्याधारस्याग्निसामान्यस्य धूमात् प्रसिद्धिः। स्यादेतत्, यदि अधूमव्यावृत्तं धूममात्रमनग्निव्यावृत्तेनाग्निना व्याप्तं यथा प्रत्यक्षाऽनुपलम्भलक्षणात् प्रमाणात् प्रसिद्धं तथाऽत्राप्यबुद्धिमत्कारणव्यावृत्तेन बुद्धिमत्कारणत्वमात्रेणाऽकार्यव्यावृत्तस्य कार्यमात्रस्य कुतश्चित् प्रमाणाद् व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण निश्चिता स्यात्, १० यावता सैव न सिद्धा। अथ यथा कार्यधर्मानुवृत्तेः कार्यं हुतभुजो धूमः, स तदभावेऽपि भवन् हेतुमत्तां विलङ्घयेत् इति नाग्निव्यतिरेकेण धूमस्य सद्भाव इति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिसिद्धिस्तथाऽत्रापि भूधरादि कार्यधर्मानुवृत्तितो बुद्धिमत्कारणकार्यम्, तदभावे तद् भवद् निर्हेतुकं स्यादिति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिसिद्धिः। ननु घटादिलक्षणः कार्यविशेषो बुद्धिमदन्वय–व्यतिरेकानुविधायी य उपलभ्यमानस्तत्समानेषु पदार्थेष्वक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिमुत्पादयति, स एव बुद्धिमत्कार- १५ णकार्यत्वात् तदभावे भवन् निर्हेतुकः स्यादिति वक्तुं शक्यम्, न पुनः कार्यत्वमात्रं कारणमात्रहेतुकं बुद्धिमत्कारणाभावे भवन्निर्हेतुकमासज्यते, तद्धि कारणमात्राभावे भवद् निर्हेतुकं स्यात्। न च कार्यविशेषः कर्तारमन्तरेण नोपलब्ध इति कार्यत्वमात्रमपि कर्तृविशेषानुमापकमिति न्यायविदा वक्तुं युक्तम्; अन्यथा धूमविशेषस्तत्कालवह्न्यव्यभिचरितो महानसादावुपलब्ध इति धूपघटिकादौ धूममात्रमपि तत्कालवह्न्यनुमापकं स्यात्। अथ तत्र तत्कालवह्न्यनुमाने ततः प्रत्यक्षविरोधः, स २० तर्हि भूरुहादावप्यकृष्टजाते कर्त्रनुमाने कार्यत्वलक्षणाद्धेतोः समानः। अथ तत्कर्तुरतीन्द्रियत्वाभ्युपगमाद् न प्रत्यक्षविरोधः, धूपघटिकादावपि वह्नेरतीन्द्रियत्वाभ्युपगमे को दोषो येन प्रत्यक्षविरोध उद्भाव्येत? अथ 'यदि तत्र तत्कालसंबन्ध्यनलो भवेत् तदा भास्वररूपसंबन्धित्वात् प्रत्यक्षः स्यात्' इत्यप्रत्यक्षत्वलक्षणो दोषः, ननु भास्वररूपसंबन्धित्वादनलो यदि तत्कालं स्यात् प्रत्यक्ष एव भवेदित्येतदेव कुतोऽवसितम्? महानसादौ तथाभूतस्यैव तस्य दर्शनादिति चेत्, नन्वेवं भूरु- २५ हादावपि यदि कर्ता स्यात् तदा शरीरवान् दृश्य एव स्यात्, घटादौ कर्तुस्तथाभूतस्यैव तस्योपलम्भात् इति समानं पश्यामः।

अथ वृक्षशाखाभङ्गादिकार्यस्याऽदृश्यः पिशाचादिः कर्ता यथाऽभ्युपगतः, स्वशरीराऽवयवानां वाऽपरशरीरव्यतिरेकेणापि यथा वा प्रेरको देवदत्तादिः, तथा भूरुहादिकार्यकर्ताऽदृश्यः शरीरादिरहितश्च यदि स्यात् को दोषः? न कश्चिद् दृष्टव्यतिक्रमव्यतिरेकेण। तथाहि–देवदत्तादेरपि ३० स्वशरीरावयवप्रेरकत्वं विशिष्टशरीरसंबन्धव्यतिरेकेण नोपलब्धमित्येतावन्मात्रमेव तत्र तस्य कर्तृत्वनिबन्धनम्, नापरशरीरसंबन्धस्तत्र तस्योपयोगी इति भूरुहादिकर्तुरपि शरीरसंबद्धस्यैव कार्यकरणे व्यापारो युक्तः नान्यथा। तत्संबन्धश्च तस्य यदि तत्कृतोऽभ्युपगम्यते तदा शरीरसंबन्धरहितस्य तदकरणसामर्थ्यमित्यपरशरीरसंबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः; अन्यथा शरीरसंबन्धरहितस्य कथं प्रस्तुतकार्यकरणम्? तथा, तदभ्युपगमे वाऽपरापरशरीरनिर्वर्तने क्षीणव्यापारत्वादीशस्य न ३५ भूरुहादिकार्यनिर्वर्तनम्। अथ तदनिर्वर्तितं तच्छरीरं तदाऽत्रापि वक्तव्यम्–किं तत् कार्यम्, उत नित्यमिति? यद्याद्यः पक्षः, तदा तस्य कार्यत्वे सत्यपि न कर्तृपूर्वकत्वम्, ततस्तेनैव कार्यत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी। अथ नित्यम्, तदा यथा तच्छरीरस्य शरीरत्वे सत्यपि नित्यत्वलक्षणस्वभावातिक्रमोऽभ्युपगम्यते तथा भूरुहादेः कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृपूर्वकत्वमभ्युपगन्तव्यमिति पुनरपि तैर्हेतुर्व्यभिचारी प्रसक्तः।

४० पिशाचादेस्तु शरीरसंबन्धरहितस्य कार्यकर्तृत्वं मुक्तात्मन इवानुपपन्नम्। अथास्त्येव तस्य शरीरसंबन्धः, किन्त्वदृश्यशरीरसंबन्धादसावदृश्यः कर्ताऽभ्युपगम्यते; ननु कुलालादेरपि शरीरसंबन्ध एव दृश्यत्वं नापरम्, स्वरूपेणात्मनोऽदृश्यत्वात्। अथ दृश्यशरीरसंबन्धात् तस्य दृश्य-

---

१–ना वाऽपर–मां०। २–करणव्या–भां०।

त्वम्; ननु पिशाचादिशरीरस्य शरीरत्वे सत्यपि कथमदृश्यत्वम्? अस्मदादिचक्षुर्व्यापारेण तस्यानुपलम्भादिति चेत्; ननु यथा शरीरत्वे सत्यप्यस्मदादिशरीरविलक्षणं पिशाचादिलक्षणं शरीरमनुपलभ्यत्वेनाभ्युपगम्यते तथा घटादिविलक्षणं भूरुहादि कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृकत्वेन किं नाभ्युपगम्यते? तथाऽभ्युपगमे च पुनरपि प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी । तदेवमसिद्धत्वाऽनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वदोषदुष्टत्वाद् नास्माद्धेतोः प्रस्तुतसाध्यसिद्धिः । तेन यदुक्तम् 'पृथिव्यादिगतस्य कार्यत्वस्याप्रतिपत्तेर्न तस्मादीश्वरावगमः' इति, तद् युक्तमेवोक्तम् ।

यत्तूक्तम् 'पृथिव्यादीनां बौद्धैः कार्यत्वमभ्युपगतम् ते कथमेवं वदेयुः' इति, तदसारम्; प्रकृतसाध्यसिद्धिनिबन्धनस्य कार्यत्वस्य तेष्वसिद्धत्वप्रतिपादनात् । यच्चाभाणि 'येऽपि चार्वाकास्तेषां कार्यत्वं नेच्छन्ति तेषामपि विशिष्टसंस्थानयुक्तानां कथमकार्यता' इति, तदप्ययुक्तम्; संस्थानयुक्तत्वस्यासिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् । यच्च 'संस्थानशब्दवाच्यत्वं केवलं घटादिभिः सामान्यं पृथिव्यादीनाम्, न त्वर्थः कश्चिद् द्वयोरनुगतः समानो विद्यते' तदेवमेव; यत्तूक्तम् 'धूमादावपि पूर्वापरव्यक्तिगतो नैव कश्चिदनुगतोऽर्थः समानोऽस्ति' इत्यादि, तदसङ्गतम्; घटादिसंस्थानेभ्यः पृथिव्यादिसंस्थानस्य वैलक्षण्येन हेतोरसिद्धत्वप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम् 'व्युत्पन्नानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमः, अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति' इति, तदप्यचारु; यतो यद्यनुमाननिमित्तहेतुपक्षधर्मत्व-प्रतिबन्धलक्षणां व्युत्पत्तिमाश्रित्य व्युत्पन्ना अभिधीयन्ते तदा पृथिव्यादिगतसंस्थान-कार्यत्वादौ घटादिसंस्थानवैलक्षण्ये प्रकृतसाध्यसाधके व्युत्पत्तिर्न केषाञ्चिदपि भवति, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य पृथिव्यादौ संस्थानादेरभावात् । भावे वा शरीरादिमतोऽस्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मकलापोपेतस्य घटादौ संस्थानादिहेतुव्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्य कर्तुः पृथिव्यादौ ततः प्रतिपत्तिः स्यात्, न हि हेतुव्यापकमपहायाऽव्यापकस्य विरुद्धधर्माक्रान्तस्याऽपरस्य साध्यधर्मस्य प्रतिपत्तिः साध्यधर्मिणि यथोक्तलक्षणलक्षितहेतुबलसमुत्थेत्यनुमानविदां व्यवहारः । कारणमात्रप्रतिपत्तौ तु ततः तत्र न विप्रतिपत्तिरिति सिद्धसाध्यता । अथ हेतुलक्षणव्युत्पत्तिव्यतिरिक्तां व्युत्पत्तिमाश्रित्य 'व्युत्पन्नानाम्' इत्युच्यते तदा 'केनचित् स्रष्ट्रा जगत् सृष्टम्' इति निर्मूलदुरागमाहितवासनानामस्त्येव पृथिव्यादिसंस्थानवत्त्व-कार्यत्वादेर्हेतोर्धर्मिधर्मताऽवगमादिः; न च तथाभूतधर्मिधर्मताद्यवगमात् साध्यसिद्धिः, वेदे मीमांसकस्याऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादेः धर्मिधर्मताऽवगमादेर्यथाऽपौरुषेयत्वस्य । 'अव्युत्पन्नानां तु प्रसिद्धानुमाने धूमादावपि नास्ति' इति युक्तमेव, अस्माभिरप्यभ्युपगमात् ।

यत्तु 'प्रासादादिसंस्थानादेर्वैलक्षण्येऽपि पृथिव्यादिसंस्थानादेः कार्यत्वादि पृथिव्यादीनामिष्यते, कार्यं च कर्तृ-करण-कर्मपूर्वकं दृष्टम्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतो यदि नाम घटादेर्विशिष्टकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वमुपलब्धं नैतावताऽविशिष्टस्यापि भूरुहादिकार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्; अन्यथा पृथिवीलक्षणस्य कार्यस्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्शगुणयोगित्वमुपलब्धं भूतत्वे सति, वायोरपि तद्योगित्वमभ्युपगमनीयं स्यात्, तत्त्वादेव । अथात्र प्रत्यक्षादिबाधः, स भूरुहादिकार्येष्वपि समान इति प्राक् प्रतिपादितम् । यत्तूक्तम् 'कर्तृपूर्वकस्य कार्यत्वादेस्तद्वैलक्षण्याद् न ततः साध्यावगमः' इत्यादि, तत् सत्यमेव; तद्वैलक्षण्यस्य प्रसाधितत्वात् । अत एव सिद्धम् 'यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् सन्निवेशादि' इत्यादिग्रन्थप्रतिपादितस्य दूषणस्य कार्यत्वादौ सर्वसिद्धीश्वरसाधके हेतौ समानत्वाद् न कस्यचित् तत्साधकता । 'यद्येवमनुमानोच्छेदप्रसङ्गः, धूमादि यथाविधमग्न्यादिसामग्रीभावाभावानुवृत्तिमत् तथाविधमेतद् यदि पर्वतोपरि भवेत् स्यात् ततो वह्न्याद्यवगमः' इत्यादिकस्तु पूर्वपक्षग्रन्थः पूर्वमेव विहितोत्तरः ।

यथा यथाभूतोऽधूमव्यावृत्तो धूमोऽनग्निव्यावृत्तेनाऽग्निना व्याप्तो विपर्यये बाधकप्रमाणबलादवसितो गिरिशिखरादावुपलभ्यमानस्तद्देशमग्निसामान्यमनियततार्ण-पार्णाद्यग्निव्यक्तिसमाश्रि-

---

१ पृ० ९३ पं० २८। २ पृ० ९३ पं० २८। ३ पृ० ११५ पं० ११। ४ पृ० ९३ पं० २९। ५ पृ० ११३ पं० २८। ६ पृ० ९४ पं० २। ७ पृ० ९४ पं० ३। ८ पृ० ११५ पं० ११। ९ पृ० ९४ पं० १३। १० पृ० ९४ पं० १५। ११ पृ० १०८ पं० १९। १२ पृ० ९४ पं० १७। १३ पृ० ९४ पं० ६। १४ पृ० ९४ पं० १८। १५ पृ० ९४ पं० १९। १६ पृ० ११६ पं० ७।

तमनुमापयति; नैवं कार्यत्वमात्रं बुद्धिमत्कारणत्वसामान्येन व्याप्तं विपर्यये बाधकप्रमाणबलाद् निश्चितं किन्तु कारणत्वमा(णमा)त्रेण व्याप्तं तत् तद्बलाद् निश्चितम्, तच्चोपलभ्यमानं क्षित्यादौ कारणमात्रमनुमापयति यथा गिरिशिखरादावुपलभ्यमानो धूमस्तत्संबद्धमग्निमात्रमनियतव्यक्तिनिष्ठम्, तेन 'पृथिव्यादिगतकार्यत्वदर्शनात् कर्तृदर्शिनस्तद्प्रतिपत्तिवत् शिखर्यादिगतवह्न्याद्यदर्शिनां ५धूमादपि तद्प्रतिपत्तिरस्तु' इति कोऽन्योऽनुमानस्वरूपविदो भवतो वक्तुं क्षमः। यदि हि कार्यविशेषाद्धूमलक्षणादुपलभ्यमानाद् गृहीताविनाभावस्य पुंसोऽग्निलक्षणकारणविशेषप्रतिपत्तिर्गिरिशिखरादौ भवति तदा कार्यमात्रात् पृथिव्यादावुपलभ्यमानाद(नाद्)बुद्धिमत्कारणविशेषस्य तत्र प्रतिपत्तौ किमायातम्? कारणमात्रप्रतिपत्तिस्तु ततस्तत्र भवत्येव, "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति"[ ]इति न्यायात्। अत एवान्यस्य संबद्धस्यान्यतः प्रतिपत्तौ कार्यकारणावगमादौ १०प्रयत्नः कार्यः; अन्यथा तदुत्थप्रमाणस्य प्रमाणाभासता स्यात्। यत्तु 'न चात्र शब्दसामान्यं वस्त्वनुगमो नास्तीति युक्तं वक्तुम्, धूमादावपि शब्दसामान्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्' इति, तदप्यसङ्गतम्; धूमादिवैलक्षण्येन पृथिव्यादौ कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणत्वाव्याप्तेः शब्दसामान्यस्य साधितत्वात्।

यच्च 'घटादिवत् पृथिव्यादि स्वावयवसंयोगैरारब्धमवश्य तद्विश्लेषाद् विनाशमनुभविष्यति' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; अवयवसंयोगवत् तद्विश्लेषस्यापि विभागलक्षणस्य विनाशं प्रति हेतुत्वे- १५नोपन्यस्तस्यासिद्धत्वात्; तदसिद्धत्वं च संयोगवद् वक्तव्यम्। 'एवं विनाशाद् वा संभावितात् कार्यत्वानुमानं रचनास्वभावत्वाद् वा' इत्यादि सर्वं निरस्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु चार्वाकं प्रति कार्यत्वसाधनायोक्तम्-'*यथा लौकिक-वैदिकयो रचनयोरविशेषात् कर्तृपूर्वकत्वं तथा प्रासादादि-पृथिव्यादिसंस्थानयोरपि तद्रूपताऽस्तु, अविशेषात्*' तदप्यचारु, तद्विशेषस्य प्रतिपादितत्वात्; ततः कार्यत्वादिलक्षणस्य हेतोरसिद्धतैव। यच्चाभाँपि 'सिद्धत्वेऽपि नास्माद्धेतोः साध्यसिद्धिर्युक्ता, न हि केवलात् २०पक्षधर्माद् व्याप्तिशून्यात् साध्यावगमः' तत् सत्यमेव, व्याप्तिरहिताद्धेतोः साध्यसिद्धेरसंभवात्।

यच्च 'घटादौ कर्तृपूर्वकत्वेन कार्यत्वावगमेऽपि केषाञ्चित् कार्याणामकर्तृपूर्वकाणां कार्यत्वदर्शनान्न सर्वं कार्यं कर्तृपूर्वकम् यथा वनेषु वनस्पत्यादीनाम्' इति, तदपि सत्यमेव 'तस्माद् नेश्वरसिद्धौ कश्चिद्धेतुरव्यभिचार्यस्ति' इत्येतत्पर्यन्तम्। यदप्युक्तम् 'नाऽदृष्टजातैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारो व्याप्त्यभावो वा, साध्याभावे हेतुर्वर्तमानो व्यभिचार्युच्यते, तेषु कर्त्रग्रहणं न कर्त्रभावनिश्चयः' इति, २५तदप्यसारम्; सर्वप्रमाणाविषयत्वेऽपि यदि स्थावरादिषु कर्त्रभावनिश्चयो न भवति तथा सति आकाशादौ रूपाद्यभावनिश्चयो मा भूत्। अथ तत्र रूपादिसद्भावबाधकप्रमाणसद्भावात् तदभावनिश्चयः, सोऽत्रापि समानः। तच्च प्रमाणं प्रदर्शयिष्यामोऽनन्तरमेव।

यत्तूक्तम् 'क्षित्याद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानदर्शनात् तेषाम् तदतिरिक्तस्य कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गदोष इति, एतस्यां कल्पनायां धर्माधर्मयोरपि न कारणता भवेत्' इत्यादि, तदयुक्तम्, धर्मा- ३०धर्मादेः कारणत्वं जगद्वैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्या व्यवस्थाप्यते। तथाहि—सर्वान् उत्पत्तिमतः प्रति भूम्यादेः साधारणत्वात् तदन्याऽदृष्टाख्यविचित्रकारणकृतं कार्यवैचित्र्यम्। न चैवमीश्वरस्य कारणत्वपरिकल्पनायां किञ्चिन्निमित्तं संभवति, तद्व्यतिरेकेण कस्यचिदर्थस्यानुपपद्यमानस्यादृष्टेः। न च चेतनं कर्तारं विना कार्यस्वरूपानुपपत्तिरिति वाच्यं वक्तुम्; (अ)दृष्टस्यैव सुगतसुतैश्चैतन्यस्य जगद्वैचित्र्यकर्तृत्वेनाभ्युपगमात्; तदा तद्व्यतिरिक्ताऽन्येश्वरस्य कल्पनायां निमित्ताभावात्।

३५ न चादृष्टस्य (?) चेतनेष्वपि सकलजगदुपादानोपकरणसंप्रदानाद्यभिज्ञता न संभवतीति तद्व्यतिरिक्तोऽपरो महेशस्तज्ज्ञः कल्पनीय इति वक्तुं युक्तम्, तज्ज्ञानवत्त्वेन तस्याप्यसिद्धेः। न च सकलजगत्संवादादेव तज्ज्ञत्वं तस्य सिद्धम्; इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि—सिद्धे सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे सकलजगत्कर्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तस्य तदभिज्ञत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरे

१ पृ० ५४ प० २० । २ पृ० ५४ प० २२ । ३ पृ० ५४ प० २७ । ४ पृ० ११२ प० ४? त-सयोगादिगमप्रकरणोक्तयुक्त्या विश्लेषस्यापि असिद्धत्व वाच्यम्। ५ पृ० ५४ प० २७। ६ पृ० ५४ प० ४०। ७ पृ० ५५ प ३। ८ पृ० ५५ प० ६ । ९ पृ० ५५ प० २१। १० पृ० ५५ प० ३४। ११ पृ० ५५ प० २७। १२-सनस्य भा०, मा०।

तराश्रयत्वम् । अथ यद् यत् कार्यं तत् तद् उपादानाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमुपलब्धं घटादिवत्; पृथिव्याद्यपि कार्यम्, तेन तदपि तदभिज्ञकर्तृपूर्वकं युक्तमिति नेतरेतराश्रयदोषः । ननु घटादिकार्यकर्तुरपि कुलालादेर्यदपि सर्वथा घटाद्युपादानाद्यभिज्ञत्वं सिद्धं स्यात् तदा युज्येताप्येतद् वक्तुम्; न च तस्याऽपि घटाद्युपादानोपकरणादेः परिमाणाऽवयवसंख्येयत्वाद्यनेकधर्मसाक्षात्करणज्ञानमस्ति, तत्त्वं सिद्धम् (?) । (किं) चिन्मात्रपरिज्ञानं तु चेतनत्वेऽदृष्टस्यापि तदाधारस्य वा सत्त्वस्य तददृष्टनिर्वर्तितफलोपभोक्तुः प्रतिनियतशरीराधिष्ठायकस्य विद्यते इति व्यर्थं व्यतिरिक्तापरज्ञानवतो महेशस्य परिकल्पनम् । न चायमेकान्तः–सर्वं कार्यं तदुपादानाद्यभिज्ञेनैव कर्त्रा निर्वर्त्यत इति; स्वाप-मदावस्थायां शरीराद्यवयवप्रेरणस्य कार्यस्य तदुपादानाभिज्ञानाऽभावेऽपि तत्कृतत्वेनोपलब्धेः ।

यच्चोक्तम्–'न चाकृष्टजातेषु स्थावरादिषु तस्याग्रहणेन प्रतिक्षेपः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाददृष्टवत्' इति, तदप्यचारु; यतो यदि तस्य शरीरसंबन्धरहितस्य कर्तृत्वमभ्युपेयते तत्र युक्तिसङ्गतम्, तत्संबन्धरहितस्य मुक्तात्मन इव जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः । अथ ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षा-समवायाभावाद् मुक्तात्मनोऽकर्तृत्वं न पुनः शरीरसंबन्धाभावादिति विषमो दृष्टान्तः, तदयुक्तम्; ज्ञानादिसमवायस्य कर्तृत्वेनाभ्युपगतस्य तत्राऽपि निषिद्धत्वात् । तस्माच्छरीरसंबन्धादेव तस्य जगत्कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यम् कुलालस्येव घटकर्तृत्वम् । तत्संबन्धश्चेदभ्युपगम्यते कथं न तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम्? कुलालादेरपि शरीरसंबन्धादेव उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम् न पुनः तत्संबन्धरहितस्यात्मनो दृश्यत्वम् । तच्चेश्वरेऽपि शरीरसंबन्धित्वं कर्तृत्वादभ्युपगन्तव्यमित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेस्तत्कर्तुः स्थावरादिष्वभावः सिद्ध इति कथं न तैः कार्यत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी?

अथादृश्यं तच्छरीरमतस्तत्र सदपि नोपलभ्यत इत्ययमदोषः; नन्वेवमपि 'अस्मिन् सति इदं स्थावरादिकं जातम्' इति प्रतिपत्तिर्मा भूत्, तथाऽन्य(ऽप्यन्य)कारणभावेऽपि यथाऽतीन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽभावे रूपादिज्ञानं नोपजायते तथा पृथिव्यादिकारणसाकल्येऽपि कदाचित् तच्छरीरविरहे तत्स्थावरादिकार्यं नोपजायत इति व्यतिरेकात् प्रतीतिः किं न स्यात्? यदा यत्र तच्छरीरं नियमेन संनिहितमिति चा(ना)ऽयं दोषस्तर्हि युगपद्भाविषु त्रिलोकाधिकरणेषु भावेषु का वार्ता? न ह्येकस्य मूर्तस्य सावयवस्य महेश्वरवपुषोऽपि युगपत्सकलव्याप्तिः संभवति । अमूर्तत्वे निरंशप्रसङ्गादाकाशमेव तच्छरीरम्, तस्य तच्छरीरत्वेनाद्याप्यसिद्धत्वात् । अथ यावन्ति क्रमभावीन्यङ्कुरादिकार्याणि तावन्ति तथाविधानि तच्छरीराणि कल्प्यन्ते तर्हि तच्छरीरैः सकलं जगदापूरितमिति नाङ्कुरादिकार्यैरुत्पत्तव्यम् तदुत्पत्तिदेशाभावाद्, नापि माहेश्वरैः क्वचित् प्रवर्तितव्यम्, कुतश्चिद्वा निवर्तितव्यम्; तच्छरीराणां पादाद्यभिघातभयात् । अपि च, तान्यपि कार्याणि, सावयवत्वात्, कुम्भवत्; ततस्तत्करणे तावन्त्येवाऽपराणि तस्य शरीराणि कल्पनीयानि, पुनस्तत्करणेऽपि (इति) नानवस्थातो मुक्तिः । तन्न शरीरव्यापारसहायोऽप्यसौ स्थावरादिकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तम्, अनेकदोषप्रसङ्गात् ।

नाऽपि सत्तामात्रेणाऽसौ स्वकार्यं करोतीति कल्पयितुं युक्तम्, शरीरकल्पनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अथ सर्वोत्पत्तिमतामीश्वरो निमित्तकारणम्, तस्य तत्कारणत्वं सकलकार्यकारणपरिज्ञाने नान्यथा, तत्परिज्ञान(ज्ञानं)चा(चा)नित्य(त्यं)स्ये(से)न्द्रियशरीरमन्तरेणानुपपन्नं. (पन्नम्) अतस्तदर्थं तत्परिकल्पनमिति चेत्, न; सकलहेतुफलविषयं तस्या(तस्याऽनित्यं)स्ये(से)न्द्रियशरीरजं ज्ञानं न संभवति, इन्द्रियाणां युगपत्सर्वार्थसन्निकर्षाभावात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं च नैयायिकैः प्रत्यक्षमभ्युपगम्यते, तदुक्तम्—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायद० अ० १, आ० १, सू० ४] ।

१–ज्ञातकारण वा०, बा० । २ यथोक्त–वा०, बा० विना । ३ पृ० ९५ पं० ३१ । ४–स्य तथा–वा०, बा० । ५–त्वम्–न पुनः वा०, बा० विना । ६–स्मिन् सत्यस्मिन् वा०, बा० विना । ७–था नान्य–वा०, बा० । ८–का प्रती–वा०, बा० । ९ अत्र 'यदा यत्र' स्थाने 'तदा तत्र' इति उचितम् । अथवा पूर्वपक्षानुसारेण 'यदा यत्र पृथिव्यादिकारणसाकल्यं तदा तत्र' इत्यादिको भावोऽत्र अनुसन्धेयः । १०–ति–चो–वा०, बा० । ११–त्परिज्ञानं वा नित्यसेन्द्रिय–वा०, बा० । १२–पत्तेमत–वा०, बा० । १३ तस्यासेन्द्रिय–वा०, बा० ।

सामग्री-फल-स्वरूपविशेषणपक्षत्रयेऽपीन्द्रियार्थसंनिकर्षजस्य तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्; तथा, "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इत्यत्र भाष्यम् "प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्रमितिलक्षणे फले साधकतमवद्" इति अर्थः सहकारि प्रमाणं प्रतिपादितम्, सहकारित्वं चार्थस्य प्रमाणस्य फलजनने व्याप्रियमाणस्य फलजनकत्वेन तस्यापि
५ सहायभावः, 'सह करोतीति सहकारि' इति व्युत्पत्तेः। न चासंनिहितस्यार्थस्यातीतस्यानागतस्य वा प्रमितिलक्षणफलजननं प्रति व्यापारः संभवति। न च प्रमित्यजनकोऽर्थः, तदभ्युपगमे न प्रमाणविपर्यतान्यतः (तैस्यतः) सेन्द्रियशरीरजनितप्रत्यक्षज्ञानवत्त्वाभ्युपगमे महेशस्य न सकलकार्यकारणविषयज्ञानसंभवः; इति शरीरसंबन्धात् तस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमे तदकर्तृत्वमेव प्रसक्तम्, इति न तस्यादृश्यशरीरसंबन्धोऽभ्युपगन्तुं युक्तः।

१० अपि च, घटादि कार्यं दृश्यशरीरसंबद्धपुरुषपूर्वकमुपलब्धम् इत्यङ्कुरादि कार्यमपि तथा कल्पनीयम्। अथ तत्परिकल्पने प्रत्यक्षबाधाऽनवस्थादिदोषादङ्कुरादिकार्यस्य कर्तृपूर्वकतैव विशीर्यत इति न तथाकल्पनम्। ननु तद्विच(तद्वित)रणे को दोषः? अथाङ्कुरादेः कार्यता अनेककरणमात्राभावे समुपजायमानस्य तस्य अकार्यताप्रसक्तिः, न पुनः कर्तृभावे; अन्यथा गोपालघटिकादौ तत्कालाश्यभावे धूमस्याप्यभावप्रसक्तिः, न पुनः कर्तृभावेनाऽनलपूर्वकत्वं व्याप्तिग्रहणकाले धूमस्य
१५ प्रतिपन्नम्, तेन ततस्तत्र तत्कारणमनलाऽनुमानम्(?)। नन्वेवं कार्यमात्रं कारणमात्रपूर्वकत्वेन व्याप्तं व्याप्तिग्रहणकाले प्रतिपन्नमङ्कुरादावुपलभ्यमानं कारणमात्रमिदमनुमापयतु न पुनर्बुद्धिमत्कारणविशेषम्, तेन कार्यमात्रस्य व्याप्तेरनिश्चयात्। न च दृश्यशरीरसंबद्धबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं कार्यविशेषस्योपलब्धमङ्कुरादौ तु कार्यत्वमुपलभ्यमानं तथाभूतकर्तृपूर्वकत्वानुमाने तत्र प्रत्यक्षविरोध इत्यदृश्यसंबद्धशरीरकर्तृपूर्वकत्वमनुमापयतीति वक्तुं शक्यम्; तथाऽभ्युपगमे गोपालघटिकादावपि तत्का-
२० लादृश्याऽनलानुमापको धूमः किं न स्यात्? न च वह्निरदृश्यो न संभवतीति वक्तुं शक्यम्, नायनरश्मिष्वदृश्यस्य तस्य सद्भावाभ्युपगमात्। अथान्यत्रहितरूपोपलब्धयन्यथानुपपत्त्या तस्य तथाभूतस्य परिकल्पनम्; नन्वेवं धूमसद्भावान्यथाऽनुपपत्त्या तत्र तस्य तथाभूतस्य किं न परिकल्पनम्? अपि च, यथाऽनलस्य भास्वररूपसंबन्धित्वे सत्यपि तस्योद्भूतत्वाऽनुद्भूतत्वाभ्यां दृश्यत्वाऽदृश्यत्वे परिकल्प्येते तथा प्रासादाऽङ्कुरादीनां कार्यत्वे किं न परिकल्प्येते न्यायस्य समानत्वात्?
२५ तस्माददृश्यशरीरसंबन्धात् तस्याङ्कुरादिकार्योत्पादकत्वं युक्तम्। दृश्यशरीरसंबन्धात् तत्कर्तृत्वे उपलभ्यानुपलम्भात् कथं तस्य नाऽभावः? यत्पूर्वकम् 'न च सर्वा कारणसामग्र्युपलब्धिलक्षणप्राप्ता' इत्यादि, तत् सत्यमेव; इदं त्वसत्यम्-'ईश्वरस्य कारणत्वेऽपि न तत्स्वरूपग्रहणं प्रत्यक्षेण, अदृष्टवत् कार्यद्वारेण तत्प्रतिपत्तेः' इति; अदृष्टप्रतिपत्ताविवेश्वरप्रतिपत्तौ कार्यत्वादेर्हेतोर्निर्दोषस्याऽसंभवादिति प्रतिपादितत्वात्।

३० यत्पूर्वकम् 'स्थावरेषु कर्त्रग्रहणं कर्त्रभावात्, आहोस्विद् विद्यमानत्वेऽपि तस्याग्रहणमनुपलभ्यस्वभावत्वेन, एवं संदिग्धव्यतिरिक्तत्वे न कश्चिद्धेतुर्गमकः, धूमादेरपि सकलव्यक्त्याक्षेपेण व्याप्त्युपलम्भकाले न सकला वह्निव्यक्तयो दृश्याः' इत्यादि यावत् 'सर्वमुत्पत्तिमत् कर्तृकरणपूर्वकं दृष्टम्, तस्य सकृदपि तथादर्शनात् तज्जन्यतास्वभावः, तस्यैवं स्वभावनिश्चितावन्यतमाभावेऽपि कथं स्वभावः' इति, तदप्यसंगतम्; यतो यादृग्भूतमेव घटादिकार्यं तत्पूर्वकमुपलब्धं तस्य सकृ-
३५ दपि तथादर्शनात् तज्जन्यः स्वभावो व्यवस्थित इति तदन्यतमाभावेऽपि तस्य भावे सकृदपि ततस्तद्भावो न स्यादिति युक्तं च वक्तुम् न पुनस्तद्विलक्षणं भूरुहादिकं कर्तृ-करणपूर्वकं कदाचनाप्युपलब्धम् किन्तु कारणमात्रपूर्वकम्, अतस्तद्भा(तदभा)वे तस्य भवतोऽहेतुकत्वप्रसे-

१ अत्र पृ० १०९ पं० ३ गतपाठानुरोधेन 'भाष्ये' इति बोध्यम्। भाष्य-वा०, बा०। २-न्तरे प्र-हा०, गु०, डे०, वि०, अ०। ३-स्य प्रमाणं ति प्रमा-हा० विना। ४-ति व्युत्पत्तेः मा०, भां०। ५-भ्युपगमने प्र-अ०, डे०, मां०, हा०, भां०।-भ्युपगमा न प्र-वा०, बा०।-भ्युपगमेने प्र-आ०, बृ०, गु०। ६-ता यतः से-अ०।-तायन्यतः से-डे०, च०।-तात्यतः से-वा०, मा०, भां०। ७-कप्रमाकरणामा-गु०। ८ पृ० ९५ पं० ४०। ९ पृ० ९६ पं० २। १० पृ० ११७ पं० ४। ११ पृ० ९६ पं० ५। १२ पृ० ९६ पं० १५। १३-ऽपि सकृदपि तत-भां०, मा०। १४-तदभावो-मां०। १५-त्वाप्रासे-वा०, बा० विना।

स्तादेव तद् गमयतीत्यसकृदावेदितम् । यच्च(यच्चो) 'अनुपलभ्यमानकर्तृकेषु स्थावरेषु कर्तुरनुपलम्भः शरीराद्यभावात्, न त्वसत्त्वात्' इत्यादि, तदपि प्रतिक्षिप्तम्; उक्तोत्तरत्वात् । यदप्युक्तम् 'चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानात् कथं प्रत्यक्षव्यापृतिः' ? तदसंगतम्; तथोपादानाद्यधिष्ठायकत्वस्य क्वचिदप्यदर्शनात्, अदृष्टस्यापि तस्य कल्पने बुद्ध्यनधिष्ठितस्यापि भूरुहाद्युपादानस्य तत्कर्तृत्वं किं न कल्प्यते अदर्शनाविशेषात् ?

यच्चाभ्यधायि 'कार्यस्य शरीरेण सह व्यभिचारो दृश्यते, स्वशरीरावयवानां हि शरीरान्तरमन्तरेणापि प्रवृत्ति-निवृत्ती केवलो विदधाति' इति, तदप्ययुक्तम्; यतः शरीरसंबन्धव्यतिरेकेण चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यनिर्वर्तकत्वं न दृष्टमित्यन्यत्रापि तत् तस्य न कल्पनीयमित्येतावन्मात्रमेव प्रतिपाद्यते, न त्वपरशरीरसंबन्धपरिकल्पनमत्रोपयोगि । यदि च शरीररहितस्यापि तस्य भूरुहादिकार्ये व्यापारः परिकल्प्यते तर्हि मुक्तस्यापि तदन्तरेण ज्ञानसमवायिकारणत्वपरिकल्पनं किं न क्रियते ? तथाऽभ्युपगमे न ज्ञान-सुखादिगुणरहितात्मस्वरूपावस्थितिर्मुक्तिः संभवति इति तदर्थमीश्वराऽऽराधनमसंगतमासज्येत । यदपि 'कार्यं शरीरेण विना करोतीति नः साध्यम्, तत् स्वशरीरगतम्, अन्यगतं वेति नानेन किञ्चित्' इति, तदप्यसारम्; शरीरव्यतिरेकेण कार्यकरणादर्शनात्; स्वशरीरप्रवृत्तिस्वरूपेऽपि कार्ये तच्छरीरसंबद्धस्यैव व्यापारात्, अतः "अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्तते" [ ] इति दूषणं व्यवस्थितमेव, अचेतनस्य शरीरादेः शरीरासंबद्धेच्छामात्रानुवर्तनाऽदर्शनात् । तदसंबद्धस्येच्छाया अप्यभावात् मुक्तस्येव कुतस्तदनुवर्तनमचेतनकार्येण ? अथ अदृष्टाऽपि इच्छा अशरीरस्य स्थाणोः परिकल्प्यते, किमिति भूरुहादिकं कार्यं कर्तृविकलं दृष्टमपि न कल्प्यते ? एतेन 'ईश्वरस्यापि प्रयत्नसद्भावे न काचित् क्षतिः' इति निरस्तम्, शरीराभावे मुक्तात्मन इव प्रयत्नासंभवात् । अपरशरीररहितस्वशरीरावयवप्रेरणप्रयत्नसद्भावोऽपि न शरीराभावे प्रयत्नसद्भावाऽऽवेदकः, सर्वथा शरीररहितस्य तस्य क्वचिदप्यदर्शनात्; दृष्टानुसारिण्यश्च कल्पना भवन्ति । ततः स्थावरेषु शरीराभावाद् न तत्कर्तुरनुपलब्धिः किन्तु कर्तुरभावादिति कथं न तैः कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारः ?

न च यथाऽदृष्टस्येन्द्रियस्य चाऽन्वय-व्यतिरेकयोः कार्यकारणभावव्यवस्थापकयोरभावेऽपि कारणत्वसिद्धिर्व्यतिरेकमात्रात् तथा महेश्वरस्यापि ततस्तत्सिद्धिः, तस्य नित्यव्यापकत्वाभ्युपगमेन व्यतिरेकासंभवात् । अतो न व्याप्तिसिद्धिः कार्यत्वादेस्तत्साधकत्वेनोपन्यस्तस्य हेतोः । 'अत एव न सत्प्रतिपक्षताऽपि, नैकस्मिन् साध्यान्विते हेतौ स्थिते द्वितीयस्य तथाविधस्य तत्रावकाशः' इति सत्यम्, किन्तु स्थाणुसाधकस्य कार्यत्वादेः साध्यान्वितत्वमेव न संभवतीति प्रतिपादितम् । यच्चोक्तम् 'नाऽपि बाधा, अबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य प्रमाणेनाऽग्रहणात्' इति, तदसांप्रतम्; बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाभावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याऽङ्कुरादावकृष्टोत्पत्तौ सद्भावात् । अथाङ्कुरादिकर्तुरतीन्द्रियत्वाद् न प्रत्यक्षात् तदभावसिद्धिः, न, प्रत्यक्षात् तदभावाऽसिद्धावप्यनुमानस्य तत्र तदभावग्राहकस्य भावात् । तथाहि—यद् यस्यान्वय-व्यतिरेकौ नानुविधत्ते न तत् तत्कारणम्, यथा न घटादयः कुलालकारणाः, नानुविदधति चाङ्कुरादयो बुद्धिमत्कारणान्वय-व्यतिरेकाविति व्यापकानुपलब्धिः; यच्च यत्कारणं तत् तस्यान्वय-व्यतिरेकावनुविधत्ते, यथा घटादयः कुलालस्य । न चोपलब्धिमत्कारणसन्निधाने प्रागनुपलब्धस्याङ्कुरादेरुपलम्भस्तदभावे चाऽपरकारणसाकल्येऽपि तस्यानुपलम्भ इत्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानमङ्कुरादिकार्याणाम् ।

अथाङ्कुरादिकर्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽभावाद् न प्रत्यक्षेण सद्भावाऽभावप्रतीतिरिति नाङ्कुरादेस्तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धिर्युक्ता । ननु मा भूत् तदन्वय-व्यतिरेकानुविधानोपलब्धिः, व्यतिरेकानुविधानोपलब्धिस्तु युक्ता, यथा रूपाऽऽलोक-मनस्कारसाकल्येऽपि कदाचिद् विज्ञानकार्यानुत्पत्त्या कारणान्तरस्यापि तत्र सामर्थ्यमवसीयते, यच्च तत्कारणान्तरं सा इन्द्रियशक्तिः, तदभावाद् रूपज्ञानं न संजातमित्यनुपलभ्यस्वभावस्यापि करणस्य व्यतिरेकः कार्येणानुविधी-

१ पृ० ११६ पं० १६ । २ पृ० ९६ पं० १७ । ३-'त्' एतदपि भ-वा० । ४ पृ० ११९ पं० १३ । ५ पृ० ९६ पं० १८ । ६ पृ० ९६ पं० २० । ७ पृ० ९६ पं० २२ । ८ पृ० ९६ पं० २४ । ९ पृ० ९६ पं० २६ । १० पृ० ९६ पं० ३१ । ११ प्र० पृ० पं० २५ । १२ पृ० ९६ पं० ३३ । १३-यस्य दा-भां०, मा० । धo तo १६

यमान उपलभ्यते; न चेहोपलब्धिमत्कारणस्य व्यतिरेकोऽङ्कुरादिकार्येणानुविधीयमान उपलभ्यते, बुद्धिमत्कारणव्यतिरिक्तपृथिव्यादिसामग्रीसकला(ग्रीसाकल्ये)ऽङ्कुरादेरवश्यंभावदर्शनात्। इन्द्रियशक्तेरनित्यत्वाव्यापकत्वेन व्यतिरेकसंभवात् तद्व्यतिरेकानुविधानस्योपलब्धिर्युक्ता, न बुद्धिमत्कारणव्यतिरेकानुविधानस्य; तस्य नित्यत्वव्यापकत्वेन व्यतिरेकानुविधानाभावादिति चेत्, अस्तु नामेदम्, तथाऽपीश्वरस्य ज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षासमवायोऽङ्कुरादिकार्यकरणे व्यापारः, तस्य सर्वदा सर्वत्राऽभावात् तदनुविधानं स्यात्।

अथ तत्समवायस्यापि सर्वत्र सर्वदा भावाद् नायं दोषः, न; तस्य नित्यत्वव्यापकत्वे सत्यपि तद्विशेषणानामीश्वरज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षादीनामनित्यत्वात् अव्यापकत्वाच्च व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत। अथ तज्ज्ञानादेरपि नित्यत्वाद् नायं दोषः सर्वदा तदङ्कुरादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। सर्वदा सहकारिणामसन्निधानाद् नेति चेत्, ननु तेऽपि तज्ज्ञानाद्यायत्तजन्मानः किं न सर्वदा सन्निधीयन्ते? अथ नैव ते तदायत्तोत्पत्तयस्तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतुरनैकान्तिकः। तत्सहकारिणामपि सर्वदा स्वोत्पत्तिहेतूनां सकार्याणामसन्निधानाद् न सर्वदोत्पद्यन्त इति चेत्, अनवस्था, तथा च अपरापरसहकारिप्रतीक्षायामेवोपक्षीणशक्तित्वात् तज्ज्ञानादेः प्रकृतकार्यकर्तृत्वं न कदाचिदपि स्यात्। अतः सुदूरमपि गत्वा क्वचिदवस्थामिच्छता नित्यत्वं सहकारिणाम् अतदायत्तोत्पत्तिकत्वं वाऽभ्युपगमनीयम्, तदायत्तोत्पत्तिकार्यस्याऽपि तज्ज्ञानादिव्यतिरेकेणाऽप्युत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या इति वृथा तत्परिकल्पना। नित्यत्वे वा पुनरपि सहकारिणां तज्ज्ञानादीनां च नित्यत्वात् सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तदेवं तज्ज्ञानादीनां च नित्यत्वात् सर्वदा कार्यस्योत्पत्तिरनुत्पत्तिर्वा स्यात् इत्यनित्यास्तज्ज्ञानादयोऽभ्युपगन्तव्याः; तथा च सति तदन्यसामग्रीसाकल्येऽप्यङ्कुराद्यनुत्पत्तिः कदाचित् स्यात्। सकलतदन्यसामग्रीसन्निधानानन्तरमेव तज्ज्ञानाद्युत्पत्तेर्न कार्यानुत्पत्तिः कदाचित् सामग्रीसाकल्येऽपीति चेत्, सहकारिकारणसंभवास्तर्हि तज्ज्ञानादयः प्राप्ताः; अन्यथा तदनन्तरोत्पत्तिनियमाभावात् सहकारिषु सत्स्वपि कदाचिदङ्कुराद्यनुत्पत्तिः स्यात्। ते तु सहकारिणस्तज्ज्ञानाद्यप्रेरिता एव तज्ज्ञानादि जनयन्तोऽङ्कुरादि जनयन्ति किमन्तर्गडुतज्ज्ञानादिकल्पनया? तज्ज्ञानादिसहकृता एव तज्ज्ञानादिकं जनयन्तीत्यभ्युपगमे तज्ज्ञानाद्यन्तरं सहकारिकारणजन्यमजन्यत्वा (?) तदनन्तरमनुत्पद्यमानं कार्यमपि तज्ज्ञानादिकं तदनन्तरं नोत्पादयति, इत्यायातः स एव कारणान्तरसाकल्येऽप्यङ्कुरादिकार्याद्यनुत्पत्तिप्रसङ्गः, सहकारिभ्यस्तज्ज्ञानाद्यन्तरोत्पत्तौ स एव प्रसङ्गः अनवस्था च। तस्यां चाऽपरापरज्ञानोत्पादन एव सहकारिणां सर्वदोपयोगात्न कार्ये कदाचिदप्युपयोगो भवेत्। सहकारिभिः सह तज्ज्ञानादिकं नियमेनोत्पत्तिमदिति चेत् तर्हि सहकारिणां तज्ज्ञानादेश्चैकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽसहभावात्, तथैकसामग्रीलक्षणं कारणं तज्ज्ञानादिभिरन्यैर्जनितमजनितं वा तज्जनयति? [न चाजनितम्, तथैव कार्यत्वादेर्हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसङ्गात् जनितं तज्ज्ञानादिकमभ्युपगन्तव्यम्, तच्च तेन जन्येन सह नियमेनोत्पद्यमानं तदेकसामग्र्यधीनत्वमभ्युपगन्तरं सामग्र्यधीनं स्यात्। सा च सामग्री तज्ज्ञानान्तरेणोत्पादिता च इति विकल्पद्वये पूर्वोक्तदोषद्वयप्रसङ्गः। प्रागनन्तरोत्पत्तिनियमाभ्युपगमे सहकारिहेतुभिरेकसामग्र्यधीनतया स्यात् तत्रापि सैकसामग्री तज्ज्ञानाद्यन्तरेण प्रेरिता जनयतीत्यभ्युपेयम्; अन्यथाऽचेतनस्याचेतनानधिष्ठितस्य वास्यादेरिव जनकत्वासंभवात्, ज्ञानाद्यन्तरं च प्रेर्यात् सामग्रीविशेषात् प्रागन्तरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्यात्; अन्यथा प्रागनन्तरं नियमेनोत्पत्तिर्न स्यात्। सामग्र्यन्तरं च प्रेरितमप्रेरितं वा जनयतीति विकल्पद्वये दोषद्वयप्रसङ्गः, तेनेमं दोषं परिजिहीर्षता न तज्ज्ञानाद्युत्पत्तिः तदनन्तर सह प्राग्वाऽनन्तरमभ्युपगन्तव्या, तदनन्तरं सह प्राग्वाऽनन्तरमुत्पत्तिनियमाभावेऽपि] चाऽङ्कुरादिकार्यस्य तद्व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत; न चोपलभ्यते, क्षित्युदक-बीजादिकारणसामग्रीसंनिधाने प्रतिबन्धे

१–भ्यते तथेहो–वा०, बा० विना। २–कार्ये नानुवि–वा०, बा० विना। ३–मजन्यस्यो त–वा०, बा०। ४–यन्ति इ–वा०, बा० विना। ५ [ ] एतच्चिह्नान्तर्गत. पाठ खण्डितप्राय। ६–म्, नतैव वा०, बा०। ७–ड्यधीनं त्वमभ्युपनंरतार गा०। ८–पद्यं नन्त–का०। ९–तावेति वा०, बा०। १० प्रागतरं नि–वा०, बा०। ११–गन्तरं नि–वा०, बा०। १२ च प्रेरितं वा ज–हा०, वा०, गु०। १३–नचरं सह प्रा–वा०, बा०।

सर्वस्य कार्यं कारणं च स्यात्, न क्वचिद् कार्यकारणभावव्यवस्था; अन्वय-व्यतिरेकानुविधानं हि कार्यकारणभावव्यवस्थानिबन्धनम्, तदभावेऽपि कार्यकारणभावं कल्पयतः किमन्यत् तद्व्यवस्थानिबन्धनं स्याद् इति? अतोऽतिव्याप्तिपरिहारेण क्वचिदेव कार्यकारणभावव्यवस्थामिच्छता तदभावे कार्यकारणभावो नाभ्युपगन्तव्य इत्यन्वयव्यतिरेकानुविधानेन कार्यकारणभावो व्याप्तः,
५ स यत्रोपलभ्यते तत्रान्वय-व्यतिरेकानुविधानसंनिधापनेन तदभावं बाधत इत्यनुमानसिद्धो व्यतिरेकः; तत्सिद्धेश्चान्वयोऽपि सिद्धः। तथाहि-य एवं सर्वत्र साध्याभावे साधनाभावलक्षणो व्यतिरेकः स एव साधनसद्भावेऽवश्यंतया साध्यसद्भावस्वरूपोऽन्वय इति व्यापकानुपलब्धेः पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकलक्षणः साध्याव्यभिचारः प्रमाणतः सिद्धः। न चैवं कार्यत्वादेरयमविनाभावः संभवति, पक्षव्यापकत्वे सत्यन्वय-व्यतिरेकयोरभावस्य विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः प्रतिपा-
१० दितत्वात्।

अपि च, बुद्धिमत्कारणत्वे तन्वादीनां साध्ये तद्विपर्ययोऽबुद्धिमत्कारणाः परमाण्वादयः, न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणसाध्यव्यावृत्तिनिमित्तकार्यत्वादिनिवृत्तिप्रतिपादकप्रमाणप्रवृत्तिः सिद्धा, घटादेरवयवित्वनिराकरणेन विशिष्टावस्थाप्राप्तपरमाणुरूपत्वात्। न च तेभ्यो बुद्धिमत्कारणव्यावृत्तिकृता कार्यत्वव्यावृत्तिः प्रत्यक्षतः सिद्धा, बुद्धिमत्कारणनिमित्तकार्यत्वग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य प्रत्य-
१५ क्षानुपलम्भशब्दवाच्यस्य तत्र प्रवृत्तेः, परमाण्वन्तरासंसृष्टपरमाणूनां च प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनान्न ततः साध्यव्यावृत्तिप्रयुक्ता साधनव्यावृत्तिप्रतिपत्तिः। नाप्यबुद्धिमत्कारणेषु कार्यत्वादेरदर्शनात् साकल्येन ततो व्यतिरेकसिद्धिः, स्वसंबन्धिनोऽदर्शनस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् सर्वसंबन्धिनोऽसिद्धत्वात्; न ततो विपक्षाद्धेतोर्व्याप्त्या व्यतिरेकसिद्धिः। नाऽपि परमाण्वादीनामनुमानान्नित्यत्वसिद्धेरकार्यत्वस्य कार्यत्वविरुद्धस्य तेषु सद्भावात् ततो व्यावर्तमानः कार्यत्वल-
२० क्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽन्वितः सिध्यति, कार्यत्वस्याबुद्धिमत्कारणत्वेन विरोधासिद्धेरङ्कुरादिष्वबुद्धिमत्कारणनिष्पाद्येष्वपि तस्य संभवात्। अथ नित्येभ्योऽकृतत्वादेव कार्यत्वं व्यावृत्तम्, उत्पत्तिमतां चाङ्कुरादीनां बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन पक्षीकृतत्वान्न तैर्हेतोर्व्यभिचार आशङ्कनीय इति तेषु वर्तमानः कार्यत्वलक्षणो हेतुर्बुद्धिमत्कारणत्वेनान्वितः सिद्धः। स्यादेतत् यदि पक्षीकरणमात्रेणैवाऽबुद्धिमत्कारणत्वाभावस्तेषु सिद्धः स्यात्, तथाऽभ्युपगमे वा पक्षीकरणादेव साध्यसिद्धेर्हे-
२५ तूपादानं व्यर्थम्। अथ तत्सहितात् साध्यनिर्देशात् तदभावसिद्धिः, कथं साकल्येनाऽनिश्चितव्यतिरेकात् कार्यत्वान्नित्यव्यतिरिक्तानां सर्वेषामङ्कुरादीनामबुद्धिमत्कारणत्वाभावसिद्धिः? तदभावासिद्धौ च न साकल्येन व्यतिरेकनिश्चय इति इतरेतराश्रयदोषः कथं न स्यात्? तदेवं व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धौ न साकल्येनान्वयसिद्धिः, तदसिद्धौ च न व्यतिरेकसिद्धिरिति न कार्यत्वादेर्हेतोः प्रकृतसाध्यसाधकत्वम्। न च सर्वानुमानेष्वेष दोषः समानः, अन्यत्र विपर्यये बाधकप्रमाणबला-
३० दन्वय-व्यतिरेकसिद्धेः। न च प्रकृते हेतौ तदस्तीत्यसकृदावेदितम्। तेन 'साध्याभावे हेतोरभावः स्वसाध्यव्याप्तत्वादेव सिद्धः' इति निरस्तम्, यथोक्तप्रकारेण स्वसाध्यव्याप्तत्वस्य प्रकृतहेतोरसंभवात्। 'नाऽपि धर्म्यसिद्धता' इति, एतदपि निरस्तम्; धर्म्यसिद्धत्वस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात्। 'कार्यकारणसद्भावात्' इत्यादिकस्तु ग्रन्थोऽयुक्तत्वेन प्रतिपादितः। अत एवेश्वरावगमे प्रमाणाभावः, तत्प्रतिपादकप्रमाणस्य समानदोषत्वेनान्यस्याऽप्यचेतनोपादानत्वादेर्निराकृतत्वात्।

यच्चोक्तम् 'नाऽपि हेतोर्विशेषविरुद्धता' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतो यदि कार्यमात्रात् कारणमात्रं तन्वादेः साध्यते तदा व्याप्तिसिद्धेर्न विरुद्धावकाशः। अथ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं साध्यते तदा तत्र व्याप्तेरसिद्धत्वं प्रतिपादितमेव। यदि पुनर्घटादौ कार्यत्वं बुद्धिमत्कारणसहचरितमुपलब्धमिति पृथिव्यादावपि तत् साध्यते, तथा सति दृष्टान्तेऽनीश्वराऽसर्वज्ञ-कृत्रिमज्ञानशरीरसंबन्धिकर्तृपूर्वकत्वं कार्यत्वस्योपलब्धमिति ततस्तादृग्भूतमेव क्षित्यादौ सिद्धिमासादयति
४० न तु तत्सहचरितत्वेनाऽदृष्टमीश्वरत्वादिविरुद्धधर्मकलापोपेतबुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वम्। न हि महा-

१-च पूर्वेत्र सा-वा०, बा०। २-धमसङ्गा-वा०, बा०। ३-द्धिः ? तदसिद्धौ च बा०, वा०। ४ प्र० पृ० पं० १२। ५ पृ० ९६ पं० ३३। ६ पृ० ९६ पं० ३५। ७ पृ० १०२ पं० ११। ८ पृ० ९६ पं० ३५। ९ पृ० ९६ पं० ३८।

नसप्रदेशेऽग्निसहचरितमुपलब्धं धूममात्रं गिरिशिखरादावुपलभ्यमानमग्निविरुद्धधर्माध्यासितोदकागमकं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। यच्चोक्तम् 'पूर्वोक्तविशेषणानां धर्मिविशेषरूपाणां व्यभिचारात्' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यादृग्भूतं हि कार्यत्वं घटादावनीश्वरादिधर्मोपेतबुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तमुपलब्धं तादृग्भूतं तदन्यत्रापि जीर्णप्रासादादावुपलभ्यमानमक्रियादर्शिनोऽपि तथाभूतकर्तृपूर्वकत्वप्रतिपत्तिं जनयति। न च तत्र केनचिदनीश्वरत्वादिधर्मेण व्यभिचारः कदाचित् केनाऽप्युपलभ्यते। तथाभूतसाध्यव्याप्तहेतूपलम्भ एव तत्र तदव्यभिचारः, स चेदस्ति कथमनीश्वरत्वादिधर्माणां व्यभिचारादसाध्यत्वं सचेतसा वक्तुं युक्तम्; अन्यथा धूमादग्निप्रतिपत्तावपि भास्वररूपसंबन्धादिधर्माणां व्यभिचारात् तथाभूतस्याग्नेरसाध्यत्वं स्यात्। एतेन 'पूर्वस्माद्धेतोः स्वसाध्यसिद्धावुत्तरेण पूर्वसिद्धस्यैव साध्यस्य किं विशेषः साध्यते, आहोस्वित् पूर्वहेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धः क्रियते'? इत्यादि सर्वं निरस्तम्, यतो यदि कार्यत्वमात्रं हेतुत्वेन क्षित्यादौ साध्यसाधकत्वेनोपादीयते तदा तस्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाऽसाधकत्वम्। अथ घटादौ बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तं यत् कार्यत्वं तत् तत्र हेतुत्वेनोपादीयते, तत् तत्रासिद्धमिति कथं तत् तत्र बुद्धिमत्कारणत्वस्यापि गमकम्? इत्यविशिष्टस्य कार्यत्वस्य व्याप्त्यभावादेवापरविशेषसाधकहेतुव्यापारमन्तरेणाऽपि कार्यत्वस्य हेतोः स्वसाध्यसाधकत्वव्याघातः संभवत्येव, कार्यत्वविशेषस्य तु तत्रासिद्धत्वादेव साध्यासिद्धिलक्षणस्तद्विघातः।

यत्तु 'शब्दस्य कृतकत्वादनित्यत्वसिद्धौ हेत्वन्तरेण गुणत्वसिद्धावपि न पूर्वस्य क्षतिः' इति, तदप्यचारु, गुणत्वं हि द्रव्याश्रितत्वादिधर्मयुक्तत्वमुच्यते, तच्चेच्छब्दे सिद्धिमासादयति तदा पूर्वहेतुसाधितमनित्यत्वं तत्र व्याहन्यत एव; न ह्यनुत्पन्नस्य तस्याऽसत्त्वादेव द्रव्याश्रितत्वम् गुणत्वसमवायो वा संभवति; उत्पन्नस्याप्युत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वेन तत्र संभवति। न च तदाश्रितस्य उत्पत्त्यादिकमेव तत्, खरविषाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गादित्यादि आश्रयादावसिद्धत्वं हेतोः प्रतिपादयद्भिर्निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। सर्वथोत्पादककारणव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य क्षणमात्रस्थितेर्गुणत्वं न संभवति तत्संभवे च क्षणिकत्वं व्याहन्यत इति प्रतिपादयिष्यामः। द्वितीये तु विकल्पे 'न च धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन कस्यचिदपि रूपस्याभावः कथ्यते' इति यदुक्तम्, तदप्यसङ्गतम्; यतो यद्यन्यादृशस्य धर्मिणः कुतश्चिद्धेतोः क्षित्यादौ सिद्धिः स्यात् तदा युज्येताऽपि वक्तुम्-धर्मिविशेषविपर्ययोद्भावनेन न कस्यचिद्धेतुरूपस्याभाव इति, तथाभूतस्य तु धर्मिणो न प्रकृतसाधनादागम इति प्रतिपादितम्। अत एवागमाद् हेत्वन्तराद् वा न तत्र विशेषसिद्धिः, बुद्धिमत्कारणस्यैव धर्मिणः क्षित्यादिकर्तृत्वेनासिद्धत्वात्। ततः 'तथाऽन्वयव्यतिरेकिपूर्वं केवलव्यतिरेकिसंज्ञकं तदेव चान्वयव्यतिरेकिलक्षणं पक्षधर्मताप्रसादाद् विशेषसाधनम्' इति प्रतिपादनं दूरापास्तम्, धर्म्यसिद्धौ तद्विशेषसिद्धेर्दूरोत्सारितत्वात्। अत एव 'य इत्थम्भूतस्य पृथिव्यादेः कर्त्ता नियमेनाऽसावकृत्रिमज्ञानसंबन्धी शरीररहितः सर्वज्ञ एक इत्येवं यदा विशेषसिद्धिस्तदा न विशेषविरुद्धानामवकाशः' इति निःसारतया व्यवस्थितम्।

यत्तूक्तम् 'शरीरसंबन्धस्य तावद् व्याप्त्यभावेन तत्र निराकृतिः, शरीरान्तररहितस्याऽप्यात्मनः शरीरधारण-प्रेरणक्रियासु यथा व्यापारस्तथेश्वरस्यापि क्षित्यादिकार्ये' इति, तदप्ययुक्तम्; अपरशरीररहितत्वेऽप्यात्मनः शरीरसंबद्धस्यैव तद्धारणादिकर्तृत्वोपलब्धेरीश्वरस्यापि शरीरसंबद्धस्यैव कार्यकर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यमिति प्रतिपादितत्वात्। यदि च शरीरसंबन्धाभावेऽपि तस्य क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वं तदा वक्तव्यम्-किं पुनस्तत् तत्र? ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायः तत् तत्रोक्तमेवेति चेत्, न, समवायस्य निषिद्धत्वात्। न च कुम्भकारादौ शरीरसंबन्धव्यतिरेकेणाऽन्यत् कर्तृत्वमुपलब्धमितीश्वरेऽपि तदेव परिकल्पनीयम्, दृष्टानुसारित्वात् कल्पनायाः। न च शरीरव्यतिरेकेण ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानामपि सद्भावः क्वचिदप्युपलब्ध इति नेश्वरेऽपि तदभावेऽसावभ्युपग-

---

१ पृ० ९७ पं० २। २ पृ० ९७ पं० ८। ३ पृ० ९८ पं० १०। ४-णव्यतिरिक्तस्य वा०, बा०। ५ पृ० ९७ पं० १३। ६ धर्मविशेषस्य वि-वा०, बा०। ७-तस्य ध-वा०, बा०। ८ पृ० ९७ पं० १६-२९। ९-पूर्वकैव-वा०, बा०, हा०। १० पृ० ९७ पं० २९। ११ पृ० ९८ पं० २। १२ पृ० ११६ पं० २५-३१। १३ पृ० १०६ पं० १०।

न्तव्यः। तथाहि-ज्ञानादीनामुत्पत्तावात्मा समवायिकारणम्, आत्म-मनःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादि निमित्तकारणम्; न च कारणत्रयाभावे परेण कार्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते। न चाऽसमवायिकारणात्म-मनःसंयोगादिसद्भाव ईश्वरेऽभ्युपगत इति न ज्ञानादेरपि तत्र भावः।

अथासमवायिकारणादेरभावेऽपि तत्र ज्ञानाद्युत्पत्तिस्तर्हि निमित्तकारणेश्वरव्यतिरेकेणाङ्कुरादेः ५ किमिति नोत्पत्तिर्युक्ता? अथ ज्ञानाद्यभावे तदनधिष्ठितानां कथमचेतनानां तदुपादानादीनां प्रवृत्तिः वास्यादिवदचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यदर्शनात्? प्रवृत्तावपि निरभिप्रायाणां देश-कालाऽऽकारनियमो न स्यात्, तदधिष्ठितस्यैव तस्य तन्नियतत्वदर्शनात्। नन्वेवं चेतनस्यापि चेतनान्तरानधिष्ठितस्य कर्मकरादेरिव स्वाम्यनधिष्ठितस्य कथं प्रवृत्तिः? अथ स्वामिन एवान्यानधिष्ठितस्य चेतनस्य प्रवृत्तिरुपलभ्यते, किमङ्कुरादेरकृष्टोत्पत्तेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यते? अथ १० घटादेरुपादानस्य तदनधिष्ठितस्य तत्करणे प्रवृत्तिर्नोपलभ्यत इत्यङ्कुराद्युपादानस्यापि तदधिष्ठितस्यैव सा प्रसाध्यते तर्हि कर्मकरादेरपि स्वाम्यनधिष्ठितस्य सा नोपलभ्यत इति स्वामिनोऽप्यपरचेतनान्तराधिष्ठितस्य सा साध्यताम्। यदि पुनः स्वामिनोऽप्यधिष्ठाता चेतनो महेशः परिकल्प्यते तर्हि तस्याप्यपर इत्यनवस्था।

न च चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इति प्रयोगे १५ 'अचेतनम्' इति धर्मिविशेषणस्य 'अचेतनत्वादेः' इति हेतोश्चोव्यर्थमुपादानम्, अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे व्यवच्छेद्याभावात्। न चाचेतनानामपि स्वहेतुसन्निधिसमासादितोत्पत्तीनां चेतनाधिष्ठातृव्यतिरेकेणापि देश-कालाऽऽकारनियमोऽनुपपन्नः, तन्नियमस्य स्वहेतुबलायातत्वात्; अन्यथाऽधिष्ठातृज्ञानकृतोऽपि स न स्यात्। तज्ज्ञानस्य सर्वाऽचेतनाधिष्ठायकत्वे क्षणिकत्वे च-तज्ज्ञेयत्वमेव तदधिष्ठितत्वम्—तेषां सर्वकालभाविकार्ये तदैव प्रवृत्तिरिति एकक्षण २० एवोत्तरकालभाविकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, अपरक्षणेऽपि तथाभूततज्ज्ञानसद्भावे पुनरप्यनन्तरकालकार्योत्पत्तिः सदैव, इति योऽयं क्रमेणाङ्कुरादिकार्यसद्भावः स विशीर्येत। कतिपयाचेतनविषयत्वे च तज्ज्ञानादेः तदविषयाणां स्वकार्ये प्रवृत्तिर्न स्यात् इति तत्कार्यशून्यः सकलः संसारः प्रसक्तः, न हि तज्ज्ञानादिविषयत्वव्यतिरेकेणापरं तेषां तदधिष्ठितत्वं परेणाभ्युपगम्यते। अथ नित्यं तज्ज्ञानादि; नन्वेवं 'क्षणिकं ज्ञानम्, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, शब्दवत्' इत्यत्र प्रयोगे २५ महेशज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारः।

अथ 'तज्ज्ञानादिव्यतिरेके सति' इति विशेषणान्नायं दोषः, न; विपक्षविरुद्धविशेषणं हेतोस्ततो व्यावर्तकं भवति; अन्यथा तद्व्यावर्तकत्वायोगात्। न चाक्षणिकत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वं विरुद्धम्, द्विविधस्यापि विरोधस्यानयोरसिद्धेः। न च विपक्षाविरुद्धविशेषणोपादानमात्रेण हेतोर्व्यभिचारपरिहारः; अन्यथा न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात्, सर्वत्र व्यभिचारविषये 'एतद्व्यतिरिक्तत्वे सति' इति ३० विशेषणस्योपादातुं शक्यत्वात्। न च नैयायिकमतेनाक्षणिकं ज्ञानं संभवति' "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इति वचनात् अर्थकार्यं ज्ञानं तद्विषयमभ्युपगतम्, अर्थश्च क्रमभावी अतीतोऽनागतश्च। यच्च क्रमवज्ज्ञेयविषयं ज्ञानं तत् क्रमभावि, यथा देवदत्तादिज्ञानं ज्वालादिगोचरम्, क्रमवज्ज्ञेयविषयं चेश्वरज्ञानमिति स्वभावहेतुः।

प्रसङ्गसाधनं चेदम्, तेनाश्रयासिद्धता हेतोर्नाशङ्कनीया। न च विपर्यये बाधकप्रमाणाभावाद् ३५ व्याप्यव्यापकभावासिद्धेर्न प्रसङ्गसाधनावकाशोऽस्तीति वक्तव्यम्, तस्य भावात्। तथाहि—यदि क्रमवता विषयेण तद् ईश्वरज्ञानं स्वनिर्भासं जन्यते तदा सिद्धमेव क्रमित्वम्। अथ न जन्यते तदा प्रत्यासत्तिनिबन्धनाभावाद् न तद् जानीयात्, विषयमन्तरेणापि च भवतः प्रामाण्यमभ्युपगतं हीयेत, अतीतानागते विषये निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति विपर्ययबाधकसद्भावः सिद्धः।

तज्ज्ञानादेश्च नित्यत्वे तद्विषयत्वमन्तरेणापरस्य चेतनाधिष्ठितत्वस्याभावादविकलकारणस्य ४० जगतो युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। तथाहि-यद् अविकलकारणं तद् भवत्येव, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तायाः सामग्र्या अविकलकारणो भवन्नङ्कुरः, अविकलकारणं च सर्वदा सर्वमीश्वरज्ञानादिहेतुकं जगत् इति

---

१ अत्र स्थले प्रमेयकमलमार्तण्डे एतादृश पाठ—"चेतनस्यापि अपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे च 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इत्यत्र प्रयोगे 'अचेतनम्' इति धर्मिविशेषणस्य 'अचेतनत्वात्' इति हेतोश्चाऽपार्थकत्वं व्यवच्छेद्याभावात्"—पृ० ७८ प्र०, पं० १३। २ पृ० १०१ पं० २५। ३-श्च व्यर्थ-वा०, बा० विना।

युगपद् भवेत् । { स्यादेतत्, नेश्वरबुद्ध्यादिकमेव केवलं कारणम् अपि तु धर्माऽधर्मादिसहकारि-
कारणमपेक्ष्य तत् तत् करोति, निमित्तकारणत्वादीश्वरबुद्ध्यादेः; अतो धर्मादेः सहकारिकारणस्य
वैकल्यादविकलकारणत्वमसिद्धम्, असदेतत्; यदि हि तस्य सहकारिभिः कश्चिदुपकारः क्रियेत
तदा स्यात् सहकारिसव्यपेक्षता, यावता नित्यत्वात् परैरनाधेयातिशयस्य न किञ्चित् तस्य सहका-
रिभ्यः प्राप्तव्यमस्ति किमिति तत् तथाभूतान् अनुपकारिणोऽपेक्षेत? किञ्च तेऽपि सहकारिणः ५
किमिति सततं न सन्निहिता भवन्ति यदि तज्जन्याः? अपरस्वसन्निधिहेतुसहकारिवैकल्यादिति
नोत्तरम्, तेषामपि तत्संनिधिसहकारिणां तदायत्तोत्पत्तीनां तदेव सन्निधिप्रसक्तेः कथमसिद्धता
हेतोः? अथ नित्यत्वे तद्बुद्ध्यादिकं सहकारिकारणमुत्पाद्य पश्चादङ्कुरादिकार्यमुपजनयतीत्यभ्युपगम-
स्तर्ह्यपरापरसहकारिजनने एवोपक्षीणशक्तित्वात् तस्य नाङ्कुरादिकार्यजननम् । अथातज्जन्या एव
धर्माऽधर्मादिसहकारिणः अतोऽयमदोषः, नन्वेवं तैरेव 'अचेतनोपादानत्वात्' इति हेतुरनैकान्तिकः १०
स्यात्, अतस्तदायत्तसंनिधयो धर्मादिसहिकारिण इति नाविकलकारणत्वाख्यो हेतुरसिद्धः ।

न चानैकान्तिकोऽपि, अविकलकारणत्वहानिप्रसङ्गात्, अविकलकारणस्याप्यनुत्पत्तौ सर्वदैवा-
नुत्पत्तिप्रसङ्गाच्च विशेषाभावात् । एतेन यदपि उद्द्योतकरेणोक्तम्–"यद्यपि नित्यमीश्वराख्यं कारण-
मविकलं भावानां सन्निहितं तथापि न युगपदुत्पत्तिः, ईश्वरस्य बुद्धिपूर्वकारित्वात् । यदि हीश्वरः
सत्तामात्रेणैवाऽबुद्धिपूर्वं भावानामुत्पादकः स्यात् तदा स्यादेतच्चोद्यम्; यदा तु बुद्धिपूर्वं करोति १५
तदा न दोषः तस्य स्वेच्छया कार्येषु प्रवृत्तेः, अतोऽनैकान्तिकतैव हेतोः" [ ] इति, तदपि
निरस्तम्; न हि कार्याणां कारणस्येच्छाभावाभावापेक्षया प्रवृत्ति-निवृत्ती भवतः येनाऽप्रतिबद्धसा-
मर्थ्येऽपीश्वराख्ये कारणे सदा सन्निहिते तदीयेच्छाऽभावाद् न प्रवर्तेरन्, किं तर्हि कारणगतसामर्थ्य-
भावाभावानुविधायिनो भावाः । तथाहि–इच्छावतोऽपि कर-चरणादिव्यापाराक्षमात् कुलालादेर-
समर्थाद् नोत्पद्यन्ते घटादयो भावाः, समर्थाच्च बीजादेरनिच्छावतोऽपि समुत्पद्यमाना उपलभ्यन्तेऽङ्कु-२०
रादयः । तत्र यदीश्वराख्यं कारणं कार्योत्पादकालवदप्रतिहतशक्ति सदैवावस्थितं भावानां तत् किमिति
तदीयामनुपकारिणीं तामिच्छामपेक्षन्ते येनोत्पादकालवद् युगपन्नैवोत्पद्येरन्? एवं हि तैरविकल-
कारणत्वमात्मनो दर्शितं भवेत् यदि युगपद् भवेयुः । न चापीश्वरस्य परैरनुपकार्यस्य काचिदपे-
क्षाऽस्ति येनेच्छामपेक्षेत । न च बुद्धिविशेषव्यतिरेकेणापरेच्छा तस्य संभवति ।

बुद्धिश्चेश्वरस्य यदि नित्या व्यापिन्येका चाऽभ्युपगम्येत तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री २५
भविष्यतीति किमपरतदाधारेश्वरात्मपरिकल्पनया ? अथानाश्रितं तज्ज्ञानं न संभवतीति तदा-
त्मपरिकल्पना; ननु तदात्माऽप्यनाश्रितो न संभवतीति अपरापराश्रयपरिकल्पनयाऽनन्तेश्वरप्रसङ्गः ।
अथ द्रव्यत्वात् तस्याऽनाश्रितस्यापि सद्भावः न बुद्धेः गुणत्वात् इति नायं दोषः । ननु कुतस्तस्या
गुणत्वम्? तत्र समवेतत्वादिति नोत्तरम्, तस्यैवानिश्चयात् । तदाधेयत्वात् तस्याः तत्समवेतत्वमिति
चेत्, ननु केनैतत् प्रतीयते? न तावदीश्वरेण, तेनात्मनः ज्ञानस्य चाऽग्रहणात् 'इदमत्र समवेतम्' ३०
इति तस्य प्रतीतेरयोगात् । तज्ज्ञानस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमित्यपि नोत्तरम्, अन्योन्यसं-
श्रयात्–सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र समवेतत्वसिद्धिः, अस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः ।
तत्रेश्वरस्तज्ज्ञानमात्मनि समवेतमवैति, यश्चात्मीयमपि ज्ञानमात्मनि व्यवस्थितं न वेत्ति स सर्वजग-
दुपादान–सहकारिकारणादिकमवगमयिष्यतीति कः श्रद्धातुमर्हति? नापि तज्ज्ञानमवैति 'स्थाणावहं
समवेतम्' इति, तेनात्मनोऽवेदनात् आधारस्य च । न च तद्ग्रहणे 'इदं मम रूपमत्र स्थितम्' इति ३५
प्रतीतिः संभवति । न च तत् आत्मानमप्यवैति, अस्वसंविदितत्वाभ्युपगमात् । न चापरं तद्ग्राहकं
नित्यं ज्ञानं तस्येश्वरस्यापि संभवति–येनैकेन सकलं पदार्थजातमवगमयति, अपरेण तु तज्ज्ञानम्–
समानकाले यावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेस्तत्रापि तत्कल्पनाऽसंभवात् । तत्कल्पने
वाऽकर्तृकमङ्कुरादिकार्यं किं न कल्प्येत? अस्तु वा तत्र यथोक्तं ज्ञानद्वयम् तथापि तयोर्ज्ञानयोरन्य-
तरेण स्वग्रहणविधुरेण न स्वाधारस्य, न सहचरस्य ज्ञानस्य, नाप्यन्यस्य गोचरस्य ग्रहणम् । तथाहि–४०
यत् स्वग्रहणविधुरं तन्नान्यग्रहणम्, यथा घटादि, स्वग्रहणविधुरं च प्रकृतं ज्ञानम्, ततोऽनेन सह-
चरस्याग्रहणात् कथं तेनास्य ग्रहणम्? तेनापि ग्रहणनिरहितेनाऽस्य वेदने तदेव वक्तव्यम् इति न
कस्यचिद् ग्रहणम् इति न तत्समवेतत्वेन तद्बुद्धेर्गुणत्वम्, नापि तदाधारस्य द्रव्यत्वं सिद्धिमुपग-

1 उक्तमेतद् न्यायवार्तिके "तन्त्वाभावात् गतनप्रति इति चेत्" इति पक्षस्य चर्चावसरे पृ० ४६३ पं० ७ ।

च्छति। तस्मान्नित्यबुद्धिपूर्वकत्वेऽङ्कुरादीनां किमिति युगपदुत्पादो न भवेत् ईश्वरवत् तद्बुद्धेरपि सदा सन्निहितत्वात्? अनित्यबुद्धिसव्यपेक्षस्यापीश्वरस्याचेतनाधिष्ठायकत्वेन जगद्विधातृत्वे तस्य नित्यत्वेन तद्बुद्धेरपि सदा सन्निहितत्वम्, अविकलकारणयोः सर्वदा सन्निहितत्वात् युगपदङ्कुरादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तस्मात् 'बुद्धिमत्त्वात्' इति विशेषणमकिञ्चित्करमेव, इति नाऽनैकान्तिकता हेतोः।

५ न चापि विरुद्धता, सपक्षे भावात्।} न चैवं भवति तस्माद् विपर्ययप्रयोगः—यद् यदा न भवति न तत् तदानीमविकलकारणम्, यथा कुशूलावस्थितबीजावस्थायामनुपजायमानोऽङ्कुरः, न भवति चैकपदार्थोत्पत्तिकाले सर्वं विश्वम् इति व्यापकानुपलब्धिः। न च सिद्धसाध्यता, ईश्वरस्य तज्ज्ञानादेर्वा कारणत्वे विकलकारणत्वानुपपत्तेः प्रसाधितत्वात्। तन्न नित्यज्ञान-प्रयत्न-चिकीर्षाणां तत्समवायस्य वा नित्यस्य कर्तृत्वं युक्तम्।

१० तस्माच्छरीरसंबन्धस्यैव कुम्भकारादौ कर्तृत्वव्यापकत्वेन प्रतीतेस्तदभावे कर्तृत्वस्याऽपि व्याप्यस्याभावप्रसङ्गः। तच्च क्वचित् करादिव्यापारेण कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणम्—यथा कुम्भकारस्य दण्डादिकारणप्रयोक्तृत्वम्, अपरं वाग्व्यापारेण—यथा स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वस्वरूपम्, अन्यच्च प्रयत्नव्यापारेण—यथा जाग्रतः स्वशरीरावयवप्रेरकत्वस्वभावम्, किञ्चिच्च निद्रा-मद-प्रमादनिशेषेण ताल्वादि-करादिप्रेरकत्वम्, सर्वथा शरीरसंबन्ध एव कर्तृत्वस्य व्यापकः; स चेदीश्वराद्विनिर्वर्तते

१५ स्वव्याप्यमपि कर्तृत्वमादाय निवर्तते इति न तस्य कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गः। अथ तस्य जगत्कर्तृत्वमभ्युपगम्यते तदा शरीरसंबन्धः कर्तृत्वव्यापकोऽभ्युपगन्तव्य इति प्रसङ्गविपर्ययः। न च कारकशक्तिपरिज्ञानलक्षणं तस्य कर्तृत्वम्—येन प्रसङ्ग-विपर्यययोर्व्याप्त्यसिद्धेरभावः स्यात्—कुम्भकारादौ मृद्दण्डादिकारकशक्तिपरिज्ञानेऽपि शरीरव्यापाराभावे घटादिकार्यकर्तृत्वादर्शनात् सुप्त-प्रमत्तादौ च ताल्वादिकारणपरिज्ञानाभावेऽपि तद्व्यापारे प्रयत्नलक्षणे सति तत्प्रेरणकार्यदर्शनात्।

२० यदप्यभिधानमात्रेण विषापहारादिकार्यकर्तृत्वम् तदपि न ज्ञानमात्रनिबन्धनम् किन्तु शरीरसंबन्धाऽविनाभूतविशिष्टात्मप्रयत्नहेतुकमेव।

अपि च, विशिष्टधर्माऽधर्माद्युपदेशविधायीश्वरः सर्वज्ञत्वेन मुमुक्षुभिरपास्य, अन्यथा तदुपदेशानुष्ठाने तेषां विप्रलम्भशङ्कया तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। तदुक्तम्—

"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये।
२५ अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः" ॥ [ ]

तस्य च सर्वज्ञत्वे सत्यप्यशरीरिणो वक्त्राभावादुपदेष्टृत्वाऽसंभव इति तत्कृतत्वेन तदुपदेशस्य प्रामाण्याऽसिद्धेर्न मुमुक्षूणां तत्र प्रवृत्तिः स्यादिति उपदेशकर्तृत्वे तस्य शरीरसंबन्धोऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यः, व्याप्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकत्वात्। शरीरसंबन्धाभावे तु व्याप्यस्याप्युपदेशविधातृत्वस्याभाव इति प्रसङ्ग-विपर्ययौ। व्याप्यव्यापकभावप्रसाधकं च प्रमाणं ताल्वादि-

३० व्यापाराभावेऽप्युपदेशस्य सद्भावे तस्य तद्धेतुकत्वं न स्यादिति कार्यकारणभावप्रसाधकं प्रागेव प्रदर्शितमिति न पुनरुच्यते। तत् स्थितमेतत्—न शरीराभावे महेशस्य कर्तृत्वमिति। तेन शरीर-मनःसंबन्धाभावे प्रयत्न-बुद्ध्यादेरभावादीश्वरसत्तैवासिद्धा। अतः 'तदभावे कस्य विशेषः शरीरादियोगलक्षणः साध्यते?' इत्यादिपूर्वपक्षवचनं निःसारतया व्यवस्थितम्, प्रसङ्ग-विपर्यययोर्निमित्तभूतव्याप्तिप्रदर्शनस्य विहितत्वात्। यदप्युक्तम् 'ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नानां समवायोऽस्तीश्वरे,

३५ ते तु ज्ञानादयस्तत्र नित्याः' इति, तदप्ययुक्तत्वेन प्रतिपादितम्। यच्चोक्तम् 'तत्र शरीरसंबन्धस्य व्याप्त्यभावादसिद्धिः', तदप्यसत्; शरीरसंबन्धस्य कर्तृत्वव्यापकत्वप्रतिपादनात्।

यदप्युक्तम् 'नाप्यसर्वज्ञत्वं विशेषः कुलालादिषु दृष्टस्तत्र साध्यते' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, कुलालादेर्घटादिकार्यस्योपादानाद्यभिज्ञत्वे कर्मादिनिमित्तकारणाभिज्ञत्वप्राप्ते सर्वज्ञत्वप्रसक्तिः इति व्यर्थमपरेश्वरसर्वज्ञपरिकल्पनम्, तद्विवेकातीन्द्रियाऽदृष्टपरिज्ञानवत् तस्यापि सकलपदार्थपरिज्ञान-

४० प्रसक्तेः। अथादृष्टापरिज्ञानेऽपि कुलालो मृत्पिण्डदण्डादिकतिपयकारकशक्तिपरिज्ञानादेव घटादिलक्षणं स्वकार्यं निर्वर्तयतीति, तर्हीश्वरोऽप्यतीन्द्रियाशेषपदार्थपरिज्ञानमन्तरेणापि कतिपयकारकशक्तिपरिज्ञानादेव स्वकार्यं निर्वर्तयिष्यति इति न सकलकार्यकर्तृत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तस्यातीन्द्रि-

१ पृ० ५७ पं० १८। २ पृ० ९८ पं० ८। ३ पृ० ९८ पं० १३। ४ पृ० ११६ पं० २३। ५ पृ० ९८ पं० १५। ६ प्र० पृ० ५० १४। ७ पृ० ९८ पं० १६।

यावदशेषपदार्थज्ञत्वलक्षणसर्वज्ञत्वसिद्धिः । यच्चोक्तम् 'क्षेत्रज्ञानां नियतार्थविषयग्रहणं सर्वविदधिष्ठितानाम्, यथा प्रतिनियतशब्दादिविषयग्राहकाणामनियतविषयसर्वविदधिष्ठितानां जीवच्छरीरे' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतः शब्दादिविषयग्राहकाणामिति दृष्टान्तत्वेनोपन्यासो यदीन्द्रियाणां तदा तेषां करणत्वाद् वेदनलक्षणक्रियाऽनाश्रयत्वात् कथं नियतशब्दादिविषयग्रहणम्? अथ ग्रहणाधारत्वेन न तेषां नियतशब्दादिविषयग्रहणं किन्तु करणत्वेन; नन्वेवं क्षेत्रज्ञानामपि विषयग्रहणे करणत्वम् न ५
कर्तृत्वमिति घटादि कुलालकर्तृकं तत्कारणशक्तिपरिज्ञानेन न सिद्धमिति कुतस्तद्दृष्टान्तात् क्षित्यादेर्ज्ञानाधारकर्तृकत्वं सिद्धिमुपगच्छति? यदि पुनर्ज्ञानसमवायेन चक्षुरादीनां नियतविषयाणां कर्तृत्वेऽप्यनियतविषयाऽपरक्षेत्रज्ञकर्त्रधिष्ठितत्वमङ्गीक्रियते तर्हि चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां नियतविषयाणां यथा परोऽनियतविषयश्चेतनोऽधिष्ठाता तथा तस्याऽपि प्रतिनियतविषयत्वकल्पनायामपरोऽनियतविषयस्तदधिष्ठाताऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यपर इत्यनवस्थाप्रसक्तिः । तथा, चेतनानामपि क्षेत्रज्ञानां १०
यदा चेतनोऽधिष्ठाताऽभ्युपगम्यते तदा 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्तते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत्' इति प्रयोगेऽचेतनग्रहणं धर्मि-हेतुविशेषणं नोपादेयं स्यात्, व्यवच्छेद्याऽभावात् ।

यत्तूक्तम् 'भवत्वनिष्ठा यदि तत्प्रसाधकं प्रमाणं किञ्चिदस्ति, तावत एवाऽनुमानसिद्धत्वात्' इति, तदप्यसङ्गतम्, यतः प्रमाणमन्तरेण हेत्वाभासाद् यद्येकस्य सिद्धिरभ्युपगम्यते अपरस्यापि तत एव सा किं नाभ्युपगम्यते? प्रमाणसिद्धत्वं तु तावतोऽपि नास्ति, अनिष्ठया तत्प्रसाधकस्य प्रमाण- १५
स्याप्रामाण्याऽऽसञ्जनाद् । यदप्युक्तम् 'आगमोऽप्यस्मिन् वस्तुनि विद्यते' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; आगमस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्याच्च ततस्तत्सिद्धिरितीतरेतराश्रयप्रसक्तेः । नित्यस्य त्वागमस्य प्रामाण्यं वैशेषिकैर्नाभ्युपगतम्, ईश्वरकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नाप्यन्येश्वरकृततदागमात् तत्सिद्धिः, तत्रापि तत्कृतत्वेन प्रामाण्ये इतरेतराश्रयदोषात् । अपरेश्वरप्रणीताऽपरागमकल्पनेऽपि तदेव वक्तव्यमित्यनिष्ठाप्रसक्तिः । तदेवं स्वरूपेऽर्थे आगमस्य प्रामाण्येऽपि न तत ईश्वरसिद्धिः । २०
यत्तूक्तम् 'तस्य च सत्तामात्रेण स्वविषयग्रहणप्रवृत्तानां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठायकता यथा स्फटिकादीनामुपधानाकारग्रहणप्रवृत्तानां सवितृप्रकाशः' तदयुक्तम्, सत्तामात्रेण सवितृप्रकाशस्यापि स्फटिकाद्यधिष्ठायकत्वाऽसंभवात्-तदसंभवश्चाकाशादेरपि सत्तामात्रस्य सद्भावात् तदधिष्ठायकता स्यात्- किन्तु सवितृप्रकाशस्य तद्विशिष्टावस्थाजनकत्वेन तदधिष्ठायकत्वम्, तद्वत् क्षेत्रज्ञेष्वीश्वरस्य परिकल्प्यते तदा तेषां तत्कार्यताप्रसक्तिः; तथा च यथा क्षेत्रज्ञानामात्मत्वेऽविशिष्टेऽपि कार्यता तथेश्वर- २५
स्यात्मत्वाऽविशेषात् कार्यतेति तदधिष्ठायकोऽपरस्तत्कर्ताऽभ्युपगन्तव्यः, तत्राप्यपर इत्यनवस्था । अथ तस्य कार्यत्वे सत्यप्यनधिष्ठितस्यैव स्वकार्ये प्रवृत्तिस्तर्हि जगदुपादानादेरपि तदनधिष्ठितस्य प्रवृत्तिरिति व्यभिचारी अधिष्ठातृसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्तेनैव हेतुः ।

अपि च, सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे गगनस्येव न सर्वज्ञत्वम् इति सर्वज्ञत्वसाधकहेतोस्तद्विपर्ययसाधनाद् विरुद्धत्वम् । न च सर्वविषयज्ञानसमवायात् तत्र तस्यैव सर्वज्ञत्वं नाऽऽ- ३०
काशादेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषिद्धत्वात् । सत्त्वेऽपि नित्यव्यापकत्वेनाकाशादावपि भावप्रसङ्गात् । न च समवायाऽविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेष इति वक्तुं शक्यम्, तद्विशेषस्यैवासिद्धत्वात् । सिद्धत्वेऽपि समवायपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गादिति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च सत्तामात्रेण तस्य तदधिष्ठायकत्वे ज्ञानमात्रमप्युपयोगि, आस्तां सकलपदार्थसार्थकारकपरिज्ञानम् । यदप्युक्तम् 'ज्ञानस्य स्वविषयसदर्थप्रकाशत्वं नाम स्वभावः, तस्याऽन्यथाभावः कुतश्चिद्दोषसद्भावात्' ३५
तत् सत्यमेव । यच्चोक्तम् 'यत् पुनश्चक्षुराद्यनाश्रितं न च रागादिमलाऽऽवृतं तस्य विषयप्रकाशनस्वभावस्य' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; यतो न चक्षुराद्यनाश्रितं ज्ञानं परस्य सिद्धम्, तत्सिद्धौ चक्षुराद्यनाश्रितस्य ज्ञानस्येव सुखस्यापि सिद्धेरानन्दरूपता कथं मुक्तानां न संगच्छते-येन 'सुखादिगुणरहितमात्मनः स्वरूपं मुक्तिः' इत्यभ्युपगमः शोभेत? न च रागादेरावरणस्याभावो महेशे सिद्धः-येन तज्ज्ञानमनावृतमशेषपदार्थविषयं तत्र सिद्धिमुपगच्छेत्, तत्स्वरूपस्यैवासिद्धत्वात् तत्र ४०
रागाद्यभावप्रतिपादकस्याव्यभिचरितस्य हेतोस्त्वदभ्युपगमविचारणया दूरापास्तत्वाच्च ।

---

१ पृ० ९८ पं० २२ । २ पृ० १०१ पं० १२-२५ । ३ पृ० ९८ पं० २८ । ४ पृ० ९८ पं० ३० ।
५ पृ० ९९ पं० १५ । ६ पृ० ९९ पं० १९ । ७ पृ० ९९ पं० २० ।

यत्तूक्तम् 'विपर्यासकारणा रागादयः, विपर्यासश्चाधर्मनिमित्तः, न च भगवत्यधर्मः' इति, तदप्यसारम्; अधर्मवत् धर्मस्यापि तद्धेतोश्च सम्यग्ज्ञानादेस्तत्रासंभवस्य प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम् 'रागादय इष्टानिष्टसाधनेषु विषयेषूपजायमाना दृष्टाः, न च भगवतः कश्चिदिष्टानिष्टसाधनो विषयः, अवाप्तकामत्वात्' इति, तदप्यसारम्; यतो यदि इष्टानिष्टसाधनो न तस्य कश्चिद्विषयः कथं ५तर्हि असाविष्टाऽनिष्टोपादान-परिवर्जनार्थं प्रवर्तते बुद्धिपूर्विकायाः प्रवृत्तेर्हेयोपादेयजिहासोपादित्सापूर्वकत्वेन व्याप्तत्वात्? तदभावेऽपि प्रवृत्तावुन्मत्तकप्रवृत्तिवद् न बुद्धिपूर्विकेश्वरप्रवृत्तिः स्यात्, हेयोपादेयजिहासोपादित्से अप्यनाप्तकामत्वेन व्याप्ते, अवाप्तकामस्य हेयोपादेयजिहासोपादित्साऽनुपपत्तेः। अनाप्तकामत्वमप्यनीश्वरत्वेन व्याप्तम्, ईश्वरस्यानाप्तकामत्वायोगाद् इति यत्र बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिष्यते तत्र हेयोपादेयजिहासोपादित्से अवश्यमङ्गीकर्तव्ये, यत्र च ते तत्रानाप्तकामत्वम्, १०यत्र च तत् तत्रानीश्वरत्वम् इति प्रसङ्गसाधनम्। ईश्वरत्वे चावाप्तकामत्वम्, अवाप्तकामत्वाच्च न हेयोपादेयविषये तद्धानोपादानेच्छा, तदभावे न बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिरिति प्रसङ्गविपर्ययः। अत एव स्वतन्त्रसाधनपक्षे यद् आश्रयासिद्धत्वादिहेतुदोषोद्भावनम् तदसंगतम्, व्याप्तिप्रसिद्धिमात्रस्यैवात्रोपयोगात्; सा च प्रतिपादिता। 'या तु प्रवृत्तिः शरीरादिसर्गे सा क्रीडार्था, अवाप्तकामानामेव च क्रीडा भवति' इति यदुक्तम् तदसंगतम्, 'रतिमविन्दतामेव क्रीडा भवति, न च रत्यर्थी भगवान्, १५दुःखाभावात्' इति वार्तिककृतैव प्रतिपादितत्वात्। यच्चोक्तम् 'न हि दुःखिताः क्रीडासु प्रवर्तन्ते' इति, तत् प्रक्रमानपेक्षं वचनम्; दुःखाभावेऽपि क्रीडावतां रागाद्यासक्तिनिमित्तेष्टसाधनविषयव्यतिरेकेण तस्यासंभवात्।

यच्च 'कारुण्यात् तस्य तत्र प्रवृत्तिः' इत्यादि, तदप्यनालोचिताभिधानम्; नहि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिगणदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। न च तथाभूतकर्मसव्यपेक्षस्तथा तेषां २०दुःखोत्पादकोऽसौ निमित्तकारणत्वात् तस्येति वक्तुं युक्तम्, तत्कर्मणामीश्वरानायत्तत्वे कार्यत्वे च तेनैव कार्यत्वलक्षणस्य हेतोर्व्यभिचारित्वप्रसङ्गात्। तत्कृतत्वे वा कर्मणोऽभ्युपगम्यमाने प्रथमं कर्म प्राणिनां विधाय पुनस्तदुपभोगद्वारेण तस्यैव क्षयं विदधतो महेशस्याऽप्रेक्षाकारिताप्रसक्तिः, न हि प्रेक्षापूर्वकारिणो गोपालादयोऽपि प्रयोजनशून्यं विधाय वस्तु ध्वंसयन्ति। तत्र करुणाप्रवृत्तस्य कर्मसव्यपेक्षस्यापि प्राणिदुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। किञ्च, प्राणिकर्मसव्यपेक्षो यद्यसौ प्राणिनां २५दुःखोत्पादक इति न कृपालुत्वव्याघातस्तर्हि कर्मपरतन्त्रस्य प्राणिशरीरोत्पादकत्वे तस्याभ्युपगम्यमाने वरं तत्फलोपभोक्तृसत्त्वस्य तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवमदृष्टेश्वरपरिकल्पना परिहृता भवति। 'यथा प्रभुः सेवामेदानुरोधात् फलप्रदो नाऽप्रभुस्तथा महेश्वरोऽपि कर्मापेक्षफलप्रदो नाप्रभुः' इत्यप्ययुक्तम्; यतो यथा राज्ञः सेवाऽऽयत्तफलप्रदस्य रागादियोगः नैर्घृण्यम् सेवाऽऽयत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत् सर्वमभ्युपगमनीयम्; अन्यथाभूतस्यान्यपरिहारेण क्वचिदेव ३०सेवके सुखादिप्रदत्वानुपपत्तेः। तदेव कर्मपरतन्त्रत्वे तस्यानीशत्वम्, करुणाप्रेरितस्य कर्तृत्वे "सृजेच्च शुभमेव स." इति वार्तिककारीयदूषणस्य व्यवस्थितत्वम्। यच्चं 'नारक-तिर्यगादिसर्गोऽप्यकृतप्रायश्चित्तानां तत्रत्यदुःखानुभवे पुनर्विशिष्टस्थानावाप्तौ अभ्युदयहेतुरिति सिद्धं दुःखिप्राणिसृष्टावपि करुणया प्रवर्तनमीशस्य' इति, तदपि प्रतिविहितमेव; यतः कर्म प्राणिनां दुःखप्रदं विधाय तत्फलोपभोगविधानद्वारेण क्षयनिमित्तं प्राणिनामभ्युदयं विदधतस्तस्याऽशुचिस्थानपतितगृहीतप्रक्षालित- ३५मोदकत्यागविधायिनो नसमानबुद्धित्वप्रसक्तिः। अपि च, यदि प्राणिकर्मपरवशस्तेषां दुःखादिकं तत्क्षयनिमित्तप्रायश्चित्तकल्पमुपजनयतीत्यभ्युपगमस्तदा तत्कर्मकार्यत्वं तस्य प्रसक्तम्-तत्कृतोपकाराभावे तदपेक्षाया अयोगात्; उपकारस्य च तत्कृतस्य तद्भेदे तेन संबन्धायोगात्, अभिन्नस्य तत्करणे तस्यैव करणमिति कथं न तत्कार्यत्वम्?

अथ यद् यदा यत्र कर्मादिकं सहकारिकारणमासादयति तेन सह संभूय तत् तदा तत्र सुखा- ४०दिकं कार्यं जनयति, एककार्यकारित्वमेव सहकारित्वमिति न कार्यत्वलक्षणस्तस्य दोषः; ननु कर्मादिसहकारिसव्यपेक्षः कार्यजननस्वभावस्तस्य कर्मादिसहकारिसंनिधानाद् यदि प्रागप्यस्ति तदा—

१ पृ० ९९ पं० २३। २ पृ० ९९ पं० २६। ३ प्र० पृ० प० ५। ४ पृ० ९९ पं० २८। ५ पृ० ९९ पं० ३०। ६ पृ० ९९ पं० ३१। ७ पृ० ९९ प० ३२। ८-कर्मणं ई-(ण ई-) वा०, बा० विना। ९ पृ० ९९ प० ३८। १० पृ० १०० पं० १। ११ पृ० १०० प० ८। १२ प्र० पृ० पं० २२।

सहकारिसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैवाऽसौ कार्यं निर्वर्तयति, पररूपेण जनकत्वे सर्वस्य स्वरूपेणाजनकत्वात् कार्याऽनुत्पादप्रसङ्गः, तस्य चाविकलस्य तज्जननस्वभावस्य भावादुत्तरकालभाविसमस्तकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात्। तथाहि—यद् यदा यज्जननसमर्थं तत् तदा तद् जनयत्येव, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तं बीजमङ्कुरम्, अजनने वा तदा तस्य तद् जननस्वभावमेव न स्यात्, तज्जननस्वभावश्च कर्मादिसामग्र्यसन्निधानेऽप्येकस्वभावतयाऽभ्युपगम्यमानो महेश इति स्वभावहेतुः। अथ कर्मादिसामग्र्यभावे ५ तत्स्वभावोऽप्यसौ विवक्षितकार्यं न जनयति, न तर्हि तज्जनकस्वभावः-यो हि यदा यन्न जनयति स तज्जनकस्वभावो न भवति; यथा शालिबीजं यवाङ्कुरस्य, अतज्जनकस्यापि तत्स्वभावत्वेऽतिप्रसङ्गः; न जनयति च कर्मादिसामग्र्यभावे विवक्षितं कार्यमीश इति व्यापकाऽनुपलब्धिः। अथ कर्मादिसामग्र्यभावे स स्वभावस्तदपेक्षकार्यजनकत्वलक्षणो नास्ति तर्हि स्वभावभेदात् कथं न तस्य भेदः अपरस्य तन्निबन्धनस्याभावात्? तथा च क्रमवर्त्यनेकमङ्कुरादिकार्यं नाक्रमैकेश्वरविहितम् इति १० नैकत्वं तस्य सिद्धिमासादयति। तन्न सर्वज्ञत्वाऽशरीरित्वैकत्वादिधर्मयोगस्तस्य सिद्धिमुपढौकते।
'नापि कृत्रिमज्ञानसंबन्धित्वं तज्ज्ञानस्य प्रत्यर्थनियमाभावात्' इत्यादि यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्; नित्यसर्वपदार्थविषयज्ञानसंबन्धित्वस्य तत्र प्रतिषिद्धत्वात्।

यच्च 'यथा स्थपत्यादीनां महाप्रासादादिकरणे एकाभिप्रायनियमितानामैकमत्यं तद्वदत्रापि यदि क्षित्याद्यनेककार्यकरणे बहूनां नियामकः कश्चिदेकोऽस्ति, स एवेश्वरः' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्; १५ यतो न ह्ययं नियमः-एकेनैव सर्वं कार्यं निर्वर्तनीयम्, एकनियमितैर्वा बहुभिरिति; अनेकधा कार्यकर्तृत्वदर्शनात्। तथाहि-क्वचिदेक एवैककार्यस्य विधाता उपलभ्यते यथा कुविन्दः कश्चिदेकस्य पटस्य, क्वचिदेक एव बहूनां कार्याणाम् यथा घट-शरावोदञ्चनादीनामेकः कुलालः, क्वचिदनेकोऽप्यनेकस्य यथा घट-पट-शकटादीनां कुलालादिः, क्वचिदनेकोऽप्येकस्य यथा शिबिकोद्वहनादेरनेकः पुरुषसङ्घातः। न च प्रासादादिलक्षणेऽप्यनेकस्थपत्यादिनिर्वर्त्येऽवश्यंतयैकसूत्रधारनियमितानां तेषां तत्र २० व्यापार उपलब्धः, प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमितानां तत्करणाऽविरोधात् इति नैकः कर्ता क्षित्यादीनां सिद्धिमासादयति। अत एव न तन्निबन्धना सर्वज्ञत्वसिद्धिरपि तस्य युक्ता। तदेवं नित्यत्वादिविशेषसाकल्यसाधकानुमानाऽसंभवात् तद्विपर्ययसाधकस्य च प्रसङ्गसाधनस्य तत्र भावात् कथं न विशेषविरुद्धावकाशः? अथ शरीरादिमद्बुद्धिमत्कारणत्वव्याप्तं यदि क्षित्यादौ कार्यत्वमुपलभ्येत तदा ततस्तत्र तत् सिद्धिमासादयत् तथाभूतमेव सिध्येदिति भवेत् कार्यत्वादेः २५ विरुद्धत्वम्, साध्यविपर्ययसाधनात्; न च तथाभूतं तत् तत्र विद्यते इति कथं विरुद्धता? न; परप्रसिद्धपक्षधर्मत्वम् विपर्ययव्याप्तिं चाऽऽश्रित्य विरुद्धताभिधानात्। परमार्थतस्तु कार्यत्वविशेषस्य क्षित्यादावसिद्धत्वम् तत्सामान्यस्य त्वनैकान्तिकत्वम् इति प्रतिपादितम्। सर्वेषु चेश्वरसाधनायोपन्यस्तेष्वनुमानेष्वसिद्धत्वादिदोषः समानः इति कार्यत्वदूषणेनैव तान्यपि दूषितानि इति न प्रत्युच्चार्य दूष्यन्ते। महेश्वरस्य च नित्यत्वं तद्वादिभिरभ्युपगम्यते; न चाक्षणिकस्य सत्त्वं संभवति ३० इति प्रतिपादयिष्यामः।

यच्च 'पृथिव्यादिमहाभूतानि स्वासु क्रियासु बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते, अनित्यत्वात्, वास्यादिवत्' इति, तत्र कुलालादिबुद्धावप्यनित्यत्वलक्षणस्य हेतोः सद्भावात् तत्राप्यपरबुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्वप्रसक्तिः, तथाऽभ्युपगमे महेशबुद्धेरप्यनित्यत्वस्य प्रसाधनात् तस्याप्यपरबुद्धिमदधिष्ठितत्वम्, तद्बुद्धावप्येवम् इत्यनवस्था। अथ बुद्धेरनित्यत्वे सत्यपि न बुद्धिमदधिष्ठितत्वं तदा ३५ व्यभिचारी हेतुः; अपरं चात्र प्रतिविहितत्वान्नाशङ्क्यते। यच्च कार्यत्वहेतोर्दूषणमसिद्धत्वादि तदत्रापि समानम्। तथाहि-यादृशमनित्यत्वं बुद्धिमदधिष्ठितं (त) वास्यादौ सिद्धं तादृशं तन्वादिष्वसिद्धम्। अनित्यत्वमात्रस्य प्रतिबन्धासिद्धेर्व्यभिचारः। प्रतिबन्धाभ्युपगमे सतीष्टविपरीतसाधनाद् विरुद्धत्वम्। साधर्म्यदृष्टान्तस्य साध्यविकलता, नित्यैकबुद्धिमदधिष्ठितत्वेन साध्यधर्मेणान्वयासिद्धेः। सामान्येन साध्ये सिद्धसाध्यता, विशेषेण व्यभिचारः, घटादिष्वन्यथादर्शनादिति। एवं सर्वेषु प्रकृतसाध्य- ४० साधनायोपन्यस्तेषु हेतुषु योज्यम्।

---

१ पृ० १०० पं० ११। २ पृ० १२६ पं० २३। ३ पृ० १०० पं० २१। ४-सिद्धं प-भां०। ५-र्तिं चाऽऽश्रि-भां०। ६ पृ० ११५ पं० ११-२०। ७ पृ० १०० पं० ३१।

यच्चे 'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति साधनमुक्तम्, तत्रान्यदपि दूषणं वाच्यम्-सर्वभावानामुदयसमनन्तराऽपवर्गितया क्षणमात्रमपि न स्थितिरस्ति इति कुतः स्थित्वा प्रवृत्तिः? तस्मात् प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुः अनैकान्तिकश्चेश्वरेणैव; यतः सोऽपि क्रमवत्सु कार्येषु स्थित्वा प्रवर्तते अथ च नासौ चेतनावताऽधिष्ठितः अनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ 'अचेतनत्वे सति' इति सविशेषणो हेतुरुपादीयते यथा
५ प्रशस्तमतिनोपन्यस्तस्तथापि संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकतयाऽनैकान्तिकत्वमनिवार्यम्-यदेव हि विशेषणं विपक्षाद्धेतुं निवर्तयति तदेव न्याय्यम्, यत् पुनर्विपक्षे संदेहं न व्यावर्तयति तदुपादानमप्यसत्कल्पम्, पूर्वोक्तश्चासिद्धतादोषः सविशेषणत्वेऽपि तदवस्थ एव। यच्चोक्तम् 'सर्गादौ व्यवहारश्च' इत्यादि, तत्रापि 'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इत्येतद् विशेषणमसिद्धम्। तथाहि-नास्मन्मते प्रलयकाले प्रलुप्तज्ञान-स्मृतयो वितनु-करणाः पुरुषाः संतिष्ठन्ते किन्त्वाभास्वरादिषु स्पष्टज्ञानातिशययोगिषु
१० देवनिकायेषूत्पद्यन्ते; ये तु प्रतिनियतनिरयादिविपाकसंवर्तनीयकर्माणस्ते लोकधात्वन्तरेषूत्पद्यन्ते इति मतम्। विवर्तकालेऽपि तत एव आभास्वरादेश्च्युत्वा इहालुप्तज्ञान-स्मृतय एव संभवन्ति तस्मात् 'उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्' इति विशेषणमसिद्धम्। अनैकान्तिकश्च हेतुः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

किञ्च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता, अनादेर्व्यवहारस्य सर्वेषामेवान्योपदेश
१५ पूर्वकत्वस्येष्टत्वात्। अथेश्वरलक्षणपुरुषोपदेशपूर्वकत्वं साध्यते तदाऽनैकान्तिकता, अन्यथाऽपि व्यवहारसंभवात्, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। एतच्चान्यहेतुसामान्यं दूषणं पूर्वमुक्तम्। विरुद्धश्च हेतुः अभ्युपेतबाधा च प्रतिज्ञायाः, निर्मुखस्योपदेष्टृत्वासंभवात्-यदि ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वं व्यवहारस्य संभवेत् तदा स्यादविरुद्धता हेतोः यावताऽसौ विगतमुखत्वादुपदेष्टा न युक्तः, तच्च विमुखत्वं वितनुत्वेन, तदपि धर्माधर्मविरहात्, तथा च उद्द्योतकरेणोक्तम्-"यथा बुद्धिमत्तायामीश्वरस्य
२० प्रमाणसंभवः, नैवं धर्मादिनित्यत्वे प्रमाणमस्ति" [न्यायवा० पृ० ४६४ पं० १४] इति। तस्मादीश्वरस्योपदेष्टृत्वासंभवात् तदुपदेशपूर्वकत्वं व्यवहारस्य न सिध्यति किन्त्वीश्वरव्यतिरिक्तान्यपुरुषोपदेशपूर्वकत्वम्; अत इष्टविघातकारित्वाद् विरुद्धो हेतुः। अथेश्वरस्योपदेष्टृत्वमङ्गीक्रियते तदा विमुखत्वमभ्युपेतं हीयत इत्यभ्युपेतबाधः। एवमन्येष्वपि सर्वज्ञत्वादितद्विशेषसाधकेषु हेतुष्वसिद्धताऽनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वादिदोषजालं स्वमत्याऽभ्यूह्यं दिङ्मात्रदर्शनपरत्वात् प्रयासस्य। अत एव
२५ "सप्त भुवनान्येकबुद्धिनिर्मितानि, एकवस्त्वन्तर्गतत्वात्, एकावसथान्तर्गतानेकापवरकवत्, यथैकावसथान्तर्गतानामपवरकाणां सूत्रधारैकबुद्धिनिर्मितत्वं दृष्टं तथैकस्मिन्नेव भुवनेऽन्तर्गतानि सप्त भुवनानि, तस्मात् तेषामप्येकबुद्धिनिर्मितत्वं निश्चीयते; यद्बुद्धिनिर्मितानि चैतानि स भगवान् महेश्वरः सकलभुवनैकसूत्रधारः" [ ] इत्यादिकाः प्रयोगाः प्रशस्तमतिप्रभृतिभिरुपन्यस्तास्तेष्वपि हेतुरसिद्धः, न ह्येकं भुवनम् आवसथादिर्वाऽस्ति, व्यवहारलाघवार्थं बहुष्वियं संज्ञा कृता, अत एव
३० दृष्टान्तोऽपि साधनविकलः; एकसौधाद्यन्तर्गतानामपवरकादीनामनेकसूत्रधारघटितत्वदर्शनाच्चानैकान्तिको हेतुः।

यच्च "एकाधिष्ठाना ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः, परस्परातिशयवृत्तित्वात्; इह येषां परस्परातिशयवृत्तित्वं तेषामेकायत्तता दृष्टा, यथेह लोके गृह-ग्राम-नगर-देशाऽधिपतीनामेकस्मिन् सार्वभौमनरपतौ, तथा च भुजग-रक्षो-यक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वम्; तेन मन्यामहे तेषामप्येक-
३५ स्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्" इति, तदेतद् यदि 'ईश्वराख्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठानाः' इत्ययमर्थः साधयितुमिष्टस्तदाऽनैकान्तिकता हेतोः, विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् प्रतिबन्धाऽसिद्धेः। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। अथाधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठाना इति साध्यते तदा सिद्धसाध्यता, यत इष्यत एव सुगतसुतैर्भगवता संबुद्धेन सकललोकचूडामणिना सर्वमेव जगत् करुणावशादधिष्ठितम्, यत्प्रभावादद्याप्यभ्युदय-निःश्रेयससंपदमासादयन्ति साधुजनसार्थाः। सर्वेष्वपि च सर्वज्ञसाधनेषु
४० परोपन्यस्तेषु यदि सामान्येन 'कश्चित् सर्वज्ञः' इति साध्यमभिप्रेतं तदा नाऽस्मान् प्रति भवतामिदं साधनं राजते सिद्धसाध्यतादोषात् किन्तु ये सर्वज्ञाऽपवादिनो जैमिनीयाश्चार्वाका वा तेष्वेव

---

१ पृ० १०१ पं० १७। २ पृ० १०१ पं० २०। ३-मतेन प्र-मां०। ४ पृ० ११५ पं० ३५। ५-धा मु-बा०, बा०।

शोभते । अथेश्वराख्यः सर्वज्ञः साध्येत तदोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धासिद्धेर्हेतूनामनैकान्तिकता, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलतेति । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थो निःसारतयोपेक्षितः । अत ईश्वरसाधकस्य तन्नित्यत्वादिधर्मसाधकस्य च प्रमाणस्याभावात् "क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [योगद० पा० १, सू० २४] इत्यादि सर्वमयुक्ततया स्थितम् । अतो भवहेतुरागादिजयात् शासनप्रणेतारो जिनाः सिद्धाः । अतः सुव्यवस्थितमेतद् भवजिनानां शासनमिति । ५

ननु यदि तेषां भवनिबन्धनरागादिजेतृत्वं तदा शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, तज्जयानन्तरमेवापवर्गप्राप्तेः शरीराभावे वक्तृत्वासंभवात् । अथ रागादिक्षयानन्तरं नापवर्गप्राप्तिस्तर्हि रागादिजयो न भवक्षयलक्षणापवर्गप्राप्तिकारणम्; न हि यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत् तदविकलकारणं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, यवबीजमिव शाल्यङ्कुरस्य । अथ निरवशेषरागाद्यजयाद् अपवर्गप्राप्तेः प्रागेव तत्प्रणेतृत्वाददोषः; नन्वेवं तच्छासनस्य रागलेशाऽऽश्लिष्टपुरुषप्रणीतत्वेन नैकान्तिकं प्रामाण्यं, १० कपिलादिपुरुषप्रणीतस्येव इत्याशङ्क्याह सूरिः-'**ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं**' इति । अस्याभिप्रायः-यद्यपि सर्वज्ञताप्रतिबन्धिघातिकर्मचतुष्टयक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानसम्पदो जिनास्तथापि भवोपग्राहिशरीरनिबन्धनस्य कर्मणः सद्भावादल्पस्थितिकस्य न शरीराद्यभावात् शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, नापि रागादिलेशसद्भावात् तत्प्रणीतागमस्याऽप्रामाण्यम्, विपर्यासहेतोर्घातिकर्मणोऽत्यन्तक्षयात् । न च कर्मक्षयादपरस्याप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, भवोपग्राहिणोऽद्यापि सामस्त्येनाक्षयात् तत्क्षये चापव- १५ र्गस्यानन्तरभावित्वात् कर्मक्षयस्यैवापवर्गप्राप्तावविकलकारणत्वादिति । अवयवार्थस्तु-तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्तानन्तज्ञानसुखरूपाध्यासिताः शुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानं लोकाग्रलक्षणं विशिष्टक्षेत्रम्, न विद्यते उपमा स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन च सर्वसुखातिशायित्वाद् यस्य तत् सुखमानन्दरूपं यस्मिंस्तत् तथा, तत् 'उप' इति कालसामीप्येन गतानां प्राप्तानाम्, यद्वा 'उप' इत्युपसर्गः प्रकर्षेऽप्युपलभ्यते, यथा "उपोढरागेण" [ ] इति । तेन स्थानमनुपमसुखं २० प्रकर्षेण गतानामिति । "परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि तमर्थं गमयन्ति" [ ] इति न्यायादनुभूयमानतीर्थकृन्नामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद् गता इव गता इत्युक्तास्तेन शासनप्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव ॥

यद्वा "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति व्योमवत् तापवर्जिताः" [ ] इत्येतस्य दुर्नयस्य निरासार्थमाह सूरिः- '**ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं**' अत्र च स्थानमनुपमसुखम्-प्रकर्षेण अपुनरावृत्त्या २५ गतानाम्-उपगतानामिति व्याख्येयम् ।

अथवा "बुद्ध्यादीनां नवानां विशेषगुणानामात्यन्तिकः क्षय आत्मनो मुक्तिः" [ ] इति मतव्यवच्छेदार्थमाचार्येण-'**ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं**' इति सूत्रमुपन्यस्तम् । अस्यायमर्थः-स्थितिः स्थानं स्वरूपप्राप्तिस्तद् अनुपमसुखम् 'उप' इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां प्राप्तानाम्-शैलेश्यवस्थाचरमसमयोपादेयभूतमनन्तसुखस्वभावमात्मनः कथञ्चिदनन्यभूतं ३० स्वरूपं प्राप्तानामिति यावत् ।

[आत्मपरिमाणवादः]

[पूर्वपक्षः-आत्मनो विभुत्वस्थापनम्]

अत्राहुर्वैशेषिकाः—सर्वमेतदनुपपन्नम्, आत्मनो विभुत्वेन विशिष्टस्थानप्राप्तिनिमित्तगत्यसंभवात्, कर्मक्षये च शरीराद्यभावे मुक्तात्मनां सुखस्य तद्धेतुनिमित्तासमवायिकारणाभावेनोत्पत्त्यसंभवात्, नित्यस्य चानन्दस्यावैषयिकस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् । ३५

न चात्मनो विभुत्वमसिद्धम्, अनुमानात् तत्सिद्धेः । तथाहि-बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्; यद् यद् नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानं तत् तद् विभु, यथा आकाशम्, तथा च बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यम्, तस्माद् विभु । { न च

१-तारो जिना भवन्ति जिनाः वा०, बा० विना । २-दल्पविधि(ल्पावधि)कस्य न वा०, बा० ।

बुद्धेर्गुणत्वासिद्धेर्हेतुविशेषणासिद्धया हेतोरसिद्धिरभिधातुं शक्या, बुद्धिगुणत्वस्यानुमानात् सिद्धेः। तथाहि–गुणो बुद्धिः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात्; यो यः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धी स स गुणः यथा रूपादिः, तथा च बुद्धिः, तस्माद् गुणः। न च प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वमसिद्धं बुद्धेः। तथाहि–बुद्धिर्द्रव्यं न भवति, एकद्रव्यत्वात्, यद् ५यद् एकद्रव्यं तत् तद् द्रव्यं न भवति यथा रूपादि, तथा च बुद्धिः, तस्माद् न द्रव्यम्। न चायमसिद्धो हेतुः। तथाहि–एकद्रव्या बुद्धिः, सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, यद् यत् सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षं तत् तद् एकद्रव्यम्, यथा रूपादि, तथा बुद्धिः, तस्मादेकद्रव्या। न च 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तस्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे विवादात्। नापि वायुना, तत्रापि तत्प्रत्यक्षत्वस्य विवादास्पदत्वात्। तथापि रूपत्वादिना १०व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सामान्य-विशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणोपादानम्। न च रूपस्यान्तःकरणग्राह्यतया द्वीन्द्रियग्राह्यता, चक्षुरिन्द्रियस्यैव 'चक्षुषा रूपं पश्यामि' इति व्यपदेशहेतोस्तत्र करणत्वसिद्धिः, मनसस्त्वान्तरार्थप्रतिपत्तावेवाऽसाधारणकरणत्वात्। अथवा एकद्रव्या बुद्धिः, सामान्य-विशेषवत्त्वे अगुणवत्त्वे च सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, शब्दवत्। तथा, न कर्म बुद्धिः, संयोग-विभागाकारणत्वात्, यद् यत् संयोगविभागाकारणं तत् तत् कर्म न भवति, यथा रूपादि, १५तथा च बुद्धिः, तस्माद् न कर्म। तस्मात् सिद्धः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावो बुद्धेः। न च सत्तासंबन्धित्वमसिद्धं बुद्धेः, तत्र 'सत्' इति प्रत्ययोत्पादात्। न च सत्ता भिन्ना न सिद्धा, तद्भेदप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात्। तथाहि–यस्मिन् भिद्यमानेऽपि यन्न भिद्यते तत् ततोऽर्थान्तरम्, यथा भिद्यमाने वस्त्रादावभिद्यमानो देहः, भिद्यमाने च बुद्ध्यादौ न भिद्यते सत्ता, द्रव्यादौ सर्वत्र 'सत् सत्' इति प्रत्ययाभिधानदर्शनात्, अन्यथा तदयोगात्। सा च बुद्धिसंबद्धा, ततस्तत्र २०विशिष्टप्रत्ययप्रतीतेः। तथाहि—यतो यत्र विशिष्टप्रत्ययः स तेन संबद्धः, यथा दण्डो देवदत्तेन, भवति च बुद्ध्यादौ सत्तातस्तत्प्रत्ययः, ततस्तया संबद्धेति। 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वात्' इत्युच्यमाने सामान्यादिना व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति वचनम्। 'सत्तासंबन्धित्वात्' इत्युच्यमाने द्रव्य-कर्मभ्यामनेकान्तस्तन्निवृत्त्यर्थं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति' इति विशेषणम्। तदेवं भवत्यतोऽनुमानाद् बुद्धेर्गुणत्वसिद्धिः।} असदाद्युपलभ्यमानत्वं च २५बुद्धेस्तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानप्रत्यक्षत्वाद् नासिद्धम्। नित्यत्वं चात्मनः 'अकार्यत्वात्, आकाशवत्' इत्यनुमानप्रसिद्धम्। अतो 'नित्यत्वे सत्यसदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्' इति हेतुर्नासिद्धः।

नाप्यनैकान्तिकः, विपक्षेऽस्याऽप्रवृत्तेः। नापि विरुद्धः, विभुन्याकाशेऽस्य वृत्त्युपलम्भात्। नापि बाधितविषयः, प्रत्यक्षाऽऽगमयोरात्मन्यविभुत्वप्रदर्शकयोरसम्भवात्। नापि प्रकरणसमः, प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकस्य हेत्वन्तरस्याभावात्। इति भवति सकलदोषरहितादतो हेतोः सर्वगता- ३०त्मसिद्धिः।

[उत्तरपक्षः–आत्मनो विभुत्वं निरस्य देहमात्रत्वव्यवस्थापनम्]

असदेतत्, बुद्धेर्गुणत्वासिद्धावात्मनस्तदधिष्ठानत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुः। यच्च 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वे सति सत्तासंबन्धित्वात्' इति गुणत्वं बुद्धेः प्रसाध्यते तत्र सत्तायाः तत्समवायस्य च निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति तत्र हेतुरसिद्धः।

३५ समवायाभावे च बुद्धेरात्मनो व्यतिरेके तेन तस्याः सम्बन्धाभावात् 'आत्मनो द्रव्यत्वं गुणाश्रयत्वेन, तस्याश्च तदाश्रितत्वेन गुणत्वम्' इति दूरोत्सारितम्। भवतु वा समवायसंबन्धस्तथापि आत्मगुण(त्व)वत् तस्या अन्यगुणत्वस्याप्यप्रतिषेधात् तस्यास्तद्गुणत्वस्यैवासिद्धिः। व्यतिरेकाविशेषेऽपि 'आत्मन एव गुणो ज्ञानम् नाकाशादेः' इति कुतोऽयं विभागः? न समवायकृतः, तस्यापि ताभ्यां व्यतिरेके 'तयोरेवासौ समवायः नाकाशादेः' इति विभागो दुर्लभः स्यात्, तस्य

१–त्वसिद्धिर्न मनस्त्वान्त–वा०, बा०। २–त्तावेव साधारणत्वात्। अ०, भा०, डे०। ३ पृ० १३३ पं० १८। ४ प्र० पृ० पं० २। ५ पृ० १०६ पं० १०–पृ० ११० पं० १। ६–गुणत्वस्यात्मस्याप्यप्रति–वा०, बा०।

स्वरूपेण सर्वत्राविशेषात् । अथात्मकार्यत्वादात्मगुणो बुद्धिः, कुत एतत्? आत्मनि सति भावात्, आकाशादावपि सति भावात् तस्यास्तत्कार्यताप्रसक्तिः । नाप्यात्मनोऽभावेऽभावात् तस्याः तत्कार्यत्वम्, तन्नित्यत्व-व्यापित्वाभ्यां तत्र तस्यायोगात् । नापि तत्र तस्याः प्रतीतेः तत्कार्यत्वासौ नाकाशादिकार्या, तत्र तत्प्रतीतेरसिद्धेः । तथाहि-न तावद् आत्मा आत्मनि बुद्धिं प्रत्येति, तस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमात् । ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेऽपि विवादात् । तत्र तेनात्मस्वरूपमपि गृह्यते, ५ दूरत एव स्वात्मव्यवस्थितत्वं बुद्धेः । नापि बुद्धया तद्व्यवस्थितत्वं स्वात्मनो गृह्यते, तया आत्मनः स्वकीयरूपस्य चाऽग्रहणात्, बुद्ध्यन्तरग्राह्यत्वासम्भवात्, स्वसंविदितत्वस्य चानिष्टेः, अज्ञातायाश्च घटादेरिवापरग्राहकत्वानुपपत्तेर्न तयाप्यात्मनि व्यवस्थितं स्वरूपं गृह्यते । न च तदुत्कलितत्वम्, तदाधेयत्वम्, तत्समवेतत्वं वा आकाशादिपरिहारेणात्मगुणत्वनिबन्धनम्, सर्वस्य निषिद्धत्वात् । न च कार्येणाननुकृतव्यतिरेकं नित्यमात्मलक्षणं वस्तु कस्यचित् कारणं सिध्यति, अतिप्रसङ्गात् ।१० यथा च नित्यैकान्तत आत्मनोऽन्यस्य वा न कारणत्वं संभवति तथा प्रतिपादयिष्यते । तत्र बुद्धेरात्मनो व्यतिरेके 'तस्यैवासौ गुणो नाकाशादेः' इति व्यवस्थापयितुं शक्यम् ।

अव्यतिरेके च ततः तद्वदेव तस्या अपि द्रव्यत्वमिति 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणमसिद्धम् । अपि च बुद्धेर्गुणत्वसिद्धावनाधारस्य गुणस्यासंभवात् तदाधारभूतस्यात्मनो द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च द्रव्य-कर्मभावप्रतिषेधे सति तदाश्रितत्वेन तस्या गुणत्वसिद्धि-१५ रितीतरेतराश्रयत्वम् ।

किञ्च, आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे बुद्धेस्तद्विशेषगुणत्वेऽस्मदाद्युपलभ्यमानत्वविरोधः । तथाहि-येऽत्यन्तपरोक्षगुणिगुणा न तेऽस्मदादिप्रत्यक्षाः, यथा परमाणुरूपादयः, तथा च परेणाभ्युपगम्यते बुद्धिः, तस्माद् नास्मदादिप्रत्यक्षा । न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः, वायोः कथञ्चित् तदव्यतिरेकेण तद्वत् प्रत्यक्षत्वात्; स्पर्शविशेषस्यैव तत्त्वात् । अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे च बुद्धेरत्यन्तपरोक्षात्मविभुद्र२० व्यविशेषगुणत्वविरोधः । तथाहि-यद् अस्मदादिप्रत्यक्षं न तद् अत्यन्तपरोक्षगुणिगुणः, यथा घटरूपादि, तथा च बुद्धिः । न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः, पूर्वमेवं परिहृतत्वात् । ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे बुद्धेर्नात्यन्तपरोक्षात्मविशेषगुणत्वम् । तत्त्वे वा नास्मदादिप्रत्यक्षत्वमित्यसिद्धोऽस्मदाद्युपलभ्यमानलक्षणविशेषणोऽपि हेतुः । अथ आत्मनः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमाद् नायं दोषः, नन्वेवं तस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्य देहमात्रव्यापकस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-२५ सिद्धत्वाद् न युगपत् सर्वदेशावस्थिताशेषमूर्तद्रव्यसंबन्धलक्षणस्य विभुत्वस्य साधनमनुमानतो युक्तम्; अन्यथा घटादिभिर्मेर्वादिस्तैन च घटादीनां तथा संयोगः किं नेष्यते यतः सांख्यदर्शनं न स्यात्? प्रत्यक्षबाधनाद् नैवमिति चेत्, किमत्र प्रत्यक्षबाधनं काकैर्भक्षितम्? अथात्र पक्षधर्मान्वय-व्यतिरेकलक्षणयुक्तहेतुसद्भावात् तथाभ्युपगमः अन्यत्र विपर्ययाद् नेति चेत् तर्हि 'पक्वान्येतानि फलानि, एकशाखाप्रभवत्वात्, उपयुक्तफलवत्' इत्यत्र तथाविधहेतुसद्भावात् तथाभ्युपगमः किं ३० न स्यात्? पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वमन्यत्रापि समानम् । न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेवानुमानेन प्रकृतेन बाध्यत इति वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाभ्युपगमादनुमानस्य प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तस्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न च तथाभूतात्मग्राहकस्य स्वसंवेदनाध्यक्षस्याप्रामाण्यनिबन्धनमपरमुत्पश्यामः । न चान्यादृक्षस्यात्मनो विभुत्वसाधनाय हेतूपन्यासः सफलः, तस्य प्रमाणाविषयत्वेनासिद्धत्वाद् हेतोराश्रयासिद्धताप्रसङ्गात् । तदेवमस्मदाद्युपलभ्यत्वे बुद्धिलक्षणस्य गुणस्य ३५ हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वम्, अनुपलभ्यत्वे विशेषणासिद्धत्वम् ।

परमाणूनां च नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानपाकजगुणाधिष्ठानत्वे सत्यपि न विभुत्वमिति व्यभिचारः । परमाणुपाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'विवादास्पदं बुद्धिमत्कारणम्, कार्यत्वात्, घटादिवत्' इत्यत्र प्रयोगे व्याप्तिग्रहणं दुर्लभमासज्येत । तथाहि-कार्यत्वेनाभिमतानां परमाणुपाकजरूपादीनां व्याप्तिग्राहकेनाविषयीकरणे बुद्धिमत्कारणत्वेन व्याप्तिसिद्धिर्न स्यात्, तथा चैतै-४० रेव कार्यत्वहेतोर्व्यभिचाराशङ्का स्यात् । अथ 'नित्यत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियोपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्' इति हेतुरभिधीयते तर्हि बाह्येन्द्रियोपलभ्यमानत्वस्य बुद्धावसिद्धेः पुनरपि

१ पृ० १०५ पं० २२ । २ पृ० पृ० पं० १९ । ३-न या घ-वा०, बा० । ४-क्षस्य प्रा-वा०, बा० ।

विशेषणासिद्धो हेतुः प्रसक्तः। साध्य-साधनधर्मविकलश्चाकाशलक्षणः साधर्म्यदृष्टान्तः, नित्यत्वे सत्यसदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनधर्मस्य, विभुत्वलक्षणसाध्यधर्मस्य तत्रासिद्धेः।

अथ 'शब्दाधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यसदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्, आत्मवत्' इत्यतो हेतोस्तत्र विभुत्वस्य सिद्धेर्न साध्यविकलो दृष्टान्तः। नापि साधनविकलः, ५असदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधिष्ठानत्वस्य तत्र सिद्धत्वात्—न च शब्दस्यासदादिप्रत्यक्षत्वम् गुणत्वं वाऽसिद्धम्, श्रोत्रव्यापारेणाध्यक्षबुद्धौ शब्दस्य परिस्फुटरूपतया प्रतिभासनात् निषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्तासंबन्धित्वात्, पृथिव्यादिवृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणस्याऽऽश्रितत्वेनाकाशाऽऽश्रितत्वसिद्धेश्च न साधनविकलताप्याकाशस्य। असदेतत्; सिद्धे ह्यात्मनो विभुत्वे तन्निदर्शनादाकाशस्य विभुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चात्मनो विभुत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् १०नाप्याकाशस्य विभुत्वसिद्धिरिति साध्यविकलता तदवस्थैव। यच्च शब्दस्य गुणत्वसाधकमनुमानं तत्र 'सत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतौ सत्तायाः तत्संबन्धित्वहेतोः समवायस्य चासिद्धत्वादसिद्धता, 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणस्य चासिद्धता, शब्दस्य द्रव्यत्वात्।

[प्रासङ्गिकं शब्दस्य द्रव्यात्मकत्वसाधनम्]

तथाहि-द्रव्यं शब्दः, क्रियावत्त्वात्, यद् यत् क्रियावत् तत् तद् द्रव्यम्, यथा शरः, १५तथा च शब्दः, तस्माद् द्रव्यम्। निष्क्रियत्वे श्रोत्रेणाग्रहणप्रसङ्गः, तेनानभिसंबन्धात्। तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिः। तथा च 'प्राप्यकारि चक्षुः, बाह्येन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्य श्रोत्रेणानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः। संबन्धकल्पनायां वा श्रोत्रं वा शब्ददेशं गत्वा शब्देनाभिसंबध्येत, शब्दो वा श्रोत्रदेशमागत्य तेनाभिसंबध्येत? न तावत् प्रथमः पक्षः, स्वधर्माऽधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे निष्क्रियत्वेन तथा- २०प्रतीत्यभावेन च गत्यसम्भवात्। गत्यभ्युपगमे वा विवक्षितशब्दापान्तरालवर्तिनामन्यान्यशब्दानामपि ग्रहणप्रसङ्गः, संबन्धाविशेषात्। अनुवात-प्रतिवात-तिर्यग्वातेषु च प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावप्रसङ्गश्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात्। नापि शब्दस्य श्रोत्रदेशागमनसम्भवः, गुणत्वेन तस्य निष्क्रियत्वोपगमात् आगमने वा सक्रियत्वाद् द्रव्यत्वमेव।

अथापि स्यात् न आद्य एवाकाशतद्धेतुमुखसंयोगात् समवाय्यऽसमवायि-निमित्तकारणा- २५दुद्भूतः शब्दः श्रोत्रेणागत्य संबध्यते येनायं दोषः स्यात्, अपि तु जलतरङ्गन्यायेनापरापर एवाकाश-शब्दादिलक्षणात् समवाय्यऽसमवायि-निमित्तकारणादुपजातस्तेनाभिसंबध्यत इति। नन्वेवं बाणादयोऽपि पूर्वपूर्वसमानजातीयक्षणप्रभवा अन्त्ये एव लक्ष्येणाभिसंबध्यन्त इति किं नाभ्युपगम्यते? तथा च क्रियायाः सर्वत्राभाव इति 'क्रियावद् द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणं न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत। अथ प्रत्यभिज्ञानाद् बाणादौ स्थिरत्वसिद्धेर्नेयं कल्पना। नन्वेवं शब्देऽपि मा ३०भूदियम्, तत्राप्येकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य 'देवदत्तोच्चारितं शब्दं शृणोमि' इत्येवमाकारेणोपजायमानस्याऽबाधितस्वरूपस्यानुभवात्। न च लूनपुनर्जातकेश—नखादिष्विव सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत् प्रत्यभिज्ञानमिति वक्तुं शक्यम्, बाणादावपि तस्य तथात्वाविशेषात्।

अथ शब्दे बाधकसद्भावात् तथा तत्परिकल्पनम् न बाणादौ, विपर्ययात्। ननु न शब्दैकत्वविषयं प्रत्यक्षं तावदस्य बाधकम्, समानविषयत्वेन तस्य तद्बाधकत्वायोगात्। क्षणि- ३५कत्वविषयं तु शब्देऽन्यत्र वा निषादगोचरचारीति न तद्बाधकं युक्तम्। न चानुमानं प्रत्यभिज्ञानबाधकम्, प्रत्यभिज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षतयाभ्युपगमात्; तदेव ह्यनुमानस्यैव शास्त्रप्रमयत्वादेर्बाधकमुपलब्धम्, न पुनरनुमानं तस्य। अथ शब्दैकत्वग्राहकप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्य तदाभासत्वादनुमानं स्थिरचन्द्राऽर्कादिग्राहकस्येव देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितानुमानवद् बाधकं भविष्यति, कथं पुनरस्य प्रत्यक्षाभासत्वम्? अनुमानेन बाधनादिति चेत्, अनेनाप्यनुमानस्य बाधनादनुमानाभासत्वं ४०किं न स्यात्? अथानुमानबाधितविषयत्वाद् नैतदनुमानबाधकम्; अनुमानमप्येतद्बाधितविषयत्वाद् नास्य बाधकमिति प्रसक्तम्। अथ साध्याविनाभाविलिङ्गजनितत्वात्तत्रानुमानमेतद्बाधकम् एकत्वा-

---

१-नभिसंधानात्। भा०, वा० वि०। २-३-मध्य-भा०, वा०, मां०। ४ पृ० ११५ प० २९।

-खाप्रभवत्वानुमानमपि तद्वामताप्राहिप्रत्यक्षबाध्यं न स्यात् । अथ पक्षे एव व्यभिचाराद् न साध्याविनाभूतहेतुप्रभवत्वमेकशाखाप्रभवत्वानुमानस्य, तत् शब्दक्षणिकत्वानुमानेऽपि समानम्।

न च शब्दक्षणिकत्वमसाधकमनुमानं पराभ्युपगमे संभवति । यच्च 'क्षणिकः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्, यो योऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणः स स क्षणिकः, यथा ज्ञानादिः, तथा च शब्दः, तस्मात् क्षणिकः' इत्यनुमानम्, तदेकशाखाप्रभव- ५ त्वानुमानवद् मानसप्रत्यक्षाभिमतप्रत्यभिज्ञानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वात् कालात्ययापदिष्टहेतुप्रभवत्वाद् न साध्यसिद्धिनिबन्धनम् । किञ्च, धर्मादेर्विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽपि न क्षणिकत्वमिति हेतोर्व्यभिचारः । तस्यापि पक्षीकरणे सर्वत्र व्यभिचारविषये पक्षीकरणाद् न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थकम्, व्यवच्छेद्याभावात् । धर्मादेः क्षणिकत्वे च स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव ध्वस्तत्वाद् न ततो जन्मान्तरफलप्राप्तिः । शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् १० धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तावभ्युपगमबाधा 'परस्य अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोऽभिलापोऽभिलषितुर्यो़भिमुखक्रियाकारणमात्मविशेषगुणमाराप्नोति, अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलापत्वात्, आत्मनोऽनुकूलाभिमानजनिताभिलापवत्' इत्यस्य च विरोधः, यतो योऽसौ परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलापोत्पादित आत्मविशेषगुणो नासावभिलषितुर्योऽभिमुखक्रियाकारणम्, तत्समानैतत्कारणत्वात्, यश्च तत्क्रियाकारणम् नासौ यथोक्ताभिलापेणारब्ध इति । १५ तथा, 'प्रवर्तक-निवर्तकाविच्छा-द्वेषनिमित्तौ धर्माऽधर्मौ, अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्ति-परिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वात्, प्रवर्तक-निवर्तकप्रयत्नवत्' इत्यत्र हेतोर्व्यभिचारश्च, जन्मान्तरफलप्रदयोर्धर्माधर्मयोरव्यवधानेन हिताहितप्राप्ति-परिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वेऽपीच्छा-द्वेषजनितत्वाभावात् । किञ्च, धर्मादिवद् अपरापरतत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गश्च । ततो न शब्दात् शब्दोत्पत्तिवद् धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तिः; तस्य क्षणिकत्वे न २० जन्मान्तरे ततः फलमित्यक्षणिकत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यमतस्तेन व्यभिचारी हेतुः ।

अथास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्य धर्मादावसंभवाद् न व्यभिचारः, असदेतत्; विपक्षविरुद्धं हि विशेषणं ततो हेतुं निवर्तयति, यथाऽहेतुकत्वविरुद्धं ततः कादाचित्कत्वं निवर्तयति । न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्, अक्षणिकेष्वपि सामान्यादिषु भावात्, ततो यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि केचित् क्षणिकाः प्रदीपादयः, अपरेऽक्षणिकाः सामान्या- २५ दयस्तथाऽस्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणाः केचित् क्षणिकाः, अपरेऽक्षणिका भविष्यन्तीति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः । न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्याक्षणिकेऽदर्शनात् ततो व्यावृत्तिसिद्धिः, अदर्शनस्यात्मसंबन्धिनः परलोकादिनाऽनैकान्तिकत्वात्, सर्वसंबन्धिनोऽसिद्धत्वात् । न च कृतकत्वादावप्ययं दोषः समानः, तत्र विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणभावात् प्रकृतहेतोश्च तस्याभावात् । यदि पुनर्विपक्षे ३० हेतोरदर्शनमात्रादेव ततो व्यावृत्तिस्तथा सति

"वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वात् अधुनाऽध्ययनं यथा" [श्लो० वा०, अ० ७ श्लो० ३६६]

इत्यस्यापि विपक्षेऽदर्शनात् ततो व्यावृत्तिसिद्धिरित्यपौरुषेयत्वसिद्धेर्न तस्येश्वरप्रणीतत्वं स्यात् ।

धर्माधर्मादेश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टाः, देवदत्तं ३५ प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, यद् यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत् तत् तद् देवदत्तगुणाकृष्टम्, यथा ग्रासादिः, तथा च पश्वादयः, तस्माद् देवदत्तगुणाकृष्टाः' इत्यनुमानमसंगतं स्यात्, व्याप्तेरग्रहणात् । तथाप्यनुमाने यतः कुतश्चिद् यत् किञ्चिदवगम्येत । ग्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य देवदत्तप्रयत्नगुणाकृष्टत्वेन व्याप्तिप्रदर्शनात् तस्यैव तत्पूर्वकत्वानुमानं स्यात्, तस्य च वैयर्थ्यम् । अथ पश्वादेरपि देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य देवदत्तप्रयत्नसमानगुणाकृष्टत्वेन व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि प्रयत्नसमानगुणस्य ४० पश्वादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य वाऽप्रतिपत्तौ कथं तदाकृष्टत्वेन व्याप्तिसिद्धिः न हि प्रयत्नाप्रतिपत्तौ तदाकृष्टत्वेन प्रतिपन्नस्य ग्रासादेर्देवदत्तं प्रत्युपसर्पणस्य व्याप्तिप्रतिपत्तिः? तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमश्च

१-क्तत्व(त्वेन)का-भा०, मा० । २-मतात्वात्, प्रभ-भा०, मा० । ३-कत्वं पि-वि०, भा० ।

यदि तेनैवानुमानेन, अन्योन्याश्रयदोषः–व्याप्तिसिद्धावनुमानम्, ततश्च व्याप्तिसिद्धिरिति। अनुमानान्तरेण तत्प्रतिपत्तावनवस्था। प्रमाणान्तरेण च तत्प्रतिपत्तौ वैशेषिकस्य द्वे प्रमाणे, नैयायिकस्य चत्वारि प्रमाणानि इति प्रमाणसंख्याव्याघातः। ततो मानसप्रत्यक्षेण व्याप्तिर्गृह्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा च प्रयत्नसमानगुणस्य समाकर्षकस्य, तत्समाकृष्यमाणस्य च पश्वादेस्तत्प्रत्यक्षत्वमित्यस्मदादि-
५प्रत्यक्षत्वं धर्मादेरपि परैरभ्युपगन्तव्यम्। यदि पुनः 'बाह्येन्द्रियप्रभवास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति हेतुर्विशिष्यते तदा साधनविकलता दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथाऽप्रत्यक्षत्वात्। विभुद्रव्यं च यदि अत्राकाशमस्मदाद्यप्रत्यक्षं विवक्षितं तदा तद्वत् तद्गुणस्याप्यस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वमिति 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणासिद्धिर्हेतोः, *गुणिनोऽप्रत्यक्षत्वे तद्विशेषगुणस्याप्यप्रत्यक्षत्वेन* प्रतिपादितत्वात्।

१० किञ्च, सिद्धे हि शब्दे गुणे तदाधारसिद्धिः–गुणस्याधारमन्तरेणानवस्थानात्–तत्सिद्धौ च तदाधारस्य नित्यत्वे सत्यस्मदादिप्रत्यक्षशब्दगुणाधारत्वेन विभुद्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च शब्दस्य क्षणिकत्वसिद्धिः क्रियावत्त्वप्रतिषेधेन द्रव्यत्वाभावं साधयेत्, ततश्च गुणत्वम्, ततो विभुद्रव्याश्रितत्वम्, ततोऽपि क्षणिकत्वम्, इति चक्रकमासज्येत। साधनशून्यश्च साधर्म्यदृष्टान्तः, बुद्धेरपि विभ्वात्मविशेषगुणत्वासिद्धेः। न च शब्ददृष्टान्तेन तत् साध्यते, तस्याप्यसिद्धत्वात्
१५इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गतः। न च 'विभ्वात्मविशेषगुणो ज्ञानम्, तत्कार्यत्वात्, शब्दवत्' इत्यतोऽनुमानात् तस्य तद्विशेषगुणत्वसिद्धिः, कार्यत्वस्येश्वरनिराकरणे परप्रसिद्धस्यासिद्धत्वेन प्रतिपादितत्वात् इतरेतराश्रयदोषस्य च तदवस्थत्वात्–सिद्धे हि शब्दस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वे दृष्टान्तत्वम्, ततो ज्ञानस्य तत्सिद्धिः, ततश्च शब्दस्य तत् इति कथं नेतरेतराश्रयदोषः इति साधनविकलो दृष्टान्तः। तथा साध्यविकलश्च, बुद्धेः क्षणिकत्वासंभवात्; तथात्वे वा तस्याः न ततः संस्कारः,
२०तदभावाद् न स्मरणम्, तदभावाच्च न प्रत्यभिज्ञादिव्यवहारः। न हि विनष्टात् कारणात् कार्यम्, अन्यथा चिरतरविनष्टादपि ततस्तत्प्रसङ्गात्। अनन्तरस्य कारणत्वे सर्वमनन्तरं तत्कारणमासज्येत।

अथैकार्थसमवायिज्ञानमनन्तरं तत्कारणम्, न; ज्ञानस्यात्मनो भेदे समवायस्य सर्वत्राविशेषात् प्रतिषिद्धत्वाच्च 'एकार्थसमवायि' इत्यसिद्धम्। विनष्टाच्च कारणात् कथमनन्तरं कार्यम् येनानन्तर्यं कार्यकारणभावनिबन्धनत्वेन कल्प्येत? न हि तत् कारणम् नापि तत् तस्य कार्यम्,
२५तदभाव एव भावात्। न हि यदभावेऽपि यद् भवति तत् तस्य कार्यमितरत् कारणमिति व्यवस्था, अतिप्रसङ्गात्। विनश्यदवस्थं कारणमिति चेत्, न; साऽपि विनश्यदवस्था यदि ततो भिन्ना तर्हि तया तदभिसंबन्धाभावादनुपकाराद् 'विनश्यदवस्थम्' इति कुतो व्यपदेशः अतिप्रसङ्गादेव? उपकारे वा सोऽपि यदि ततो व्यतिरिक्तः, अतिप्रसङ्गोऽनवस्थाकारी। अव्यतिरेके विनश्यदवस्थैव तेन कृता स्यात्। तामपि यद्यविनश्यदवस्थमेव कारणमुत्पा-
३०दयेत् किं प्रकृतेऽपि विनश्यदवस्थाकल्पनेन? विनश्यदवस्थं चेत् तां कुर्यात् अन्या तर्हि ततोऽर्थान्तरभूता विनश्यदवस्था कल्पनीया। तया तदभिसंबन्धाभावः, अनुपकारात्। उपकारे वा तदवस्थः प्रसङ्गः अनवस्था च। तथा चापरापरविनश्यदवस्थोत्पादनेनोपक्षीणशक्तित्वात् प्रकृतकार्योत्पादनमनवसरं प्रसक्तम्। विनश्यदवस्थायास्तत्र समवायात् तद् विनश्यदवस्थमित्यपि वार्तम्, विहितोत्तरत्वात्। अथाभिन्ना तर्हि विनश्यदवस्थाकारणैकसमय-
३५संगता, एवं च विनश्यदवस्थं कारणं कार्यं करोतीति कोऽर्थः? स्वोत्पत्तिकाल एव करोतीत्यर्थः समायातः। तथा च कार्य–कारणयोः सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वाद् न कार्यकारणभावः। तथापि तद्भावे सकलकार्यप्रवाहस्यैकक्षणवर्तित्वम्।

अथ न सौगतस्येवाऽणोरण्वन्तरव्यतिक्रमलक्षणेन क्षणेन क्षणिकत्वम्–येनायं दोषः–किन्तु एतत्समयस्थिलनन्तरनादित्वं तत्; ननु कालान्तरस्थायिनि तथा व्यवहारं कुर्वन् सहस्रक्षण-
४०स्थायिन्यपि तत्र तं किं न कुर्यात्? अपि च, पूर्वपूर्वक्षणसत्तात उत्तरोत्तरक्षणसत्ताया भेदाभ्युपगमे तदेव सौगतप्रसिद्धं क्षणिकत्वमायातम्। अभेदाभ्युपगमे पूर्वक्षणसत्तायामेवो-

१ पृ० १३५ पं० १७। २ पृ० १०५ पं० ३१। ३ प्र० पृ० पं० ११। ४-मवायसं-पृ०।
५-मस्थका-, मां० १

स्तरक्षणसत्तायाः प्रवेशादेकक्षणस्थायित्वमेव, न षट्क्षणस्थायित्वं बुद्धेः परपक्षे संभवति । भेदेतरपक्षाभ्युपगमे चानेकान्तसिद्धिः, षट्क्षणस्थानानन्तरं च निरन्वयविनाशे न ततः किञ्चित् कार्यं संभवतीत्युक्तम् ।

न चैवं बुद्धिक्षणिकत्ववादिनः क्वचित् कालान्तरावस्थायित्वं सिध्यति, तद्ग्रहणाभावात् । तथाहि-पूर्वकालबुद्धेस्तदैव विनाशाद् नोत्तरकालेऽस्तित्वमिति न तेन तया सांगत्यं कस्यचित् ५ प्रतीयते, अतिप्रसङ्गात् । उत्तरबुद्धेश्च पूर्वमसंभवाद् न पूर्वकालेन तद् तयाऽपि प्रतीयते । उभयत्रात्मनः सद्भावात् ततस्तत्प्रतीतिरित्यपि नोत्तरम्, आकाशसद्भावात् तत्प्रतीतिरित्यस्यापि भावात् । तस्याचेतनत्वाद् नेति चेत्, स्वयं चेतनत्वे आत्मनः स येन स्वभावेन पूर्वं रूपं प्रतिपद्यते न तेनोत्तरम्; न हि नीलस्य ग्रहणमेव पीतग्रहणम्, तयोरभेदप्रसङ्गात् । अथान्येन स्वभावेन पूर्वमवगच्छति, अन्येनोत्तरमिति मतिस्तथा सत्यनेकान्तसिद्धिः । स्वयं चात्मनश्चेतनत्वे किमन्यया १० बुद्ध्या यस्याः क्षणिकत्वं साध्यते ? अथ स्वयं न चेतन आत्मा अपि तु बुद्धिसंबन्धाच्चेतयत इति, अत्राप्यचेतनस्वभावपरित्यागेऽनित्यता आत्मनोऽन्यबुद्धिकल्पनावैफल्यं च, स्वयमपि तत्संबन्धात् प्रागपि तथाविधस्वभावाविरोधात् । तत्संबन्धेऽपि तत्स्वभावापरित्यागे 'ज्ञान-संबन्धादात्मा चेतयते' इत्यपि विरुद्धमेव । अथ तत्समवायिकारणत्वात् चेतयते न स्वयं चेतन-स्वभावोपादानादिति तर्हि येन स्वभावेन पूर्वज्ञानं प्रति समवायिकारणमात्मा तेनैव यद्युत्तरं १५ प्रति तथा सति पूर्वमेव तत्कार्यं ज्ञानं सकलं भवेत्; न ह्यविकले कारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्युक्ता, तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसङ्गात् । अथ पूर्वं सहकारिकारणाभावाद् न तत् कार्यम्, किं पुनः स्वयमसमर्थ-स्याकिञ्चित्करेण सहकारिणा ? किञ्चित्करत्वेऽपि यदि तत् ततो भिन्नं क्रियते प्रतिबन्धासिद्धिः अनवस्था वा । अभिन्नस्य करणेऽप्यात्मन एव करणमिति कार्यता । कथञ्चिदभिन्नस्य करणे तद्बुद्धिरपि ततः कथञ्चिदभिन्नेति नैकान्तेन तस्याः क्षणिकता । तदेवं पक्ष-हेतु-दृष्टान्तदोष-२० दुष्टत्वाद् नातोऽनुमानात् शब्दस्य क्षणिकत्वमिति सक्रियत्वं सिद्धम्, अतोऽपि द्रव्यत्वम् ।

गुणवत्त्वाच्च द्रव्यं शब्दः-'गुणवान् ध्वनिः, स्पर्शवत्त्वात्, यो यः स्पर्शवान् स स गुणवान्, यथा लोष्टादिः, तथा च ध्वनिः, तस्माद् गुणवान्' इति । स्पर्शवत्त्वाभावे कंसपात्र्यादिध्वानाभि-संबन्धेन कर्णशष्कुल्याख्यस्य शरीरावयवस्याभिघातो न स्यात्, न ह्यस्पर्शवताऽऽकाशेनाभि-संबन्धात् तदभिघातो दृष्टः; भवति च तच्छब्दाभिसम्बन्धे तदभिघातः, तत्कार्यस्य बाधिर्यस्य २५ प्रतीतेः । ननु स्पर्शवता शब्देन कर्णविवरं प्रविशता वायुनेव तद्द्वारलग्नतूलांऽशुकादेः प्रेरणं स्यात्, न; धूमेनानेकान्तात्-धूमो हि स्पर्शवान्, तदभिसम्बन्धे पांशुसम्बन्धवच्चक्षुषोऽस्वास्थ्यो-पलब्धेः, न च तेन चक्षुःप्रदेशं प्रविशता तत्पक्ष्ममात्रस्यापि प्रेरणमुपलभ्यते । न च स्पर्शवत्त्वे शब्दस्य वायोरिव प्रदेशान्तरेण ग्रहणप्रसङ्गः, धूमस्यापि चक्षुरादिप्रदेशव्यतिरिक्तशरीरप्रदेशेन ग्रहणप्रसक्तेः । धूमवच्चक्षुषा तस्य ग्रहणं स्यादिति चेत्, न; जलसंयुक्तेनानलेन व्यभिचारात्-३० तस्योष्णस्पर्शोपलम्भेऽपि चक्षुषा भास्वररूपानुपलम्भात् । अनुद्भूतत्वमुभयत्र समानम् । जलसह-चरितेनाऽनलेनोष्णस्पर्शवता शरीरप्रदेशदाहवत् तथाविधेन शब्दसहचरितेन वायुना श्रवणाख्य-शरीरावयवाभिघात इति चेत्, न; शब्देन[3] तदभिघाते को दोषः येनेयमदृष्टपरिकल्पना समाश्रीयते ? न च तस्य गुणत्वेन निर्गुणत्वात् स्पर्शाभावाद् न तदभिघातहेतुत्वमिति वक्तुं युक्तम्, चक्रकदोष-प्रसङ्गात् । तथाहि-गुणत्वमद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शत्वे, तदपि गुणत्वे, तदप्यद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शत्वे, ३५ तदपि गुणत्व इति दुरुत्तरं चक्रकम् । शब्दाभिसम्बन्धान्वय-व्यतिरेकानुविधाने तदभिघातस्यान्य-हेतुत्वकल्पनायां तत्रापि कः समाश्वासः ? शक्यं हि वक्तुम् न वाय्वभिसंबन्धात् तदभिघातः किन्त्वन्यतः, न ततोऽपि अपि त्वन्यत इत्यनवस्थाप्रसक्तिर्हेतूनाम् । तस्मात् सिद्धं स्पर्शवत्त्वा-च्छब्दस्य गुणवत्त्वम् ।

अल्प-महत्त्वाभिसंबन्धाच्च, स च 'अल्पः शब्दः महान् शब्दः' इति प्रतीतेः । न च शब्दे[4] ४० मन्द-तीव्रताग्रहणम् इयत्तानवधारणात्-यथा द्रव्येषु 'अणुः शब्दोऽल्पो मन्दः' इत्येतस्य धर्मस्य मन्दत्वस्य ग्रहणम्, 'महान् शब्दः पटुस्तीव्रः' इत्येतस्य तीव्रत्वस्य धर्मस्य ग्रहणं न पुनः परिमाणस्य,

---

१ न तस्य या सां-आ० । न तेन तस्य या सां-वां०, गु० । २ तत्संभवत्वेऽपि मा०, मा० । ३-न च त-गु० । ४-षु गुणः श-वा०, वा० ।

इयत्तानवधारणात्। न हि अयं 'महान् शब्दः' इत्यवस्यन् 'इयान्'इत्यवधारयति यथा द्रव्यान्तराणि बदराऽऽमलक-बिल्वादीनि इति वक्तुं शक्यम्; यतो वक्तव्यमत्र का पुनरियं शब्दस्य मन्दता तीव्रता वा? अवान्तरजातिविशेषः, कथम्? गुणवृत्तित्वात् शब्दत्ववत्। एतदेवोक्तं भगवता परमर्षिणौलूक्येन "गुणे भावाद् गुणत्वमुक्तम्" [वैशेषिकद० अ० १, आ० २, सू० १३]
५अस्यायमर्थः—'यो यो गुणे वर्तते स स जातिविशेषः यथा गुणत्वमिति, असदेतत्, यतः कथं शब्दस्य गुणत्वसिद्धिर्येन तत्र वर्तमानत्वाज्जातिविशेषत्वं मन्दत्वादेः? अद्रव्यत्वादिति चेत्, तदपि कथम्? अल्प-महत्त्वपरिमाणाऽसंबन्धात्, सोऽपि गुणत्वात्। ननु तदेव पूर्वोक्तं चक्रकमेतत्। न गुणत्वात् तस्याल्प-महत्त्वपरिमाणासंबन्धं ब्रूमः-येनायं दोषः स्यात्-अपि तु द्रव्यान्तरवदियत्तानवधारणादिति चेत्, न; वायोरियत्तानवधारणेऽप्यल्प-महत्त्वपरिमाणसंबन्धसंभवादनैकान्तः,
१०न हि बिल्व-बदरादेरिव वायोरियत्ताऽवधार्यते। वायोरप्रत्यक्षत्वात् इयत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विपर्ययात्, न; उक्तमत्र 'स्पर्शविशेषस्य वायुत्वात्, तस्य च प्रत्यक्षत्वात्' इति। इयत्ता चेयं यदि परिमाणादन्या कथमन्यस्यानवधारणेऽन्यस्याभावः? न हि घटानवधारणे पटाभावो युक्तः। परिमाणं चेत् तर्हि 'इयत्तानवधारणात् परिमाणं नास्ति' इति किमुक्तम्? परिमाणं नास्ति परिमाणानवधारणात्। तस्मिन्नल्प-महत्त्वपरिमाणावधारणे कथं न तदवधारणम् बिल्वादावपि
१५तत्प्रसङ्गात्? मन्द-तीव्राभिसंबन्धादल्प-महत्त्वप्रत्ययसंभवे मन्दवाहिनि गङ्गानीरे 'अल्पमेतत्' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्, तीव्रवाहिगिरिसरिन्नीरे 'महत्' इति च प्रतीतिप्रसङ्गः; न चैवम्, तस्मान्न मन्द-तीव्रतानिबन्धनोऽयं प्रत्ययः अपि त्वल्प-महत्त्वपरिमाणनिमित्तः, अन्यथा घटादावपि तन्निबन्धनो न स्यात्। घटादीनां द्रव्यत्वेन तन्निबन्धनत्वे परिमाणसंभवात् तत्प्रत्ययस्य शब्दस्यापि तथाविधत्वेन स तथाविधोऽस्तु, विशेषाभावात्। कारणगतस्याल्प-महत्त्वपरिमाणस्य शब्दे
२०उपचारात् तथा संप्रत्यय इत्यपि वैलक्ष्यभाषितम्, घटादावपि तथा प्रसङ्गात्। अपरे मन्यन्ते-"यथा अश्वजवस्य पुरुषे उपचारात् 'पुरुषो याति' इति प्रत्ययस्तथा व्यञ्जकगतस्याल्प-महत्त्वादेः शब्दे उपचारात् 'शब्दोऽल्पो महान्' इति च व्यपदेशः", तदप्यसारम्; शब्दाभिव्यक्तेरपौरुषेयत्वनिराकरणे प्रतिषिद्धत्वात्। ततो घटादाविवाल्प-महत्त्वपरिमाणसंबन्धः पारमार्थिकः शब्दे इति सिद्धं गुणवत्त्वम्।

२५ संयोगाश्रयत्वाच्च, तदपि वायुनाऽभिघातदर्शनात्-संयुक्ता एव हि पांश्वादयो वायुनाऽन्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः, तेन च तदभिघातः पांश्वादिवदेव देवदत्तं प्रत्यागच्छतः प्रतिकूलेन वायुना प्रतिनिवर्तनात्, तदप्यन्यदिगवस्थितेन श्रवणात्। ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगः निर्गुणत्वात् गुणत्वेन, न; तद्वतो द्रव्यस्यैव तेन निवर्तनम्, केवलानां तेषामागमन-प्रतिनिवर्तनाऽसंभवात् निष्क्रियत्वेनोपगमात्। केवलागमन-प्रतिनिव
३०र्तनसंभवे वा द्रव्याश्रितत्वमेतेषां गुणलक्षणं व्याहन्येत। न चात्रापि तद्वतो निवर्तनम्, आकाशस्यामूर्तत्व-सर्वगतत्वेन तदसंभवात् अन्यस्य चानभ्युपगमात्। तस्माच्छब्द एव तेन संयुज्यते साक्षादित्यभ्युपेयम्। गुणत्वेन चासंयोगे चक्रकमुक्तम्। न चासंयुक्तस्यैव तेन निवर्तनम्, सर्वस्य निवर्तनप्रसङ्गात्। प्रतिक्षणं शब्दाच्छब्दोत्पत्तिः पूर्वमेव निरस्ता।

एकादिसंख्यासंबन्धित्वाच्च गुणवत्त्वम्, तदपि 'एकः शब्दः द्वौ शब्दौ बहवः शब्दाः' इति
३५प्रत्ययदर्शनात्। न चाधारसंख्यायास्तत्रोपचारात् तथा व्यपदेश इति वक्तुं युक्तम्, आकाशस्याधारत्वाभ्युपगमात् तस्य चैकत्वात् 'एकः शब्दः' इति सर्वदा प्रत्ययप्रसङ्गात्। कारणमात्रस्य संख्योपचारे 'बहवः' इति प्रत्ययः स्यात्, तस्य बहुत्वात्। विषयसंख्योपचारे 'गगनाऽऽकाशव्योम'शब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युः, गगनादिलक्षणस्य विषयस्यैकत्वात्, पश्वादिलक्षणस्य विषयस्य बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति स्वप्नेऽपि प्रत्ययः व्यपदेशो वा न स्यात्। यथाऽविरोधं
४०संख्योपचार इति बालजल्पितम्, स्वयं संख्यावत्त्वेनैवाविरोधात्। अत्रापि गुणत्वं विरुध्यत इति

१ पृ० १३१ पं० ३५। २ पृ० १३५ पं० २०। ३ पृ० ३४ पं० ३३। ४-तद्धेतोर्द्र-वि०, का०। ५-तद्धेतोर्नि-वि०, का०। ६ पृ० १३१ पं० ३५। ७ पृ० १३६ पं० २७।

न वक्तव्यम्, इष्टत्वात् । ततः क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च शब्दो द्रव्यम् इत्यसिद्धं 'प्रतिषिध्यमान-द्रव्यभावे' इति हेतुविशेषणम् ।

ननूक्तम् 'शब्दो न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति । सत्यम्, उक्तम् किन्तु नोक्तिमात्रेण तत् सिध्यति, अतिप्रसङ्गात् । 'एकद्रव्यत्वात्' इति च तत्र हेतुरसिद्धः । तथाहि- यदि 'एकं द्रव्यं संयोगि अस्येत्येकद्रव्यः शब्दः' इत्येकद्रव्यत्वं हेतुत्वेनोपादीयते तदा विरुद्धो हेतुः, ५ संयोगित्वस्य द्रव्य एव भावात् । अथ 'एकं द्रव्यं समवायि अस्य इत्येकद्रव्यस्तद्भाव एकद्रव्यत्वम्' तदाऽसिद्धो हेतुः, समवायस्य-निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च-अभावेनैकद्रव्यसमवायित्वस्यासि-द्धत्वात् । अपि च, गुणत्वे सिद्धे गगने एकत्र समवायेन तस्य वृत्तिः सिध्यति, तत्सिद्धेश्च द्रव्यत्वनिषेधे सति गुणत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् ।

यत् पुनरुक्तम् 'एकद्रव्यः शब्दः, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, १० रूपादिवत्' इति, तदपि प्रत्यनुमानेन बाधितम्-अनेकद्रव्यः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्, घटादिवत् । स्पर्शवत्त्वं साधितत्वाद् नासिद्धम् । 'स्पर्शवत्त्वात्' इत्युच्यमाने परमा-णुभिरनेकान्त इति तन्निरासार्थम् 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणोपादानम् । 'अस्मदादि-प्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचार इत्युभयमुक्तम् ।

तथा, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वेऽपि वायुर्नैकद्रव्य इति व्यभिचारश्च, १५ तस्य तदप्रत्यक्षत्वे न किञ्चिद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं स्यात् । दर्शन-स्पर्शनग्राह्यं घटादिकं तदिति चेत्, न; वायुना कोऽपराधः कृतः येन स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि प्रत्यक्षो न भवेत्? स्पर्श एव तेन प्रतीयते इति चेत् तर्हि दर्शन-स्पर्शनाभ्यामपि रूप-स्पर्शावेव प्रतीय(ये)ते इति न द्रव्यप्रत्यक्षता नाम । अथ 'यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामि' इति प्रतीतेस्तत्प्रत्यक्षता, 'खरो मृदुरुष्णः शीतो वायुर्मे लगति' इति प्रतीतेस्तत्प्रत्यक्षता कल्प्यताम्, अविशेषात् । चक्षुषैकेन चास्मदादिभिः प्रतीयमाना-२० श्चन्द्रार्कादयः सामान्यविशेषवत्त्वेऽपि नैकद्रव्याः । अस्मदादिविलक्षणैर्बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देऽपि तथा प्रतीतिः किं न स्यात्? अत्र तथाऽनुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः । 'देशान्तरे कालान्तरे सत्त्वान्तरे च बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यः शब्दः, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वात्, रूपादिवत्' इति चेत्, असदेतत्; शब्दस्य गुणत्वेन निषिद्धत्वात् 'विशेषगुणत्वात्' इति हेतुरसिद्धः । चन्द्रादेरस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे प्रतीतिविरोधः इत्यास्तामेतत् । २५

'सत्तासंबन्धित्वात्' इत्यत्र च यदि 'स्वरूपसत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽनैकान्तिकः सामान्य-समवायादिभिः, एषां प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति तथाभूतसत्तासंबन्धित्वेऽपि गुणत्वासिद्धेः । न च सामान्यादेः स्वरूपसत्ताऽभावः, खरविषाणादेरविशेषप्रसङ्गादिति प्रति-पादितत्वात् । अथ 'भिन्नसत्तासंबन्धित्वात्' इति हेतुस्तदाऽसिद्धः, भिन्नसत्ताऽभावेन खर-विषाणादेरिव शब्दस्यापि तत्संबन्धित्वाऽसिद्धेः । यत्तु भिन्नसत्तासद्भावे तत्संबन्धात् सत्प्र-३० त्ययविषयत्वे च शब्दादेः प्रयोगद्वयमुपन्यस्तम् । तत्र यदेव चेतनस्य सत्त्वं तदेव यद्यचेतन-स्यापि स्यात् तदा चेतनाचेतनेषु सत्प्रत्ययविषयत्वात् स्याद् भिन्नसत्तासंबन्धित्वम्, न च यदेव चेतनस्य सत्त्वं तदेवाचेतनस्य, तत्सदृशस्याऽपरस्यान्यत्र भावादिति सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं प्रतिपादयिष्यन्तो निर्णेष्यामः । तदेवं शब्दस्य गुणत्वासिद्धेः नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणा-धिष्ठानत्वासिद्धेरम्बरस्य, साधनविकलो दृष्टान्त इति स्थितम् । ३५

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम् 'ज्ञानं परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतम्, विशेषगुणत्वे सति प्रदेशवृत्ति-त्वात्, शब्दवत्' । अत्रापि ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वे सति ततः शब्दस्य तत्सिद्धिः, तत्सिद्धेश्च ज्ञानस्य परममहत्त्वोपेतद्रव्यसमवेतत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषः । न च दृष्टान्तान्तरमस्ति यतोऽन्यतरप्रसिद्धेरयमदोषः स्यात् । ज्ञानस्य चात्मनोऽव्यतिरेकित्वे तद्व्यापित्वम्, 'यद् यस्मादव्य-तिरिक्तं तत् तत्स्वभावं यथाऽऽत्मस्वरूपम्, आत्माऽव्यतिरिक्तं चैतत्, ततस्तद्व्यापि' इति न ४०

१ पृ० १३६ पं० १२। २ पृ० १३४ पं० ४। ३ पृ० १०६ पं० १०। ४ पृ० १३४ पं० ६। ५ पृ० १३५ पं० २३। ६-यमान इ-गु०। ७ पृ० १३६ पं० १४। ८ पृ० ११० पं० २१। ९-न्नायासद्भावे त-वि०। १०-यत्वे च गु०, भा०। ११-पयाविषयत्वे च वि०।-पयविषयत्वे च वां०। १२ पृ० १३४ पं० १७-२०।

प्रदेशवृत्तित्वम् । तथापि तद्वृत्तित्वे ज्ञानेतरस्वभावतयाऽऽत्मनः अनेकान्तसिद्धिः । व्यतिरेके आत्मगुणत्ववदन्यगुणत्वस्याप्यप्रतिषेधाद् विशेषगुणत्वासिद्धिः । [1]व्यतिरेकाविशेषेऽप्यात्मन एव गुणो ज्ञानं नाकाशादेरिति कुतोऽयं विशेषः ? समवायकृत इति चेत्, न, तस्यापि ताभ्यामर्थान्तरत्वे तदवस्थो दोषः, व्यतिरेके समवायस्य सर्वत्राविशेषाद् न ततोऽपि विशेषः ।
५ अव्यतिरेके तस्यैव अभाव इति न ततो विशेषः । न च समवायः संभवति इति प्रतिपादितम् । न चात्मनो व्यापित्वे नित्यत्वे च ज्ञानादिकार्यकारित्वमपि संभवति । तत्र तत्कार्यत्वाद्पि तद्विशेषगुणो ज्ञानम् । न चात्मनः प्रदेशाः सन्ति येन प्रदेशवृत्तित्वं ज्ञानस्य सिद्धं स्यात् । कल्पिततत्प्रदेशाभ्युपगमे च तद्वृत्तित्वमपि हेतुः कल्पित इति न कल्पितात् साधनात् साध्यसिद्धिर्युक्ता, सर्वतः सर्वसिद्धिप्रसङ्गात् । सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं च हेतोः विपर्यये बाधकप्रमाणावृत्त्याऽत्रापि
१० समानमिति ।

तथा, स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्य 'अहम्' इति स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वादात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमान सर्व एव हेतुः प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः । सप्रतिपक्षश्चायं हेतुरित्यसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य लक्षणमसिद्धम् । स्वदेहमात्रात्मप्रसाधकश्च प्रतिपक्षहेतुरग्रेव प्रदर्शयिष्यते । तन्नातोऽपि हेतोरात्मनो विभुत्वसिद्धिः ।
१५ यदप्यात्मनो विभुत्वसाधनं कैश्चिदुपन्यस्तम्—"अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो य एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणः स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते यथा वेगः, तथा चादृष्टम्, तस्मात् तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्म आरभते इति । न चासिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्योप-
२० कारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत्, एकद्रव्यत्वं चैकस्यात्मनस्तदाश्रयत्वात्, एकद्रव्यमदृष्टम्, विशेषगुणत्वात्, शब्दवत्' । 'एकद्रव्यत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थम् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युक्तम् । 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने मुशलहस्तसंयोगेन स्वाश्रयाऽसंयुक्तस्तम्भादिचलनहेतुना [2] व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति विशेषणम् । 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन
२५ व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'गुणत्वात्' इत्यभिधानम्" [ ]

एतदपि प्रत्यक्षबाधितप्रतिज्ञासाधकत्वेन एकशाखाप्रभवत्वानुमानवदनुमानाभासम् । 'एकद्रव्यत्वे' इति च विशेषणं किमेकस्मिन् द्रव्ये संयुक्तत्वात्, उत तत्र समवायात् ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; संयोगगुणेनादृष्टस्य गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वप्रसक्तेः 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्येतस्य बाधाप्रसङ्गात् । अथ द्वितीयः तदा द्रव्येण सह कथञ्चिदेकत्वमदृष्टस्य प्राप्तम्, न ह्यन्यस्यान्यत्र
३० समवायः, घट-रूपादिषु तस्य तथाभूतस्यैवोपलब्धेः । न हि घटाद् रूपादयः, तेभ्यो वा घटः, तदन्तरालवर्ती समवायश्च भिन्नः प्रतीतिगोचरः, अपि तु कथञ्चिद् रूपाद्यात्मकाश्च घटादयः तदात्मकाश्च रूपादयः प्रतीतिगोचरचारिणोऽनुभूयन्ते, अन्यथा गुण-गुणिभावेऽतिप्रसङ्गाद् घटस्यापि रूपादयः पटस्य स्युः । 'तेषां तत्राप्यप्रतीतेरितरेषां तु प्रतीतेः' इत्यादिकं प्रतिविहितत्वाद् नात्रोद्घोष्यम् । तेन समवायेनैकत्रात्मनि वर्तनाददृष्टस्यैकद्रव्यत्वं वादि-प्रतिवादिनोरसिद्धम्,
३५ एकान्तभेदे समवायाभावेनैकद्रव्यत्वस्यासिद्धेः ।

अथ गुणिनो गुणानामनर्थान्तरत्वे गुण—गुणिनोरन्यतर एव स्यात्, अर्थान्तरत्वे परपक्ष एव समर्थितः स्यादिति समवायः सिद्धः । कथञ्चिद्वादोऽपि न युक्तः अनवस्थादिदोषप्रसङ्गात्, अयुक्तमेतत्; पक्षान्तरेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—द्वित्वसंख्या-संयोगादिकमनेकेन [3] द्रव्येणाभिसंबध्यमानं यदि सर्वात्मनाऽभिसंबध्यते द्वित्वसंख्यादिमात्रम् द्रव्यमात्रं वा स्यात्, एकेनैव
४० वा द्रव्येण [4] सर्वात्मनाऽभिसंबन्धाद् न द्रव्यान्तरेण तत्प्रतीतिः । अथैकेन देशेनैकत्र वर्ततेऽन्येनाऽ-

---

[1] पृ० १०६ पं० १० । [2] स्तम्भादौ दृढलग्नं किमपि द्रव्यं हस्तेनाऽऽकृष्य ततो विभज्यमानं तस्यैव स्तम्भादेश्चलननिमित्तीभवति इत्यनुभवसिद्धम् । [3] –व्यायोगा–वा०, बा० विना । [4] सर्वेणात्म–वा०, बा०, आ०, वि० ।

न्यत्र, तेऽपि देशा यदि ततो भिन्नास्तेष्वपि स तथैव वर्तते इत्यनवस्था । अभिन्नाश्चेत् उक्तो दोषः ।
कथञ्चित्पक्षे परवाद एव समर्थितः स्यादित्यात्मना सहादृष्टस्य कथञ्चिदनन्यभाव एव एकद्रव्य-
त्वमित्यविभुत्वाद् गुणानां तदव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽप्यविभुत्वमिति विपक्षसाधकत्वादेकद्रव्यत्व-
लक्षणस्य हेतुविशेषणस्य विरुद्धत्वम् ।

'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यत्रापि यदि देवदत्तसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्तिषु ५
मुक्ताफलादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, तदयुक्तम्; अतिदूरत्वेन द्वीपान्तरवर्तिभिस्तै-
स्तस्यानभिसंबन्धित्वेन तत्र क्रियाहेतुत्वायोगात्, तथापि तद्धेतुत्वे सर्वत्र स्यात्, अविशेषात् ।
अथानभिसंबन्धाविशेषेऽपि यदेव योग्यं तदेव तेनाकृष्यते न सर्वमिति नातिप्रसङ्गः, न; चक्षुषोऽ-
प्राप्यकारित्वेऽपि यदेव योग्यं तदेव तद्ग्राह्यमिति यदुक्तं परेण-"अप्राप्यकारित्वे चक्षुषो
दूरव्यवस्थितस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः" [ ] इत्ययुक्तं स्यात् । अथ स्वाश्रयसंयोग- १०
संबन्धसम्भवात् 'अनभिसम्बन्धात्' इत्यसिद्धम् । तथाहि-यमात्मानमाश्रितमदृष्टं तेन संयुक्तानि
देशान्तरवर्तिमुक्ताफलादीनि देवदत्तं प्रत्याकृष्यमाणानि, न; सर्वस्याऽऽकर्षणप्रसङ्गात् तेनाभि-
सम्बन्धाविशेषात् । न च यददृष्टेन यज्जन्यते तत् तेनाकृष्यत इति कल्पना युक्तिमती, देवदत्त-
शरीरारम्भकपरमाणूनां तददृष्टाजन्यत्वेनाऽनाकर्षणप्रसङ्गात्; तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसङ्गः प्रतिपादित
एव । यथा च कारणत्वाविशेषे घटदेशादौ सन्निहितमेव दण्डादिकं घटादिकार्यं जनयति अदृष्टं १५
त्वन्यथेत्यभ्युपगमस्तथा बाह्येन्द्रियत्वाविशेषेऽपि त्वगिन्द्रियं प्राप्तमर्थमवभासयति लोचनं
त्वन्यथेत्यभ्युपगमः किं न युक्तः ?

नापि द्वीपान्तरवर्तिमुक्तादिसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्तमानं तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, विकल्पानुपपत्तेः ।
तथाहि-यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथा
यद्यदृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पेत् स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, तथा सत्यदृष्टस्येव मुक्तादेरपि तथैव २०
तं प्रत्युपसर्पणाविरोधाद् व्यर्थमदृष्टपरिकल्पनम् । तथाभ्युपगमे च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद्
देवदत्तगुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुरनैकान्तिकः अदृष्टेनैव । वायुवच्च सक्रियत्वमदृष्टस्य
गुणत्वं बाधते । शब्दवच्चापरापरस्योत्पत्तावपरमदृष्टं निमित्तकारणं तदुत्पत्तौ प्रसक्तम्, तत्राप्य-
परमित्यनवस्था; अन्यथा शब्देऽपि किमदृष्टलक्षणनिमित्तपरिकल्पनया ? अदृष्टान्तराद् तस्य तं
प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात्, तदपि तदन्तरादित्यनवस्था । २५

अथ तत्रस्थमेव तत् तेषां तं प्रत्युपसर्पणे हेतुः, तदपि न युक्तम्; अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे
तथाऽदर्शनात्, न हि प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसंचलनहेतुर्ग्रासादिकं
देवदत्तमुखं प्रति प्रापयन् दृष्टः, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात् । अथ प्रयत्नवैचित्र्यदृष्टेरदृष्टेऽप्य-
न्यथा कल्पनम् । तथाहि-कश्चित् प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवानपरत्र क्रियाहेतुर्यथाऽनन्तरोदितः;
अपरश्चान्यथा यथा शरासनाऽध्यासपदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरा(शरा)दीनां लक्ष्यप्रदेशप्राप्ति- ३०
क्रियाहेतुः । यद्येवम्, इयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसंयुक्तासंयुक्तद्रव्यक्रियाहे-
तुत्वेन किं नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद् भावानाम् ? तथाऽदृष्टेरिति नोत्तरम्, अयस्कान्तभ्रामकस्पर्शगु-
णस्यैकद्रव्यस्य स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वेऽप्याकर्षकारयद्रव्यविशेषव्यवस्थितस्य तथावि-
धस्यैव तस्य स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वदर्शनात् । अथ द्रव्यं क्रियाकारणम् न स्पर्शादिगुणः,
द्रव्यरहितस्य क्रियाहेतुत्वादर्शनात्, न, वेगस्य क्रियाहेतुत्वम्, क्रियायाश्च संयोगनिमित्तत्वम् तस्य ३५
च द्रव्यकारणत्वं तत एव न स्यात्, तथा च 'वेगवत्' इति दृष्टान्तासिद्धिः । अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे
वेगादिरहितस्यापि तत्प्रसक्तिः, स्पर्शादिरहितस्यायस्कान्तस्यापि स्पर्शस्याकारणत्वेऽन्यत्र क्रियाहेतु-
त्वप्रसक्तिः । तद्रहितस्य तस्यादृष्टेर्नायं दोषस्तर्हि लोहद्रव्यक्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यत इत्युभयं तदस्तु,
अविशेषात् । एवं सति 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति व्यभिचारी हेतुः ।

१-ष्वपि तथै-गु० । २ अस्य परकीयवाक्यस्य आशय न्यायवार्तिके पृ० ३३ पं० २४ । ३-कारि च-वि० ।
४ प्र० पृ० पं० १२ । ५-स एव सं-वि० । ६ अत्र स्थले प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि "यथा शरासनाध्यासपदसंयुक्ता-
त्मप्रदेशस्थ एव शरीरादीना लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिहेतुरिति" इत्येव पाठ -पृ० १७२ द्वि०, पं० १५ । तथापि 'शरादीनाम्'
इति सम्यग् भाति, वि० प्रतावपि संशोधित पाठ तथैव उपलभ्यते । ७ अयस्कान्तगतो यो भ्रामकः स्पर्शगुणस्तस्येत्यर्थ ।
८-स्य तस्य क्रि-वा० । ९ अत्र 'तर्हि' पदमध्याहार्यम् ।

एतेन यदुक्तं परेण–"अदृष्टमेवायस्कान्तेनाकृष्यमाणलोहदर्शने सुखवत्पुंसो निःशल्यत्वेन तत्क्रियाहेतुः" [ ] इति तन्निरस्तम्, सर्वत्र कार्यकारणभावेऽस्य न्यायस्य समानत्वात् अदृष्टमेव कारणं स्यात्, यस्य शरीरं सुखं दुःखं चोत्पादयति तददृष्टमेव तत्र हेतुरिति न तदारम्भकावयवक्रियासंयोगादयः। अपि च, तददृष्टस्य कथं तद्धेतुत्वम्? तद्भावे भावादभावेऽभा-
५ वादिति चेत्, किं पुनरयस्कान्तस्पर्शाद्यभाव एव तत्क्रिया दृष्टा येनेषां तत्र कारणत्वाक्षतिः? ततो न दृष्टानुसारेण तत्रस्थस्यैवादृष्टस्य तं प्रति तत्क्रियाहेतुत्वम्। प्रयत्नवैचित्र्याभ्युपगमे च हेतोरनैकान्तिकत्वम्।

अथ सर्वेणादृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वम्। यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति तत् तत्रैव क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु ततः क्रिया न स्यादित्युक्तम्। न च गुणत्व-
१० मप्यदृष्टस्य सिद्धमिति 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। अथ 'अदृष्टं गुणः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात्, रूपादिवत्' न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वमसिद्धम्। तथाहि—'न द्रव्यमदृष्टम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति, असदेतत्; एकद्रव्यत्वस्यासिद्धताप्रतिपादनात्, सत्तासंबन्धित्वस्य चेति। यदपि तद्गुणत्वसाधनमुक्तम् 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तविशेषगुणाकृष्टाः, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, ग्रासादिवत्' इति, तदप्ययुक्तम्, यतो यथा तद्विशेष-
१५ गुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तो ग्रासादयः समुपलभ्यन्ते तथा नयनाञ्जनादिद्रव्यविशेषेणापि समाकृष्टाः स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्ते एव, ततः 'किं प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः, उत नयनाञ्जनादिसधर्मणा' इति संदेहः, शक्यते ह्येवमनुमानमारचयितुं परेणापि–'नयनाञ्जनादिसधर्मणा विवादगोचरचारिणः पश्वादयः समाकृष्टा देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्, स्त्र्यादिवत्'। अथ तदभावेऽपि प्रयत्नादपि तद्दृष्टेरनैकान्तिकत्वम्,
२० प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेऽप्यञ्जनादेरपि तद्दृष्टेर्भवदीयहेतोरनैकान्तिकत्वम्। न चात्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो हेतोः सद्भावादव्यभिचारः, अन्यत्राप्यञ्जनादिसधर्मणोऽनुमीयमानस्य सद्भावेनाव्यभिचारप्रसङ्गात्। तत्र प्रयत्नसामर्थ्यादस्य वैफल्येऽन्यत्राप्यञ्जनादिसामर्थ्याद् वैफल्यं समानम्। अथाञ्जनादेरेव तद्धेतुत्वे सर्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणप्रसक्तिः, न चाञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वतः सर्वान् प्रति तदागमनम्, ततोऽवसीयते 'तदविशेषेऽपि यद्वैकल्यात् तन्नेति तदपि कारणम् नाञ्ज-
२५ नादिमात्रम्' इति। तदेतत् प्रयत्नकारणेऽपि समानम्; न हि सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादयः उपसर्पन्ति, तदपहारादिदर्शनात्। ततोऽत्राप्यन्यत् कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेऽपि, अविशेषात्। ततः प्रयत्नवदञ्जनादेरपि तं प्रति तदाकर्षणहेतुत्वात् कथं न संदेहः? अञ्जनादेः स्त्र्याद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे गन्धादिवत् तदर्थिना न तदुपादानम्। न च दृष्टसामर्थ्यस्याप्यञ्जनादेः कारणत्वक्षतिपरिहारेणान्यकारणत्वकल्पने भवतोऽनवस्थामुक्तिः। अथाञ्जनादिकमदृष्टसहकारित्वात्
३० तत्कारणं न केवलमिति, नन्वेवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्र कारणत्वम्, ततः संदेह एव 'किं ग्रासादिवत् प्रयत्नसधर्मणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः, किं वा स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्संयुक्तेन द्रव्येण' इति संदिग्धं 'गुणत्वात्' इत्येतत् साधनम्। सपरिस्पन्दात्मप्रदेशमन्तरेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि देवदत्तविशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता चात्र दृष्टान्तस्य।

यच्च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति' इत्युक्तं तत्र कः पुनरसौ देवदत्तशब्दवाच्यः? यदि शरीरम्,
३५ तदा शरीरं प्रत्युपसर्पणात् शरीरगुणाकृष्टाः पश्वादयः इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वस्य साधनाद् विरुद्धो हेतुः। अथात्मा, तस्य समाकृष्यमाणपदार्थदेश-कालाभ्यां सदाऽभिसंबन्धाद् न तं प्रति कस्यचिदुपसर्पणम्, अन्यदेशं प्रत्यन्यदेशस्योपसर्पणदर्शनात् अन्यकालं प्रत्यन्यकालस्य च, यथाङ्कुरं प्रत्यपरापरशक्तिपरिणामप्राप्तेर्बीजादेः। न चैतदुभयं नित्यव्यापिव्यापिन्यात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते संभवति अतो 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणम्,
४० 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः, 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्' इति साधनधर्मः परस्य स्ववचविरचितमेव। न च शरीरसंयुक्त आत्मा सः, तस्यापि नित्यव्यापित्वेन तत्र सन्निधानेनानियार

१-यस्यास-वा०, बा०। २-भ्राष्टे-वा०, बा०। ३ पृ० १४१ प० १४। ४ पृ० १४१ प० ४। ५ पृ० १४१ प० २२। ६ पृ० १३७ प ३५। ७ पृ० १३७ प० ३६। ८-रूपविविरचि-वा०, बा०। ९—वि विरचि-भां०, मां०।

णात्; न हि यद्युक्तमाकाशं मेर्वादौ न सन्निहितम् । अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो देवदत्तः, स काल्पनिकः, पारमार्थिको वा? काल्पनिकत्वे 'काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयः, तथाभूतात्मप्रदेशं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणकृतः प्रेत्यभावोऽपि न पारमार्थिकः स्यात्, न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयः तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् । पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः, तेऽपि यदि ततोऽभिन्नास्तदात्मैव ते ५ इति न पूर्वोक्तदोषपरिहारः । भिन्नाश्चेत् तर्हि तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इति तेषामेवात्मत्वप्रसक्तिरित्यन्यात्मपरिकल्पना व्यर्था । तेषां च न द्वीपान्तरवर्तिभिर्मुक्तादिभिः संयोग इति 'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्तेऽन्यत्र क्रियाहेतुः' इति व्याहतम् । संयोगे वा आत्मवत् इत्यनिवृत्तो व्याघातः । अथ तेषामप्यपरे शरीरसंयुक्ताः प्रदेशाः देवदत्तशब्दवाच्याः, तत्राप्यनन्तरदूषणमनवस्थाकारि । अथात्मानमन्तरेण कस्य ते प्रदेशाः स्युरिति तत्प्रदेश्यपर आत्मेत्यभ्युपगमनीयम् । नन्वर्थान्तरभूतत्वे १० आत्मनः कथं 'तस्य ते' इति व्यपदेशः? अथ तेषु तस्य वर्तनात् तथा व्यपदेशः, न सदेतत्; तथाऽभ्युपगमेऽवयविपक्षभाविदूषणावकाशात् । यथा च तेषां सदूषणत्वं तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते चेत्यास्तां तावत् । तत्र परस्य देवदत्तशब्दवाच्यः कश्चिदस्ति यं प्रत्युपसर्पणवन्तः पश्वादयः स्वक्रियाहेतोर्गुणत्वं साधयेयुः । अतो नैतदपि साधनमात्मनो विभुत्वप्रसाधकम् ।

यदपि 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, आकाशवत्' इति साधनम्, तदप्यचारु; यतो यदि 'स्वशरीरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' इति हेतुस्तथा सति तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेर्विरुद्धो हेत्वाभासः । अथ स्वशरीरवत् परशरीरे अन्यत्र चोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुस्तदाऽसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्—न हि बुद्ध्यादयस्तद्गुणास्तथोपलभ्यन्ते, अन्यथा सर्वसर्वज्ञताप्रसङ्गः । अथैकनगरे उपलब्धा बुद्ध्यादयो नगरान्तरेऽप्युपलभ्यन्ते, मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरेऽपीति कथं न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्? न; वायोरपि स्पर्शविशेषगुण एकत्रैकदोपलब्धोऽन्यत्रान्य- २० दोपलभ्यमानस्तस्यापि सर्वगतत्वं प्रसाधयेत्, अन्यथा तेनैव हेतोर्व्यभिचारः । अथ तांस्तान् देशान् क्रमेण गतस्य तस्य तद्गुण उपलभ्यते, आत्मनोऽपि तथैव तद्गुणस्योपलम्भः इति समानं पश्यामः । न च तद्वत् तस्यापि सक्रियत्वप्रसक्तेरयुक्तमेवं कल्पनमिति वाच्यम्, इष्टत्वात् ।

अथ लोष्टवत् ततो मूर्तत्वप्रसङ्गस्तस्य दोषः । ननु केयं मूर्तिः? असर्वगतद्रव्यपरिमाणं सेति चेत् नायं दोषः, असर्वगतात्मवादिनोऽभीष्टत्वात् । रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वं सेति चेत्, न २५ तादृशी मूर्तिमात्मनः सक्रियत्वं साधयति, व्याप्त्यभावात्; रूपादिमन्मूर्त्यभावे सक्रियत्वात् । 'यो यः सक्रियः स रूपादिमन्मूर्तिमान्, यथा शरः, तथा चात्मा, तस्माद् रूपादिमन्मूर्तिमान्' इति कथं न व्याप्तिसंभवः? असदेतत्; मनसाऽपि व्यभिचारात् । न च तस्यापि पक्षीकरणम्, 'रूपादिविशेषगुणानधिकरणं सद् मनोऽर्थं प्रकाशयति, शरीराद्यर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वात्, आत्मवत्' इत्यनुमानविरोधप्रसङ्गात् । न च सक्रियत्वं रूपादिमन्मूर्त्य- ३० भावेन विरुद्धं यतः ततस्तन्निवर्तमानमात्मनि तथाविधां मूर्तिं साधयेत् । न च तथाविधमूर्तिरहितेऽम्बरादौ तददर्शनात् सिद्धो विरोधः, एकशाखाप्रभवत्वस्याप्यन्यत्र पक्षेऽदर्शनाद् विरोधसिद्धिप्रसक्तेः । पक्ष एव व्यभिचारदर्शनात् सा तत्र नेति चेत्, न; सक्रियत्वस्यापि तथा व्यभिचारः समानः, पक्षीकृत एवात्मनि रूपादिमन्मूर्तिरहिते तद्दर्शनात् । अनेनैव तत्साधनाद् न व्यभिचार इत्येकशाखाप्रभवत्वानुमानेऽपि समानम् । प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशान- ३५ न्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वमुभयत्र तुल्यम् । तत्र सक्रियत्वमात्मनो रूपादिमन्मूर्तित्वं साधयतीति व्यवस्थितम् ।

अथ सक्रियत्वे तस्यानित्यत्वम् । तथाहि—'यत् सक्रियं तद् अनित्यम्, यथा लोष्टादि, तथा चात्मा, तस्मादनित्यः' इति, एतदपि न सम्यग्; परमाणुभिरनैकान्तिकत्वात्; कथञ्चिदनित्यत्वसि-

---

१ पृ० १४४ पं० ४१ । २ पृ० १४२ पं० १५ । ३ प्र० पृ० पं० २ । ४ पृ० १०२ पं० १९ ।
५-भावेऽपि न भा०, मां० । ६-तः तन्निव-आ०, वि०, हा० । ७-रहिताम्ब-आ०, वि०, हा०, कां०, अ० ।
८-न्यथा प-मां०, भां० ।-न्यत्राप-वि० । ९-धसक्तिप्र-वा०, बा० विना ।

ष्टत्वात् सिद्धसाधनं च। सर्वात्मनाऽनित्यत्वस्य लोष्टादावप्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता दृष्टान्तस्य। तन्न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनः सिद्धम्।

अपरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनोऽतोऽनुमानात् साधयन्ति—"देवदत्तोपकरणभूतानि मणि-मुक्ताफलादीनि द्वीपान्तरसंभूतानि देवदत्तगुणकृतानि, कार्यत्वे सति देवदत्तोपकारकत्वात्, ५ शकटादिवत्। न च तद्देशेऽसन्निहिता एव तद्गुणास्तान् व्युत्पादयितुं समर्थाः, न हि पटदेशेऽसन्निधानवन्तस्तन्तु-तुरि-कुविन्दादयः पटमुत्पादयितुं क्षमाः। आत्मगुणानां च तद्देशसन्निधानं न तद्गुणिसन्निधिमन्तरेण संभवि, अगुणत्वप्राप्तेः, ततस्तस्यापि तद्देशत्वम्" [ ]असदेतत्; तत्कार्यत्वेऽपि तेषां न 'अवश्यतया कार्यदेशसन्निधिमद् निमित्तकारणम्' इति नियम उपलब्धिगोचरः, अन्यदेशस्यापि ध्यानादेरन्यस्थितविषाद्यपनयनकार्यकर्तृत्वस्योपलब्धिविषयत्वात्। तन्ना- १० तोऽपि सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसिद्धिरित्यसिद्धो हेतुः।

एतेन 'विभुत्वाद् महानाकाशः तथा चात्मा' इति निरस्तम्, विभुत्वस्यात्मन्यसिद्धेः। तथाहि—सर्वमूर्तैर्युगपत्संयोगो विभुत्वम्। न च सर्वमूर्तिमद्भिर्युगपत्संयोगस्तस्य सिद्धः। अथैकदेशवृत्तिविशेषगुणाधारत्वात् तस्य सर्वमूर्तैर्युगपत्संयोग आकाशस्येव सिद्धः, असदेतत्; एकदेशवृत्तिविशेषगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनस्य सर्वमूर्तिमत्संयोगाधारत्वस्य च साध्यस्याकाशेऽप्यसिद्धेरुभय- १५ विकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तादाकाशे साध्य-साधनोभयधर्मसम्बन्धित्वं सिद्धमिति शक्यं वक्तुम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्।

यदपि 'विभुरात्मा, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद् यद् अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यं तत् तद् विभु, यथाऽऽकाशम्, तथा चात्मा, तस्माद् विभुः' इति, तदप्यसारम्; तन्नित्यत्वासिद्धेर्हेतोरसिद्धत्वात्, अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य च विशेषणस्यात्मनो २० द्रव्यत्वासिद्धेरसिद्धिः, तदसिद्धिश्च इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि–अणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वे सिद्धेऽनाधारस्य तस्यासम्भवादात्मनो गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदाश्रितत्वेनाणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न चाकाशस्याप्यणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं विभुत्वं च सिद्धमिति साध्य-साधनविकलो दृष्टान्तः। न चात्मदृष्टान्तबलात् तस्य तदुभयधर्मयोगित्वं सिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, अत्रापीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गस्य २५ व्यक्तत्वात्। अपि च, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं च भविष्यत्यविभुत्वं च, विपक्षे हेतोर्बाधकप्रमाणाभावेन ततो व्यावृत्त्यसिद्धेः सन्दिग्धानैकान्तिकश्च हेतुः। न च विपक्षे हेतोरदर्शनं बाधकं प्रमाणम्, सर्वाऽऽत्मसम्बन्धिनस्तस्यासिद्धाऽनैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्।

अपि च, आत्मनः स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन सुख-दुःखादिपर्यायाक्रान्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात् तद्विभुत्वसाधकस्य हेतोरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम्। ३० अन्यस्य च 'अहम्' इत्यध्यक्षसिद्धस्य प्रमाणाविषयत्वेनाऽसत्त्वादाश्रयासिद्धो हेतुरिति। अनया दिशाऽन्येऽपि तद्विभुत्वसाधनायोपन्यस्यमाना हेतवो निराकर्त्तव्याः, अस्य निराकरणप्रकारस्य सर्वेषु तत्साधकहेतुषु समानत्वात्। तन्नात्मनः कुतश्चिद्विभुत्वसिद्धिः।

अथापि स्यात् यथास्माकं तद्विभुत्वसाधकं प्रमाणं न सम्भवति तथा भवतामपि तदविभुत्वसाधकप्रमाणाभाव इति नानुपमसुखस्यानोपगतिस्तेषां सिद्धेति तदवश्यं चोद्यम्; न हि परपक्षे ३५ दोषोद्भावनमात्रतः स्वपक्षाः सिद्धिमुपगच्छन्ति अन्यत्र स्वपक्षसाधकत्वलक्षणपरप्रयुक्तहेतुविरुद्धतोद्भावनात्, न चासौ भवता प्रदर्शितेति, न सम्यगेतत्; तदभावासिद्धेः। तथाहि–'देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः, तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात्, यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः, यथा देवदत्तस्य गृहे एव व्याप्त्योपलभ्यमानभास्वरत्वादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणस्तदात्मा' इति। तदात्मनो हि ज्ञानादयो गुणास्ते च ४० तद्देह एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे, नाप्यन्तराले।

अत्र केचिद्धेतोरसिद्धतामुद्भावयन्तः "शरीरान्तरेऽपि तदङ्गनासम्बन्धिनि तद्गुणा उपलभ्यन्ते इत्यसिद्धता। तथाहि–'देवदत्ताङ्गनाङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्,

१–तत कार्य–भा० मा० विना। २–न्यवस्थित–भा०, मा०। ३ धाम्यद–गां०।

'ग्रासादिवत्' । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जनने व्याप्रियतेऽन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तदङ्गनाङ्गप्रादुर्भावदेशे तत्कारणतद्गुणसिद्धिः । तथा, तदन्तराले च प्रतीयन्ते । तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यक् पवनं तद्गुणपूर्वकम्, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, वस्त्रादिवत् । यत्र च तद्गुणास्तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयत इति 'स्वदेह एव देवदत्तात्मा' इति प्रतिज्ञा अनुमानबाधिता । ततोऽनुमानबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः" [ ] ५

ननु केऽत्र देवदत्तात्मगुणा ये तदङ्गनाङ्गे तदन्तराले च प्रतीयन्ते ? यदि ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वभावाः-"सहवर्तिनो गुणाः" [ ] इति वचनात्-इति पक्षः, स न युक्तः; ज्ञान-दर्शन-सुखानि संवेदनरूपाणि न तदङ्गनाङ्गजन्मनि व्याप्रियमाणानि प्रतीयन्ते; नापि सत्तामात्रेण तद्देशे प्रतीतिगोचराणि । वीर्यं तु शक्तिः क्रियानुमेया; साऽपि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिङ्गभूतपरिस्पन्ददर्शनात् । तस्याश्च तदङ्गनादेहनिष्पत्तौ देवदत्तस्य भार्या दुहिता स्यात् ।१० ततस्तज्ज्ञानादेस्तद्देह एव तत्कार्यजननविमुखस्य प्रतीतेः प्रत्यक्षतः तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः ।

अथ धर्माऽधर्मौ तदङ्गनादिकार्यनिमित्तं तद्गुणः, तदयुक्तम्; न धर्माऽधर्मौ तदात्मनो गुणौ, अचेतनत्वात्, शब्दादिवत् । न सुखादिना व्यभिचारः, तत्र हेतोरवर्तनात्-तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येन तस्य व्याप्तत्वात् अभिमतपदार्थसम्बन्धसमय एव स्वसंवेदनरूपाह्लादस्वभावस्य तदात्मनोऽनुभवात्, अन्यथा सुखादेः स्वयमननुभवात् अनवस्थादोषप्रसङ्गात् अन्यज्ञानेनाप्यनुभवे सुखस्य परलोकप्रख्यताप्रसक्तिः । प्रसाधितं चैतत् प्राक् । १५

न चासिद्धता'अचेतनत्वात्' इति हेतोः । तथाहि-अचेतनौ तौ, अस्वसंविदितत्वात्, कुम्भवत् । न बुद्ध्याऽस्य व्यभिचारः, अस्याः स्वसंवेदनसाधनात्-'स्वग्रहणात्मिका बुद्धिः, अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत् स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकम्, यथा घटः' इति २० व्यतिरेकी हेतुः ।

न च धर्माऽधर्मयोर्ज्ञानरूपत्वाद् बौद्धदृष्ट्या ज्ञानस्य च स्वग्रहणात्मकत्वादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यम्, तयोः स्वरूपग्रहणात्मकत्वे सुखादाविव विवादाभावप्रसक्तेः । अस्ति चासौ अनुमानोपन्यासान्यथानुपपत्तेस्तत्र । न च लौकिक-परीक्षकयोः 'प्रत्यक्षं कर्म' इति व्यवहारसिद्धम् । न चाविकल्पबोधविषयत्वात् स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विवादः क्षणिकत्वादिवत्, तथाऽनिश्चयात् २५ तद्विषयेऽतिप्रसङ्गात् । तथाहि-अविकल्पकाध्यक्षविषयं जगत् जन्तुमात्रस्य; तथाऽनिश्चयस्तु क्षणिकत्ववत् निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् । न च मूषिकालर्कविषविकारवत् तदनन्तरं तत्फलादर्शनाच्च तद्दर्शनव्यवहार इति, स्वसत्तासमये स्वकार्यजननसामर्थ्ये तस्य तदैव तत्कार्यमिति तदनन्तरं तद्दृष्टिप्रसक्तेः अन्यदा तु स एव नास्तीति कुतस्तत्तस्य भावः ?

अथ तयोरचेतनत्वेऽपि तदात्मगुणत्वे को विरोधः ? अचेतनस्य चेतनात्मगुणत्वमेवं ।३० चेतनश्च तदात्मा स्वपरप्रकाशकत्वात् अन्यथा तदयोगात् कुड्यादिवत् । न च धर्माऽधर्मयोरभावादाश्रयासिद्धो हेतुः, अनुमानतस्तयोः सिद्धेः । तथाहि-चेतनस्य स्वपरज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशः तत्सम्बद्धान्यनिमित्तः, अनन्यनेयत्वे सति तत्प्रवेशात्, मत्तस्याशुचिस्थानप्रवेशवत्, योऽसावन्यः स द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति ।

न च कस्यचित् पूर्वशरीरत्यागेन शरीरान्तरगमनाभावात् तत्प्रवेशोऽसिद्धः, अनुमानात् ३५ तत्सिद्धेः । तथाहि-तदहर्जातस्य स्तनादौ प्रवृत्तिस्तदभिलाषपूर्विका, तत्त्वात्, मध्यदशावत् । यथा च परलोकाऽऽगाम्यात्मा अनुमानात् सिद्धिमुपगच्छति तथा प्राक् प्रतिपादितम् । सुखसाधनजलादिदर्शनानन्तरोद्भूतस्मरणसहायेन्द्रियप्रभवप्रत्यभिज्ञानक्रमोपजायमानाभिलाषादेर्व्यवहारस्यैक-

१ पृ० १४६ पं० ३७ । २ तद्देशप्र-वा०, बा० । ३-त्मगुणौ गु० । ४-रुद्धत्वेन वा०, बा० विना । ५-नुभावात् भां०, गु०, वि० । ६-स्प्रसिद्धिः । भां०, मां० । ७-लर्कविका-गु०, वा०, बा०, ह्य० । ८-ननासामर्थ्ये त-गु०, भा० । -ननसमये त-वा०, बा० । ९-नात्मागु-वि० । -नागु-भा०, गु० । १०-च अचेतनश्च वा०, बा० । ११-नन्याने-वा०, बा० । १२ पृ० ७४ पं ११-पृ० ९१ पं० २० ।

कर्तृपूर्वकत्वेन प्राक् प्रसाधितत्वात् नात्र प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः। अत एव स्तनादिप्रवृत्तेरभिलाषः सिद्धिमासादयन् सङ्कलनाज्ञानं गमयति तदपि स्मरणम्, तच्च सुखादिसाधनपदार्थदर्शनम्। 'कारणव्यतिरेकेण कार्योत्पत्तौ तस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तिः' इति अत्र विपर्ययबाधकं प्रमाणं व्याप्तिनिश्चायकं प्रदर्शितम्। अपूर्वप्राणिप्रादुर्भावे च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः प्रतिप्राणिप्रसिद्धः उत्सीदेत्, ५तज्जन्मनि सुखसाधनदर्शनादेरभावात्; न हि मातुरुदर एव स्तनादेः सुखसाधनत्वेन दर्शनं यतः प्रत्यग्रजातस्य तत्र स्मरणादिव्यवहारः सम्भवेदिति पूर्वशरीरसम्बन्धोऽप्यात्मनः सिद्धः।

न च मध्यावस्थायां सुखसाधनदर्शनादिक्रमेणोपजायमानोऽपि प्रवृत्त्यन्तो व्यवहारो जन्मादावन्यथा कल्पयितुं शक्यः विजातीयादपि गोमयादेः कारणाच्छालूकादेः कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति वक्तुं शक्यम्, जलपाननिमित्ततृड्विच्छेदादावप्यनलनिमित्तत्वसम्भावनया तदर्थिनः १०पावकादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गात् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः।

अथ 'देहिनो देहाद् देहान्तरानुप्रवेशस्तदभिलापपूर्वकः, गृहाद् गृहान्तरानुप्रवेशवत्' इत्यतोऽन्यथासिद्धो हेतुरिति न द्रव्यविशेषं साधयति। तदुक्तं सौगतैः—

"दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा चाऽवन्ध्यकारणम्।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति" [ ]

१५इति, असदेतत्; इह जन्मनि प्राणिनां तदभिलापस्य परलोकेऽभावान्न ततः स इति युक्तम्। नापि मनुष्यजन्मा हीनशुन्यादिगर्भसम्भवमभिलपति यतस्तत्र तत्सम्भवः स्यात्। तदेवं धर्माऽधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत् 'पावकाद्यूर्ध्वज्वलनादि देवदत्तगुणकारितम्' इति।

यत् पुनरुक्तम् 'गुणवद् गुणी अप्यनुमानतस्तद्देशेऽस्तीत्यनुमानबाधितस्वदेहमात्रव्यापकात्म-२०कर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनाद्यो हेतुः कालात्ययापदिष्टः' इति, तदपि निरस्तम्; तत्र तत्सद्भावासिद्धेः। यच्चान्यत् 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति, तत्र किं तद्गुणपूर्वकत्वाभावेऽपि तदुपकारकत्वं दृष्टं येन 'कार्यत्वे सति' इति विशेषणमुपादीयेत सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणोपादानस्यार्थवत्त्वात्? कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्, न; कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकम्, कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकं तदुपकारकं स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाद-२५नैकान्तिको हेतुः। सर्वज्ञत्वाभावसाधने वागादिवन्निर्विशेषणस्यैव तस्याभिधाने को दोषः? व्यभिचारः कालेश्वरादिनेति चेत्, न; नित्यैकस्वभावात् कस्यचिदुपकाराभावात्। अपि च, शत्रुशरीरप्रध्वंसाभावस्तद्विपक्षस्योपकारको भवति सोऽपि तद्गुणनिमित्तः स्यात्। तदभ्युपगमे वा तत्र कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्तनाद् भागासिद्धो हेतुः। अतद्गुणनिमित्तत्वे तस्यान्यदप्यतद्गुणपूर्वकं तदुपकारकं तद्वदेव स्यादिति न तद्गुणसिद्धिः।

३० यत् पुनः 'प्रासादिवत्' इति निदर्शनम्, तत्र यदि तदात्मगुणो धर्मादिर्हेतुः, साध्यवत्प्रसङ्गः। प्रयत्नश्चेत्, न; तत्स्वरूपासिद्धेः-शरीराद्यवयवप्रविष्टानामात्मप्रदेशानां परिस्पन्दस्य चलनलक्षणक्रियारूपत्वान्न गुणत्वम्, तत्त्वे वा गमनादेरपि तत्त्वात् न कर्मपदार्थसद्भावः क्वचिदपीति न युक्तं 'क्रियावत्' इति द्रव्यलक्षणम्। निष्क्रियस्यात्मनो न स इति चेत्, कुतस्तस्य निष्क्रियत्वम्? अमूर्त्तत्वादिति चेत्, प्रत्यक्षनिराकृतमेतत्-प्रत्यक्षेण हि देशाद्देशान्तरं गच्छन्तमात्मानमनुभवति ३५लोकः। तथा च व्यवहारः-'अहमद्य योजनमात्रं गतः' न च मनः शरीरं वा तद्व्यवहारविषयः, तस्याहंप्रत्ययावेद्यत्वात्। तदेवं परस्य साध्यविकलं निदर्शनमिति स्थितम्।

तेन यदुक्तम् 'यस्मात् तदात्मनो गुणा अपि दूरदेशभाविनि वदङ्गनाङ्गे अन्तराले चोपलभ्यन्ते तस्मात् सिद्धं तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, अतः 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् आकाशवत्' इत्यनुमानबाधिता तदात्मस्वशरीरमात्रप्रतिज्ञा' इति, तन्निर-४०स्तम्; सर्वेषां सर्वगतात्मप्रसाधकहेतूनां पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अतो न स्वदेहमात्रव्यापकात्मप्रसाधकहेतोरसिद्धिः। नाप्यनुमानेन तत्पक्षबाधा। न च तद्देहव्यापकत्वेनैवोपलभ्यमानगुणोऽपि

१ पृ० ७६ पं० २२। २ न तु म-मां०, भां०। ३ पृ० १४७ पं० ११। ४ पृ० १४७ पं० २। ५ पृ० १४७ पं० ४। ६ पृ० १४६ पं० २७। ७ पृ० १४६ पं० ४२। ८ पृ० १४७ पं० १। ९ पृ० १४७ पं० ४।

तदात्मा सर्वगतो निजदेहैकदेशवृत्तिर्वा स्यात् अविरोधात् सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः इति युक्तम्; वाय्वादावपि तथाभावप्रसङ्गतः प्रतिनियतदेशसम्बद्धपदार्थव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि-यद् यथा प्रतिभाति तत् तथैव सद्व्यवहारपथमवतरति, यथा प्रतिनियत देश कालाऽऽकारतया प्रतिभासमानो घटादिकोऽर्थः, अन्यथा प्रतिभासमाननियतदेश कालाऽऽकारस्पर्शविशेषगुणोऽपि वायुः सर्वगतः स्यात्। न चात्र प्रत्यक्षबाधः, परेण तस्य परोक्षत्वोपवर्णनात्। ५

यदि च स्वदेहैकदेशस्थितः, कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः ? इतरथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणोऽपि वायुरेकपरमाणुमात्रः स्यात्। न च क्रमेण सर्वदेहभ्रमणात् तस्य तथा तद्गोपलब्धिः, युगपत् तत्र सर्वत्र सुखादेर्गुणस्योपलम्भात्। न चाशुवृत्तेर्यौगपद्याभिमानः, अन्यत्रापि तथाप्रसक्तेः-शक्यं हि वक्तुं घटादिरप्येकावयववृत्तिः आशुवृत्तेर्युगपत् सर्वेष्ववयवेषु प्रतीयते इति। अत एव सौगतोऽपि तत्रैकं निरंशं ज्ञानं कल्पयन्निरस्तः, प्रत्यवयवमनेकसुखा-१० दिकल्पने सन्तानान्तरवत् परस्परमसङ्क्रमात् अनुस्यूतैकप्रतीतिविलोपः 'सर्वत्र शरीरे मम सुखम्' इति । अथ युगपद्भाविभिरेकशरीरवर्त्तिभिरनेकनिरंशक्षणिकसुखसंवेदनैरेकपरामर्शविकल्पजननादयमदोषः, असदेतत्; अनेकोपादानस्य परामर्शविकल्पस्यैकत्वसम्भवे चार्वाकाभिमतैकशरीरव्यपदेशभागनेकपरमाणूपादानानेकविज्ञानभावेऽपि तद्विकल्पसम्भवात् । ततो यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना तं प्रति "अनेकपरमाणूपादानमनेकं चेद् विज्ञानं सन्तानान्तरवदेकपरामर्शा-१५ भावः" [ ] इति, तत् तस्य न सुभाषितं स्यात्।

यच्च 'सावयवं शरीरम् प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा, पटवत् समानजातीयारब्धत्वाच्च तद्वद् विनाशवांश्च स्यात्' इति, तदपि न सम्यक्; घटादिना व्यभिचारात्-घटादिर्हि सावयवोऽपि न तन्तुवत् प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः, मृत्पिण्डात् प्रथममेव स्वावयवरूपायात्मनः प्रादुर्भावादिति निरूपयिष्यमाणत्वात्। अपि च, यदि तदात्मनः २० कथञ्चिद्विनाशः प्रतिपादयितुमिष्टः समानजातीयावयवारब्धत्वात् तदा सिद्धसाधनम्, तदभिन्नसंसार्यवस्थाविनाशेन तद्रूपतया तस्यापि नष्टत्वात्। अथ सर्वात्मना सर्वथा नाशः, स घटादावप्यसिद्ध इति साध्यविकलो दृष्टान्तः। यदि च तदहर्जातबालात्मा प्रागेकान्तेनाऽसंस्तथाऽवयवैरारभ्येत तदा स्तनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदभिलाष-प्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादेरभावात्। तदारम्भकावयवानां प्राक्सतां विषयदर्शनादिकमिति चेत् तर्हि तेषामेव तदहर्जातवेलायां तन्वन्तरा-२५ णामिव तत्र प्रवृत्तिः स्यान्नात्मन', स्मरणाद्यभावात्। कारणगमने तस्यापि सर्वत्र सा स्यात्, "कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" [ ] इति वचनात् न तस्य विषयानुभवाभावः; भेदैकान्ते चास्याः प्रक्रियायाः समवायनिषेधेन निषेधात्।

अथ कारणगुणप्रक्रमेण तत्र दर्शनादयो गुणा वर्ण्यन्ते, तेऽपि प्रागसन्त एव जायन्त इति, एवमपि न किंचित् परिहृतम्। एतेन "अवयवेषु क्रिया, क्रियातो विभागः, ततः संयोगविनाशः, ३० ततोऽपि द्रव्यविनाशः" [ ] इति परस्याकूतं पूर्वमवान्ते तथा तद्विनाशे आदिजन्मनि स्मरणाद्यभावप्रसङ्गान्निरस्तम्। न चायमेकान्तः—कटकस्य केयूरभावे कुतश्चिद् भागेषु क्रिया, विभागः, संयोगविनाशः, द्रव्यनाशः, पुनस्तदवयवाः केवलाः; तदनन्तरं कर्म-संयोगक्रमेण केयूरभावः प्रमाणगोचरचारी। केवलं सुवर्णकारव्यापारात् कटकस्य केयूरीभावं पश्यामः, अन्यथाकल्पने प्रत्यक्षविरोधः। न हि पूर्वं विभागः ततः संयोगविनाश इति, तद्भेदानुपलक्षणाच्चैतन्य-बुद्धिवत्। ३५

१-स्वन्ध- वा०, धा० । २-भिरेव श-मां,० भा० । ३-ज्ञानाभावे-मा०, भा० । ४-घः पट-का०, क्षा० विना। अत्र स्थले प्रमेयक०मार्तण्डे एव पाठ-"यदप्युक्तम् सावयवं शरीरम् प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयव स्यात्, तथा च घटादिवत् समानजातीयावयवारभ्यत्वम्, समानजातीयत्वं चावयवानामात्मत्वाभिसंबन्धादित्येकनाऽऽत्मन्यनन्तात्मसिद्धि, यथा च अवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् घटविनाशस्तथाऽऽत्मविनाशोऽपि स्यात्"-पृ० १७६ प्र०, पं० ४। ५-ध्यविकलता दृष्टान्तस्य आ०, का०, गु०। ६ परिवृतम्। धा०, वा०। ७ परस्याकूतमेतत् प्रशस्तपादभाष्ये इत्थमुपवर्णितम्—"पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्-घटादेरामद्रव्यस्याऽग्निना सम्बद्धस्य अग्न्यभिघाताद्-तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, तेभ्यो विभागा, विभागेभ्य. संयोगविनाशा, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्य विनश्यति" -पृ० १८२ पं० ११ ८ -तद्भिन्नावेषु कि-भा०, वा०, धा०।

न चैकान्तेन तस्याऽक्षणिकत्वे सुखसाधनदर्शनादयः सम्भवन्तीत्यसद्वादेवेदितमावेदयिष्यते चेत्यास्तां तावत्। ततो नानैकान्तिको हेतुः, विपक्षेऽसम्भवात्। अत एव न विरुद्धोऽपि इति भवत्यतः सर्वदोषरहितात् हेतोः ज्ञानसादिरहितशरीरमात्रव्यापकस्य विवादाभ्यासितस्यात्मनः सिद्धिरिति साधूक्तम्- 'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' इति ॥

५ [मुक्तिस्वरूपवादः]

[पूर्वपक्षः—मुक्तौ आत्यन्तिकविशेषगुणोच्छेदस्य स्थापनम्]

यदपि 'आत्यन्तिकबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्ट आत्मा मुक्तिः' इति, तदप्यप्रमाणकम्; अथ तथाभूतमुक्तिप्रतिपादकं प्रमाणं विद्यते। तथाहि—नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः, तथा १० चायं सन्तानः, तस्मादत्यन्तमुच्छिद्यते इति। सन्तानत्वस्य च व्याप्त्या बुद्ध्यादिषु सम्भवात् पक्षधर्मतयाऽसिद्धताऽभावः। तत्समानधर्मिणि धर्मिणि प्रदीपादावुपलम्भादविरुद्धत्वम्। न च विपक्षे परमाण्वादावस्तीत्यनैकान्तिकत्वाभावः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षाऽऽगमयोरनुपलम्भात् न कालात्ययापदिष्टः, न चायं सत्प्रतिपक्ष इति पञ्चरूपत्वात् प्रमाणम्।

न च निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्यः यतः समुच्छिद्यते इति, तत्त्व- १५ ज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वेन प्रतिपादनात्। उपलब्धं च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शुक्तिकादौ-न च मिथ्याज्ञानेनाप्युत्तरकालभाविना सम्यग्ज्ञानस्य विरोधः सम्भवति, सन्तानोच्छित्तेर्विवक्षितत्वात्। यथा हि सम्यग्ज्ञानाद् मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदः नैवं मिथ्याज्ञानात् सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, तस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात्-निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद् रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादात्, रागाद्यभावे च तत्कार्या २० प्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः, आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात् प्रक्षय इति सञ्चितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव। तदुक्तम्—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"॥ [भग० गी० अ० ४, श्लो० ३७]

अथोपभोगादपि प्रक्षये "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इत्याग- २५ मोऽस्ति, तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यम्? उपभोगाच्च प्रक्षयेऽनुमानोपन्यासमपि कुर्वन्ति-'पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, यद् यत् कर्म तत् तद् उपभोगादेव क्षीयते, यथाऽऽरब्धशरीरं कर्म, तथा चैतत् कर्म, तस्मादुपभोगादेव क्षीयते' इति। न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यंभावात् संसारानुच्छेदः, समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजितानुसन्धान- ३० विकलस्य कर्मान्तरोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासम्भवाद् भोगानुपपत्तिः, तदुपभोगं विना कर्मणा प्रक्षयानुपपत्तेर्ज्ञानतोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेः वैद्योपदेशादातुरस्येवौषधाद्याचरणे, ज्ञानमप्येवमशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात् कर्मणां विनाशे व्यापारादग्निरिवोपचर्यते इति व्याख्येयम्, न तु साक्षात्। न चैतद् वाच्यम्-तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात् इतरेषां तूपभोगादिति, ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात्। न च मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य ३५ सहकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरशरीराण्यारभन्ते इत्यभ्युपगमः श्रेयान्, अनुत्पादितकार्यस्य कर्मलक्षणस्य कार्यवस्तुनोऽप्रक्षयान्नित्यत्वप्रसक्तेः।

अथ अनागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तज्ज्ञानिनो नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानं कथम्? प्रत्यवायपरिहारार्थम्। तदुक्तम्—

"नित्य-नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
४० ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥ [ ]

१-कान्तिकेन मा०, वा०। २ पृ० १३३ प० २५। ३ पृ० १३३ प० २७। ४-न्यायद० अ० १, आ० १, सू० १-२। ५-त्केः। अनाग-वा० बा०, मा०, भा० विना। ६-प्रतिबन्धे तज्ज्ञा-आ०, मां०।

"अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः ।
केवलं काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्तिप्रतिषेधतः" ॥ [ ]

तदुक्तम्—

"नित्य-नैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्य-निषिद्धयोः" ॥ [ ]

अत एव विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्त्यभ्युपगमे न तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्, विशेषगुणोच्छेदस्य प्रध्वंसत्वात् तदुपलक्षितात्मनश्च नित्यत्वादिति; कार्यवस्तुनश्चानित्यत्वम् । न च बुद्ध्यादिविनाशे गुणिनस्तथाभावः, तस्य तत्तादात्म्याभावात् ।

अथ मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्त इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि । न चात्मनः सकाशाच्चित्स्वभावत्वमानन्दस्वभावत्वं वाऽन्यत्, अनन्यत्वेन श्रुतौ श्रवणात् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृहदा० उ० अ० ३, ब्रा० ९, मं० २८] इति । तस्य तु परमानन्दस्वभावत्वस्य संसारावस्थायामविद्यासंसर्गादप्रतिपत्तिरात्मनोऽव्यतिरिक्तस्यापि, यथा रज्ज्वादेर्द्रव्यस्य तत्त्वाग्रहणाऽन्यथाग्रहणाभ्यां स्वरूपं न प्रकाशते यदा त्वविद्यानिवृत्तिस्तदा तस्य स्वरूपेण प्रकाशनम्, एवं ब्रह्मणोऽपि तत्त्वाग्रहाऽन्यथाग्रहाभ्यां भेदप्रपञ्चसंसर्गादानन्दादिस्वरूपं न प्रकाशते मुमुक्षुयत्नेन तु यदाऽनाद्यविद्याव्यावृत्तिस्तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः, सैव मोक्षः । अत एवोक्तम्—

"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" । [ ] इति, 'ब्रह्मणः' इति च सुखस्य षष्ठ्या व्यतिरेकाभिधानेऽपि न भेदस्तन्महत्त्ववत्, संसारावस्थायां त्वप्रतिभासात् तया तस्य व्यतिरेकाभिधानम् । यथा आत्मनो महत्त्वं निजो गुणो न च संसारावस्थायामात्मग्रहणेऽपि प्रतिभाति तद्वन्नित्यं सुखमविद्यासंसर्गात् मुक्तेः पूर्वमात्माऽव्यतिरिक्तं तद्धर्मो वा न प्रतिभाति । महत्त्ववत् सर्वैश्वर्यत्वं सदा प्रबुद्धत्वं सत्यसङ्कल्पादित्वं च ब्रह्मस्वभावमपि न प्रकाशते अविद्यासंसर्गात् । अनाद्यविद्योच्छेदे तु स्वरूपावस्थे ब्रह्मणि तेषां प्रतिभासस्तद्वत् परमानन्दस्वभावत्वस्यापीति ।

असदेतत् अप्रमाणकत्वात् । तथाहि–न तावदेवंविधोऽभ्युपगमः प्रेक्षावताऽप्रमाणकोऽङ्गीकर्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणवत्त्वे च प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमेभ्योऽन्यतमद् वक्तव्यम् । तत्र न तावत् प्रत्यक्षम् एतदर्थव्यवस्थापकम्, अस्मदादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्यात्र वस्तुनि व्यापारानुपलम्भात् । 'योगिप्रत्यक्षं त्वेवं प्रवर्त्तते उतान्यथा' इति अद्यापि विवादगोचरम् ।

किञ्च, नित्यस्य सुखस्य तस्यामवस्थायामभिव्यक्तिरवश्यं संवेदनम्–अन्यथाऽभिव्यक्त्यभावात्–तत्र च विकल्पद्वयम्–नित्यमनित्यं वा तद् भवेत् ? नित्यत्वे तस्य मुक्ति–संसारावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः–संसारावस्थस्याऽपि नित्यसुखसंवेदनस्य नित्यत्वात् मुक्तावस्थायामपि तत्संवेदनादेव मुक्तत्वम्, तच्च संसार्यवस्थायामप्यविशिष्टम् । अपि च, करणजन्येन सुखेन साहचर्यं संसार्यवस्थायां तस्य गृह्येत ततश्च सुखद्वयोपलम्भः सर्वदा भवेत् । अथ धर्माधर्मफलेन सुखादिना नित्यसुखसंवेदनस्य संसारावस्थायां प्रतिबद्धत्वान्नानुभवः, शरीरादिना वा प्रतिबन्धात् तन्नानुभूयते तेन न द्वयोरवस्थयोरविशेषः । नापि युगपत् सुखद्वयोपलम्भः, अयुक्तमेतत्; शरीरादेर्भोगार्थत्वान्न तदेव नित्यसुखानुभवप्रतिबन्धकारणम्; न हि यद् यदर्थं तत् तस्यैव प्रतिबन्धकं दृष्टम् । न च वैषयिकसुखानुभवेन नित्यसुखानुभवप्रतिबन्धः सम्भवति । तथाहि–न तावत् सुखस्य नापि तदनुभवस्य प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा युक्तः, द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि संसारावस्थायां बाह्यविषयव्यासङ्गाद् विद्यमानस्याप्यनुभवस्यासंवेदनम् तदभावात्तु मोक्षावस्थायां संवेदनमित्यप्यस्ति विशेषः, नित्यसुखे ह्यनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्तेः । तथाहि–आत्मनो रूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः, एवमिन्द्रियस्याप्येकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वं व्यासङ्गः । न चैवमात्मनो रूपादिविषयज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्तिः, तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् । शरीरादेस्तु सुखप्रतिबन्धकत्वा-

१-प्रतिषेधः नि०, वा०, या० विना । २-पगमो न वा०, या० । ३-दा तस्याः स्व-मा० । ४-मात्मव्यति-वा०, या० । ५-भवनमति-भां० । ६-क्तः तद्व-(तद्व-) मां०, भा० ।

भ्युपगमे तदपहन्तुर्हिंसाफलं न स्यात् । तथाहि-प्रतिबन्धविघातकृदुपकारक एवेति दृष्टान्तेन नित्यसुखसंवेदनप्रतिबन्धकस्य शरीरादेर्हन्तुर्हिंसाफलस्याभावः ।

अथानित्यं तत्संवेदनं तदा तदवस्थायां तस्योत्पत्तिकारणं वाच्यम् । अथ योगजधर्मापेक्षः पुरुषान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणम्, न; योगजधर्मस्याप्यनित्यतया विनाशे अपेक्षाकारणाभा-
५वात् । अथाद्यं योगजधर्मादुपजातं विज्ञानमपेक्ष्योत्तरं विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानत्वम्, तच्च; प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवात्मान्तःकरणसंयोगस्यापेक्षाकारणमिति न दृष्टम्; न च दृष्टविपरीतं शक्यमनुज्ञातुम् । आकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव । अथ मतम्-शरीरादिरहितस्यापि तस्यामवस्थायां योगजधर्मानुग्रहात् सुखसंवेदनमुत्पद्यते । तथाहि-मुमुक्षुप्रवृत्तिरिष्टाधिगमार्था, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तित्वात्, कृषीबलादिप्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिवत्, एवम्
१०तेषां शास्त्रीय उपदेश इष्टाधिगमार्थः, उपदेशत्वात्, तदन्योपदेशवत्, तदेतत् प्रतिपादितम्-"नोभयमनर्थकम्" [ ] इति, मोक्षसुखसंवेदनानभ्युपगमे प्रवृत्त्युपदेशयोर्न किञ्चित् फलं भवेत्, एतच्चायुक्तम्; प्रवृत्त्युपदेशयोरन्यथासिद्धत्वात् । भवेत् साध्यसिद्धिर्यद्योक्ताद्धेतुद्वयात् यद्येकान्तेनैव प्रवृत्तेरुपदेशस्य च इष्टाधिगमार्थत्वं भवेत्, तयोस्त्वन्यथाऽपि दर्शनात् नाभिमतसाध्यसाधकत्वम् । तथाहि-आतुराणां चिकित्साशास्त्रार्थानुष्ठायिनामनिष्टप्रतिषेधार्था प्रवृत्तिर्दृश्यते उपदे-
१५शश्च, अतः कथमिष्टमात्र्यर्थता प्रवृत्त्युपदेशयोः? किञ्च, इष्टानिष्टयोः साहचर्यमवश्यम्भावि, अतो यदीष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिस्तदा बलात् तस्यामवस्थायामनिष्टसंवेदनमापतति, न हीष्टमनिष्टाननुषक्तं क्वचिदपि विद्यते । तस्मादनिष्टहानार्थायामपि प्रवृत्ताविष्टं हातव्यम्, तयोर्विवेकहानस्याशक्यत्वात् । किञ्च, दृष्टबाधश्च तुल्यः । तथाहि-यथा मुक्त्यवस्थायामनित्यं सुखमतिक्रम्य नित्यमुपेयते प्रमाणशून्यं तद्विरुद्धं च तथा शरीरादीन्यपि नित्यसुखभोगसाधनानि वरं कल्पितानि, एवं मुक्तस्य नित्यसुख-
२०प्रतिपत्तिः साध्वी स्यात् । अथ शरीरादीनां कार्यत्वात् कथं नित्यता प्रमाणबाधितत्वाच्छरीरादीनां नित्यत्वमशक्यं साधयितुम्? नन्वेतत् सुखेऽपि समानम्, दृष्टस्य सुखस्योपजननाऽपायधर्मकस्य तद्वैकल्यं प्रमाणबाधितत्वात् कथं परिकल्पयितुं शक्यम्? अथ स्यादेष दोषः यदि दृष्टस्यैव सुखस्य नित्यत्वमस्माभिरुपेयेत यावता दृष्टसुखव्यतिरिक्तमात्मधर्मत्वेनाभिमतं नित्यं ततश्च कथं दृष्टविरोधः? असदेतत्; तत्र प्रमाणाभावादित्युक्तत्वात् । यदप्यनुमानं तत्सिद्धये प्रदर्शितं तदपि प्रवृत्तेरनिष्ट-
२५प्रतिषेधार्थत्वान्नैकान्तेनाभिमतसाध्यसाधकम् ।

मा भूदनुमानम्, आगमस्तु नित्यसुखसाधकस्तस्यामवस्थायां भविष्यति, तथा च पूर्वमुक्तम् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति, असदेतत्; तदागमस्यैतदर्थत्वासिद्धेः । अथापि कथञ्चिद् नित्यसुखप्रतिपादकत्वं तस्याभ्युपगम्यते तथाप्यात्यन्तिके संसारदुःखाभावे सुखशब्दो गौणः, न तु नित्यसुखप्रतिपादकत्वाद् मुख्यः । अथ कथं दुःखाभावे सुखशब्द उपेयते? लोकव्यवहाराद्धि शब्दार्थ-
३०सम्बन्धावगमः, सुखशब्दश्च दुःखाभावे लोके अनवगतसम्बन्धः कथमागमे दुःखाभावं प्रतिपादयति? नैष दोषः; न हि लोके मुख्य एवार्थे प्रयोगः शब्दानां किन्तु गौणेऽपि । तथाहि-दुःखाभावेऽपि सुखशब्दं प्रयुञ्जाना लोका उपलभ्यन्ते; यथा ज्वरादिसन्तप्ता यदा ज्वरादिभिर्विमुक्ता भवन्ति तदाऽभिदधति 'सुखिनः संवृत्ताः स्मः' इति । किञ्च, इष्टार्थाधिगमार्थायां च मुमुक्षोः प्रवृत्तौ रागनिबन्धना तस्य प्रवृत्तिर्भवेत्; ततश्च न मोक्षावाप्तिः, क्लेशानां बन्धहेतुत्वात् ।

३५ {अथ वदेत् यथा सुखरागनिबन्धनायां प्रवृत्तौ रागस्य बन्धनहेतुत्वाद् मोक्षाभावस्तथा दुःखाभावार्थायामपि, तत्रापि दुःखे तत्साधने वा दोषदर्शनाद् द्विष्टस्तदभावाय प्रवर्त्तते । यथा च रागक्लेशो बन्धनहेतुस्तथा द्वेषोऽपीत्यविशेषः । यच्चोक्तम् 'दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगात् तदभाव एव सुखम्' तदयुक्तम्; युगपत् सुख-दुःखयोरनुभवात् यथा ग्रीष्मे सन्तापतप्तस्य कचिच्छीते ह्रदे निमग्नार्द्धकायस्यार्द्धे निमग्ने सुखमन्यत्र दुःखम् । अथ मतम्-यत् तदर्द्धे निमग्ने तद् दुःखाभावः
४०सुखम् अन्यत्र दुःखमिति, तर्हि नारकाणां सुखित्वप्रसङ्गः, कचिन्नरके दुःखानुभवादन्यनरकसम्बन्धिदुःखाभावाच्च । तथा, अनेकेन्द्रियद्वारस्य दुःखस्य केनचिदिन्द्रियेण दुःखोत्पादेऽप्येनाजनने सुखित्व-

---

१-कदारी-भां०, मां०, वा०, बा० । २ वा० भा० अ० १, आ० १, सू० २२ । ३-त्सुखप्रतिपत्तिरपे-वि० मु० । ४ पृ० १५१ पं० २५ । ५ प्र० पृ० पं० ९ । ६ पृ० १५१ पं० ११ । ७ प्र० पृ० पं० ३१ ।

प्रसङ्गः, अपि च, अदुःखितस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात् सुखं दृष्टं तत्र कथं दुःखाभावः सुखम्? यत्रापि दुःखसंवेदनपूर्वं यथा क्षुद्दुःखे भोजनप्राप्तौ तृप्तस्य तद्विनिवृत्तिः तत्राप्यन्न-पानयोर्विशेषात् सुखविशेषो न भवेत्, दृश्यते च लौकिकानां तदर्थमन्नादिविशेषोपादानम्; अन्यथा येन केनचिद् अन्नमात्रेण च क्षुद्दुःखनिवृत्तौ नान्न-पानविशेषं लौकिका उपाददीरन्। सुखस्य च भावरूपत्वात् सातिशयत्वे तत्साधनविशेषो युज्यते, दुःखाभावस्य तु सर्वोपाख्याविरहलक्षणत्वात् किं साधनविशेषेण? ५

येऽप्येवमुपागमन् "यदाऽपि पूर्वं दुःखं नास्ति तदाप्यभिलाषस्य दुःखस्वभावत्वात् तन्निवर्हणस्वभावं सुखम्" [ ] तेऽपि न सम्यक् प्रतिपन्नाः; यतोऽनभिलाषस्य विषयविशेषसंवित्तौ न सुखिता स्यात्, दृश्यते तस्यामप्यवस्थायां रमणीयविषयसम्पर्के ह्लादोत्पत्तिः।

तत्रैतत् स्यात् यस्यैवाभिलाषः स एव विषयोपभोगेन सुखी नान्यः, तदभिलाषनिवृत्त्यैव विषयाः सुखयितारोऽन्यथा यदेकस्य सुखसाधनं तदविशेषेण सर्वेषां स्यात्। यदा तु कामनिवृत्त्या सुखित्वं १० तदा यस्यैवाभिलाषो यत्र विषये स एव तस्य सुखसाधनं नान्यः, अतश्च यदुक्तम् 'अकामस्यापि कस्मिंश्चिद्विषयोपभोगे सुखित्वदर्शनान्न कामाख्यदुःखनिवृत्तिरेव सुखम्' तदयुक्तम्; तत्राकामस्यापि विशिष्टविषयोपभोगात् कामाभिव्यक्तौ तन्निवृत्तेरेव सुखत्वादिति।

एतदप्ययुक्तम्;
यतो नावश्यं विषयोपभोगोऽभिलाषनिवर्हणः। यथोक्तम्— १५

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते" ॥ [महाभा० आदिप० अ० ७९, श्लो० १२]

तथा तत्र भगवता पतञ्जलिनाऽप्युक्तम्-"भोगाभ्यासमनुवर्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणाम्" [पात० यो० पा० २, सू० १५ व्यासभा०] इति। अपि च, अन्यथाप्यभिलाषनिवृत्तिर्दृष्टा यथा विषयदोषदर्शनात्, तत्रापि भवतां मते विषयोपभोगतुल्यं सुखं भवेत् तुल्ये चाभिमतार्थलाभे सुखविशेषो २० न स्यात् अभिलाषनिवृत्तेरविशेषात्।

अथ वदेत् अभिलाषातिरेके तन्निवृत्तौ सुखातिरेकाभिमानोऽन्यत्राप्ययेति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतोऽभिलाषातिरेकात् प्रयत्नानन्तं प्राप्तोऽर्थो न तथा प्रीणयति यथाऽप्रार्थितो विना प्रयासादुपनतः। एवमेव च लोकव्यवहारः-यत्नशतावाप्तेऽर्थे क्लेशप्राप्तोऽयमिति न तेन तथा सुखिनो भवन्ति यथाऽनाशंसितप्राप्तेन। तत्र दुःखाभावमात्रं सुखं किन्तु तद्व्यतिरेकेण स्वरूपतः सुखमस्तीति}। २५

तदसमीचीनम्; न हि अस्माकं दुःखाभाव एव सुखम्-तथा च भाष्यकृता तत्र तत्राभिहितम्—"न सर्वलोकसाक्षिकं सुखं प्रत्याख्यातुं शक्यम्" [ ]। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-"न प्रत्यात्मवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्" [ ]। एवं चानभ्युपगतस्य पक्षस्योप (पा) लम्भः, प्रकृते तु सुखे प्रतिपाद्यते दुःखाभावमात्रे सुखशब्दो न तु सुखे एव, तस्य प्रमाणतोऽनुपपत्तेः। तथा च मुक्तस्य नित्यसुखाभिव्यक्तौ प्रत्यक्षाऽनुमानयोर्निषेधे आगममात्रमवशिष्यते तस्य च गौणत्वे- ३० नाप्युपपत्तेर्न मुख्यस्य सुखस्य सम्भवः।

नित्यसुखाभ्युपगमे च विकल्पद्वयम्-किं तद् आत्मस्वरूपं स्वप्रकाशम्, उतस्वित् तद्व्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरप्रमेयम्? पूर्वस्मिन् विकल्पे आत्मस्वरूपवत् स्वप्रकाशसुखसंवित्तिः सर्वदा भवेत्; ततश्च बद्ध-मुक्तयोरविशेषः। तत्रैतत् स्यात्-अनाद्यविद्याच्छादितत्वात् स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिर्न संसारिणः, यदा तु यत्नादनादेरविद्यातस्त्वस्यापगमस्तदाच्छादकाभावात् स्वप्रकाशानन्दसंवेदनम्, ३५ एतदपेशलम्; आच्छाद्यते ह्यप्रकाशस्वभावम्; यत्तु स्वप्रकाशरूपं तत् कथमन्येनाच्छाद्येत?

येऽपि प्रतिपेदिरे "मेघादिना सवितृप्रकाशः सविता वा स्वप्रकाश एवाऽऽच्छाद्यते"[ ] तेऽपि न सम्यक् संचक्षते, न स्वप्रकाशस्य मेघादिनाऽऽवरणम्, आवृतत्वे हि तेनाह्नोरात्रयोरविशेषो भवेत्, दृश्यते च विशेषः तस्मान्न कस्यचित् स्वप्रकाशस्यावृतिः। अपि च, मेघादेस्ततोऽ-

१ अपि वा दुः-वि०, या०, भा० विना। २-पदुःखस्य स्व-आ०।-पादुःखस्य। स्व-वि०। ३ प्र० पृ० पं० ५। ४ अयमर्थो भाष्ये वार्तिके चैवं दर्शितः "सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणाम्, तदशक्यं प्रत्याख्यातुम्" इति-वा० भा० अ० ४, आ० १, सू० ५६। "न हि प्रत्यक्षं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्"-न्यायवा० अ० १, आ० १, सू० २१ पृ० ८४ पं० ३। ५ प्रतिपद्य-कां०। ६-धमनेना-वि०। स० त० २०

र्थान्तरत्वादावारकत्वं युक्तम्, अविद्यायास्तु तत्त्वान्यत्वेनानिर्वचनीयत्वेन तुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशस्वभावे आनन्दे आवरणशक्तिः । तत् सर्वदा स्वप्रकाशानन्दानुभवप्राप्तिः धर्माऽधर्मजनिताभ्यां च सुख-दुःखाभ्यां सह युगपत् संवेदनं प्रसक्तम् न चैतद् दृश्यते तस्मान्न पूर्वो विकल्पः ।

नाप्युत्तरः, तत्प्रतिपादकस्य प्रत्यक्षादेर्निषिद्धत्वात् बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् । अतस्तत्प्र-
५ तिपादक आगमः प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद्गौणत्वेन व्याख्यायते शास्त्रदृष्टविरुद्धान्यवाक्यवत् । एतच्चाभ्युपगम्योक्तम्, न तु सुखस्य बोधस्वभावताऽपि विद्यते तत्स्वभावतानिराकरणात् ।

यच्चोक्तम् 'सुखरागेण प्रवृत्तस्य मुमुक्षोर्यथा बन्धप्रसङ्गस्तथा द्वेषनिबन्धनायामपि प्रवृत्ताववश्यम्भावी बन्धः' तदयुक्तम्, मुमुक्षोर्द्वेषाभावात्, स हि विषयाणां तत्त्वदर्शी तेष्वारोपितं सुखत्वं तत्साधनत्वं वा तत्त्वज्ञानाभ्यासादन्यथा प्रतिपद्यते । एवं च तस्याऽऽरोपिताकारमिथ्याज्ञानव्यावृ-
१० त्तावुत्तरोत्तरकार्याभावादपवर्ग उच्यते, न तु तस्य दुःखसाधने द्वेषः किन्त्वारोपिते सुखे तत्साधने वा तत्त्वज्ञानाभ्यासाद् रागाभावः न च स एव द्वेषः, तस्य रागाभावस्यव्यतिरेकेण प्रत्यक्षेण स्वरूपसंवित्तेः, अन्यथोपेक्षणीये वस्तुनि रागाभावे द्वेषः स्यात् न चैतद् दृष्टम्, तस्मान्न मुमुक्षोर्द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः ।

भवतु वा, तथापि न तस्य बन्धः, द्वेषो हि स बन्धहेतुर्य उत्पन्नः स्वविषये वाग्-मनः-कायलक्षणां शास्त्रविरुद्धां पुरुषस्य प्रवृत्तिं कारयति, तस्य शास्त्रविरुद्धार्थाचरणेऽधर्मोत्पत्तिद्वारेण शरीरादि-
१५ ग्रहणम् तन्निबन्धनं च दुःखम् । अयं तु मुमुक्षोर्विषयेषु द्वेषः सकलप्रवृत्तिप्रतिपन्थित्वाद्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ शरीराद्यभावाच्च केवलं न बन्धाय किन्तु स्वात्मघाताय कल्पते । तदिदमुक्तम्-"प्रहाणे नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् । नास्य नित्यसुखाभावः (नित्यसुखभावः) प्रतिकूल इत्यर्थः । यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमाभावः" [वात्स्या० भा० अ० १, आ० १, सूत्र २२, पृष्ठ ४४]

२० अनेन च भाष्यवाक्येन न मुक्तस्य नित्यसुखसंवित्तिरुपेयते-तस्याः प्रमाणबाधितत्वात्-किन्तु सर्वथा यदर्थं शास्त्रमारब्धं तस्योपपत्तिरनेन प्रतिपाद्यते, वाक्यस्याभाव्यात् । तद्धि किञ्चिद्वस्त्वभिधानवृत्त्या प्रतिपादयदपि तात्पर्यशक्तेरन्यत्र भावाच्च श्रूयमाणार्थपरं परन्यायविद्भिः परिगृह्यते, विषभक्षणादिवाक्यवत् । तच्च परमानन्दप्राप्तिर्मोक्षः ।

नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः, रागादिमतो विज्ञानात् तद्रहितस्य तस्योत्पत्तेरयोगात् । तथाहि—
२५ *यथा बोधाद् बोधरूपता ज्ञानान्तरे तद्वद् रागादेरपि स्यात्, तादात्म्यात्, विपर्यये तदभावप्रसङ्गात् ।* न च विलक्षणादपि कारणाद् विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् बोधाद् बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति, अत एव ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे न पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वमेकसन्तानत्वं वा हेतुः, व्यभिचारात् । तथाहि-पूर्वकालत्वं तत्समानक्षणैः समानजातीयत्वं च सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारीति । तेषां हि पूर्वकालत्वे तत्समानजातीयत्वेऽपि न विवक्षितज्ञानहेतुत्वमिति । एकसन्तानत्वं चान्त्य-
३० ज्ञानेन व्यभिचरतीति ।

अथ नेष्यत एवान्त्यज्ञानं सर्वदाऽऽरम्भात् । तथाहि-मरणशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुः, जाग्रदवस्थाज्ञानं च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति । नन्वेवं मरणशरीरज्ञानस्यान्तराभवशरीरज्ञानहेतुत्वे गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे वा सन्तानान्तरेऽपि ज्ञानजनकत्वप्रसङ्गः, नियमहेतोरभावात् । अथेष्यत एवोपाध्यायज्ञानं शिष्यज्ञानस्य, अन्यस्य कस्मान्न भवतीति ? अथ कर्मवासना नियामिकेति चेत्,
३५ न; तस्या विज्ञानव्यतिरेकेणासम्भवात् । तथाहि-तादात्म्ये सति विज्ञानं बोधरूपतयाऽविशिष्टं बोधाच्च बोधरूपतेत्यविशेषेण विज्ञानं विदध्यात् ।

यद्येवम् 'सुषुप्तावस्थाज्ञानस्य जाग्रदवस्थाज्ञानं कारणम्' इति, (अ) सदेतत्; सुषुप्तावस्थायां हि ज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्; उभयत्रापि स्वसंवेद्यज्ञानस्य सद्भावाविशेषात् ।

---

१ पृ० १५१ पं० २५ । २ पृ० १५१ पं० २७ । ३ न सुख-वा बा० । ४ पृ० १५२ पं० १० । ५-भावस्य प्रत्यति-वा०, बा० । ६ न बाधाय वि० । ७ वात्स्यायनभाष्यानुरोधेन अर्थानुरोधेन चात्र 'नित्यसुखराग' इत्येव सम्यक्, अथवा भावपदमेव रागपरं ज्ञेयम् । ८ प्रतिपादयिष्यदपि वि० । ९-त्पार्थपरं न्याय-वा०, बा० । १० रागादेरपि वि० । प्रमेय०मा० "रागादेरपि" इत्येव पाठः- पृ० ८९ द्वि०, पं० २ । ११ अत्र स्थले प्रमेय० मा० "न च बोधादेव बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति, विलक्षणादपि कारणात् विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात्" इति पाठः-पृ० ८९ द्वि०, पं० ३ । १२-न्तरे हे-वा०, बा० । १३ प्र० पृ० पं० ३२ ।

मिद्धेनाभिभूतत्वं विशेष इति चेत्, असदेतत्; तस्यापि तद्धर्मतया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात्। व्यतिरेके तु रूपादिपदार्थानामेव सत्त्वात् तत्स्वरूपं निरूप्यम्, अभिभवश्च यदि विनाशः, न विज्ञानस्य सत्त्वम् विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्। अथ तिरोभावः, न; विज्ञानस्य सत्त्वेन 'तत्सत्त्वैव संवेदनम्' इत्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः। अतः सुषुप्तावस्थायां विज्ञानासत्त्वेनान्त्यज्ञानस्य सन्द्रा-यादेकज्ञानसन्तानत्वं व्यभिचारीति । ५

यच्चेदम् 'विशिष्टभावनावशाद् रागादिविनाशः' इति, असदेतत्; निर्हेतुकत्वात् विनाशस्याभ्यासानुपपत्तेश्च। अभ्यासो ह्यवस्थिते ध्यातरि अतिशयाधायकत्वादुपपद्यते न क्षणिके ज्ञानमात्रे इति। अत एव न योगिनां सकलकल्पनाविकलं ज्ञानमुत्पद्यते। न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयः, तस्यैवासम्भवाद् अविशिष्टाद् विशिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च। तथाहि-पूर्वस्मादविशिष्टादुत्तरोत्तरं सातिशयं कथमुपजायत इति चिन्त्यम्। यच्च 'संतानोच्छित्तिर्निःश्रेयसम्' इति, तत्र निर्हेतुकतया विनाश-१० स्योपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसिद्धत्वादिति ।

अन्ये तु "अनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयशरीरादिलाभो निःश्रेयसम्" [ ] इति मन्यन्ते। तथा च नित्यभावनायां ग्रहः, अनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना इति, एवं सदादिष्वपि योज्यम्। प्रत्यक्षं च स्वदेश-काल-कारणाधारतया सत्त्वम् परदेशादिष्वसत्त्वमित्युभयरूपता। तथा, घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः सर्वावस्थासूपलम्भात्, १५ घटादिरूपतया चानित्यस्तदपायात्, एवमात्माप्यात्मादिरूपतया नित्यः सर्वदा सद्भावात्, सुखादिपर्यायरूपतया चानित्यस्तद्विनाशात्। एवं सर्वत्र स्वकार्येषु कर्तृत्वम् कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वमित्यूह्यम् स्वशब्दाभिधेयत्वम् शब्दान्तरानभिधेयत्वं चेति ।

तदेतदसाम्प्रतम्, मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वेन प्रतिषेधात्। अनेकान्तज्ञानं च मिथ्यैव, बाधकोपपत्तेः । तथाहि-नित्यानित्यत्वयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिणि अभावः । एवं २० सदसत्त्वादेरपीति। यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्यः' इति, असदेतत्; मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वात् । तथाहि-घटादर्थान्तरं मृद्रूपता मृत्त्वं सामान्यम्, तस्य तु नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात्; घटस्य तु कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव। यच्चेदम् 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वम्' तदिष्यत एव, इतरेतराभावस्याभ्युपगमात् । तथाहि-इतरस्मिन् देशादावितरस्य घटस्याभावो नानुत्पत्तिर्न प्रध्वंसः, तत्र तस्य सर्वदाऽसत्त्वात्। द्वैरूप्ये तु स्वदे-२५ शादिष्वप्यनुपलम्भप्रसङ्गः। एवमात्मनोऽपि नित्यत्वमेव, सुख-दुःखादेस्तद्गुणत्वेन ततोऽर्थान्तरस्य विनाशेऽप्यविनाशात् । 'कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वम्' न प्रतिषिध्यते । तथाहि-यद् यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियत इत्युपलब्धं तत् तस्य कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगम्यत एव। एवं शब्दानभिधेयत्वेऽपि 'न सर्वं सर्वशब्दाभिधेयम्' इत्यभ्युपगमात्। न चानेकान्तभावनातो विशिष्टशरीरादिलाभेऽस्ति प्रतिबन्धः। न चोत्पत्तिधर्मणां शरीरादीनामक्षयत्वं न्याय्यम्। तथा, मुक्ता-३० वप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तेत इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात्। एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तम्। एवमनेकान्तेऽप्यनेकान्ताभ्युपगमो दूषणम्, वस्तुनः सदसद्रूपताऽनेकान्तः, तस्यानेकान्ताभ्युपगमे रूपान्तरमपि प्रसक्तम्। एवं नित्यानित्यरूपताव्यतिरिक्तं च रूपान्तरमित्यादि वाच्यम्।

अन्ये तु "आत्मैकत्वज्ञानात् परमात्मनि लयः संपद्यते इति ब्रुवते। तथाहि-आत्मैव परमार्थसन्, ततोऽन्येषां भेदे प्रमाणाभावात्; प्रत्यक्षं हि पदार्थानां सद्भावग्राहकमेव न भेदस्य इत्यविद्या-३५ समारोपित एवायं भेदः" [ ] इति मन्यन्ते, तदप्यसत्, आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयससाधकत्वानुपपत्तेः, मिथ्यात्वं चात्माधिकार एव वक्ष्यामः । एवं शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया न निःश्रेयससाधनमिति द्रष्टव्यम्। यथा चैतेषां मिथ्यारूपता तथा प्रतिपादयिष्यामः । तस्मादनुपमसुखावस्थान्तरप्राप्तिलक्षणात्मस्वरूपं मुक्तिः, तत्सद्भावे बाधकप्रमाणप्रदर्शनात्; विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्तिसद्भावे च प्रदर्शितं प्रमाणमिति ॥ ४०

१-नसद्भा-वि०, मा०, भो०। २-दायोगाभ्यासा-आ०, या०।-दायोभ्यासा-वि०। ३ प्र० पृ० प० १५। ४ प्र० पृ० प० १४। ५ प्र० पृ० प० १७।

[उत्तरपक्षः–मुक्तौ आत्यन्तिकविशेषगुणोच्छेदस्य निरसनम्]

अत्र प्रतिविधीयते–यत् तावदुक्तम् 'नवानामात्मविशेषगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्' इति, अत्र बुद्ध्यादिविशेषगुणानां प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् तत्सन्तानस्याभावादाश्रयासिद्धो हेतुः। तथा, बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानां परेण स्वसंविदितत्वेनानभ्युपगमाद् ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे चाऽन-५वस्थादिदोषप्रसक्तेरवेद्यत्वमित्यज्ञातस्य सत्त्वासिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्धः 'सन्तानत्वात्' इति हेतुः।

किञ्च, सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपादीयमानं यदि सामान्यमभिप्रेतं तदा बुद्ध्यादिविशेषगुणेषु प्रदीपे च तेजोद्रव्ये सत्तासामान्यव्यतिरेकेणापरसामान्यस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धः। सत्तासामान्यरूपत्वे वा सन्तानत्वस्य 'सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात्, न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम्; अन्यथा द्रव्य-गुण-कर्मस्वरूपादेव 'सत् सत्' इति प्रत्ययसंभवात् सत्तापरिकल्पनावैयर्थ्यम्। १०अथ विशेषगुणाश्रिता जातिः सन्तानत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्तम् तदा द्रव्यविशेषे प्रदीपलक्षणे साधर्म्यदृष्टान्ते तस्यासम्भवात् साधनविकलो दृष्टान्तः। न च सत्तादिलक्षणं सामान्यमेकं स्वाधारसर्वगतं वा प्रतिवादिनः प्रसिद्धमिति प्रतिवाद्यसिद्धो हेतुः। न च सन्तानत्वं सामान्यं व्याप्त्या बुद्ध्यादिषु वृत्तिमत् सिद्धम्, तद्वृत्तेः समवायस्य निषिद्धत्वात्; तत्सत्त्वेऽपि तद्बलात् सन्तानत्वस्य बुद्ध्यादिसम्बन्धित्वे तस्य सर्वत्राविशेषादाकाशादिष्वपि नित्येषु सन्तानत्वस्य वृत्तेर-१५नैकान्तिकत्वम्। न च समवायस्याविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् सन्तानत्वं बुद्ध्यादिष्वेव वर्त्तते नाकाशादिष्विति वक्तुं युक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसक्तेः–सिद्धे हि सन्तानत्वस्याकाशादिव्यवच्छेदेन बुद्ध्यादिवृत्तित्वे विशेषत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चान्यपरिहारेण तद्वृत्तित्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। अपि च, यदि समवायस्य सर्वत्राविशेषेऽपि बुद्ध्यादिविशेषगुण-सन्तानत्वयोः प्रतिनियताधाराधेयरूपता सिद्धिमासादयति तदा व्यर्थः समवायाभ्युपगमः, तद्व्यतिरेकेणापि तयोस्तद्रूपतासिद्धेः।

२० {अथ प्रमाणपरिदृष्टत्वात् समवायस्याभ्युपगमः न पुनः समवायिविशेषरूपताऽन्यथाऽनुपपत्तेः, असदेतत्; तद्ग्राहकप्रमाणस्यैवाभावात्। तथाहि—स सर्वसमवाय्यनुगतैकस्वभावो वाऽभ्युपगम्येत, तद्व्यावृत्तस्वभावो वा? न तावत् तद्व्यावृत्तस्वभावः समवायः, सर्वतो व्यावृत्तस्वभावस्यान्यासम्बन्धित्वेन नीलस्वरूपवत् समवायत्वानुपपत्तेः। नापि तदनुगतैकस्वभावः, सामान्यवत् तत्समवायत्वायोगात्–नित्यस्य सतोऽनेकप्रवृत्तेः सामान्यस्य परेण समवायत्वान-२५भ्युपगमात्। न च समवायस्वरूपस्यापि ग्राहकत्वेन निर्विकल्पकं सविकल्पकं वाऽध्यक्षं प्रवर्त्तते किमुत तस्यानेकसमवाय्यनुगतैकतद्विशेषरूपस्य, तद्ग्रहणे तदनुगतैकरूपस्यापि अप्रतिभासनादिति सामान्यप्रतिषेधप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात्। नापि तत्र प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्यानुमानस्यापि प्रवृत्तिः।

अथ सम्बन्धत्वेनासावध्यवसीयते, तदयुक्तम्; यतः किं 'सम्बन्धः' इति बुद्ध्याऽध्यवसीयते, ३०आहोस्विद् 'इह' इति बुद्ध्या, उत 'समवायः' इति प्रतीत्या?

तद् यदि सम्बन्धबुद्ध्या तदा वक्तव्यम्–कोऽयं सम्बन्धः? किं सम्बन्धत्वजातियुक्तः, आहोस्विदनेकोपादानजनितः, अनेकाश्रितो वा, सम्बन्धबुद्धिविषयो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा? तद् यदि सम्बन्धत्वजातियुक्तः स न युक्तः, समवायासम्बन्धत्वप्रसङ्गात्। अथानेकोपादानजनितस्तदा घटादेरपि सम्बन्धत्वप्रसङ्गः। अथानेकाश्रितस्तदा घटजात्यादेः सम्बन्धत्वप्रसङ्गः। अथ ३५सम्बन्धबुद्ध्युत्पादकस्तदा लोचनादेरपि सम्बन्धत्वप्रसक्तिः। अथ सम्बन्धबुद्ध्यवसेयस्तदा घटादिष्वपि सम्बन्धशब्दव्युत्पादने सम्बन्धज्ञानविषयत्वे सम्बन्धत्वप्रसङ्गः; तथा, सम्बन्धेतरयोरेकज्ञानविषयत्वे इतरस्य सम्बन्धरूपताप्रसक्तिः। अथ सम्बन्धाकारः, सम्बन्धः, संयोगाभेदप्रसङ्गः; अवान्तराकारभेदश्च न भेदकः, तस्याऽप्रसिद्धेः।

अथेहबुद्ध्याऽवसेयः समवायः, न; इहबुद्धेरधिकरणाध्यवसायरूपत्वात्। न चान्यस्मिन्नाकारे ४०प्रतीयमानेऽन्याकारोऽर्थः कल्पयितुं युक्तः, अतिप्रसङ्गात्।

---

१ पृ० १५० पं० ८। २ पृ० १३८ पं० १६। ३–शब्देनाऽनवस्था–वा०, बा०। ४–षिनो विशे–आ०, हा०। ५–यस्यानु–मां०, भां०। ६–कतद्विशेषस्य रूपस्य गु०।–कविशेषरूपस्य आ०, हा०।–कवि-शेषस्य रूपस्य वि०। ७ पृ० ११२ पं० २१। ८–स्यादेः सं–भा०, मां०। ९ संयोगभे–भा०, मां०। १० अयान्तरा–आ०, बा०। अथान्तरा–वि०। ११–यः; नः आ०, वि०, बा०।

अथ समवायबुद्ध्या समवायः प्रतीयत इत्यभ्युपगमः, सोऽप्यनुपपन्नः; समवायबुद्धेरनुपपत्तेः; न हि 'एते तन्तवः, अयं पटः, अयं समवायः' इति परस्परविविक्तं त्रितयं बहिर्ग्राह्याकारतया कस्यांचित् प्रतीतावुद्भाति तथानुभवाभावात् ।

अथानुमानेन प्रतीयते, अयुक्तमेतत्; प्रत्यक्षाभावे तत्पूर्वकस्यानुमानस्याप्यवृत्तेः । सामान्यतोदृष्टमपि नात्र वस्तुनि प्रवर्त्तते, तत्प्रभवकार्यानुपलब्धेः । न च इहबुद्धिरेव समवायज्ञापिका— ५ 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः सम्बन्धनिमित्तः, अबाधितेहप्रत्ययत्वात्, 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययवत् इति, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-किं निमित्तमात्रमनेन प्रतीयते, उत सम्बन्धः? यदि निमित्तमात्रं तदा सिद्धसाध्यता । अथ सम्बन्धः, स संयोगः, समवायो वा? संयोगप्रतिपत्तावभ्युपगमबाधा । समवायानुमाने सम्बन्धव्यतिरेकः । न चान्यस्य सम्बन्धे सत्यन्यस्य गमकत्वम्, अतिप्रसङ्गात् । नहि देवदत्तेन्द्रिय-घटसम्बन्धे यज्ञदत्तेन्द्रियं रूपादिकमर्थं करणत्वात् प्रकाशयद् १० दृष्टम् । तन्न समवायः कस्यचित् प्रमाणस्य गोचरः । न च तस्य समवायिभ्यामसम्बद्धस्य सम्बन्धरूपता । न च तत्सम्बन्धनिमित्तोऽपरः समवायोऽभ्युपगम्यते; अभ्युपगमे वाऽनवस्थाप्रसङ्गः । विशेषणविशेष्यभावस्यापि तत्सम्बन्धनिमित्तस्य सम्बन्धाभ्युपगमेऽनवस्थादिकं दूषणं समानम् । न चासम्बन्धस्यापि तस्य सम्बन्धरूपत्वादपरपदार्थसम्बन्धकत्वमिति वाच्यम्, विहितोत्तरत्वात् । न च समवायस्यान्यस्य वा एकान्तनित्यस्य कार्यजनकत्वं सम्भवति, नित्ये क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थ- १५ क्रियाविरोधस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च तदभावे पदार्थानां सत्त्वम्, सत्तासम्बन्धित्वेन तस्य निषिद्धत्वाद्विधेत्स्यमानत्वाच्च । } तदेवं समवायस्याभावात् सन्तानत्वं बुद्ध्यादिसन्तानेषु न वृत्तिमत् सिद्धमिति सन्तानत्वलक्षणो हेतुः कथं नाऽसिद्धः?

अथोपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिलक्षणं प्रवाहरूपमेव सन्तानत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्; नन्वेवं तस्य तथाभूतस्यान्यत्रानुवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकत्वम् अभ्युपगमविरोधश्च । न हि परेण २० बुद्धिक्षणोपादानोऽपरः सर्व एव बुद्धिक्षणोऽभ्युपगम्यते एकसन्तानपतितः । तथाभ्युपगमे वा मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्युपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्धिक्षणस्य संभवाच्च बुद्धिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेदः साध्यः सम्भवति, यथोक्तहेतुसद्भावबाधितत्वात् ।

अथ पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्रं सन्तानत्वं तेनायमदोषः; नन्वेवमपि हेतोरसाधारणत्वं तदवस्थम् । नह्येकसन्तानरूपमन्यानुयायि, व्यक्तेर्व्यक्त्यन्तराननुगमात्, अनुगमे वा २५ सामान्यपक्षभावी पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थः, अनैकान्तिकश्च पाकजपरमाणुरूपादिभिः तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात् । अपि च, सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्चेति विपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणाभावेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः । विपक्षेऽदर्शनं च हेतोर्बाधकं प्रमाणं प्रागेव प्रतिक्षिप्तम् ।

विरुद्धश्चायं हेतुः, शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिष्वप्यत्यन्तानुच्छेदवत्स्वेव सन्तानत्वस्य भावात् । ३० न ह्येकान्तनित्येष्विवानित्येष्वप्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वं सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न च प्रदीपादीनामुत्तरः परिणामो न प्रत्यक्षः इत्येतावता 'ते तथा न सन्ति' इति व्यवस्थापयितुं शक्यम्; अन्यथा परमाणूनामपि पारिमाण्डल्यगुणाधारतया प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तेस्तद्रूपतयाऽसत्त्वप्रसङ्गः । अथ तेषां तद्रूपतयाऽनुमानात् प्रतिपत्तेर्नायं दोषः; ननु सा अनुमानात् प्रतिपत्तिः प्रकृतेऽपि तुल्या । यथा हि स्थूलकार्यप्रतिपत्तिस्तदपरसूक्ष्मकारणमन्तरेणाऽसम्भविनी परमाणुस- ३५ त्तामवबोधयति तथा मध्यस्थितिदर्शनं पूर्वापरकोटिस्थितिमन्तरेणासम्भवि तां साधयतीति प्रतिपादयिष्यते । न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपस्य विकारान्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा, वारिस्थे तेजसि भास्वररूपाभ्युपगमेऽपि तद्बाधोपपत्तेः । अथोष्णस्पर्शस्य भास्वररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवादनुद्भूतस्य तत्र परिकल्पनमनुमानतस्तर्हि प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवच्च सन्ततिविपरयभावमन्तरेण विपत्तिः सम्भवतीत्यनुमानतः किं न कल्प्यते तत्सन्तत्यनुच्छेदः अन्यथा ४० सन्तानचरमक्षणस्य क्षणान्तराजनकत्वेनासत्त्वे पूर्वपूर्वक्षणानामपि तत्त्वाच्च विवक्षितक्षणस्यापि सत्त्वमिति प्रदीपादेर्दृष्टान्तस्य बुद्ध्यादिसाध्यधर्मिणश्चाभाव इति नानुमानप्रवृत्तिः स्यात्? तस्मा-

---

१ प्र० पृ० पं० ११ । २ पृ० ११० पं० ८ । ३ मुक्तस्य-भा०, मा० । ४ पृ० १५६ पं० ६ । ५-द्वाध. आ०, वा०, मा० ।

च्छब्द-बुद्धि-प्रदीपादीनामपि सर्वे नात्यन्तिको व्युच्छेदोऽभ्युपगन्तव्यः-अन्यथा विवक्षितक्षणेऽपि सत्त्वाभावः-इति सर्वत्रात्यन्तानुच्छेदपक्षस्यैव सन्तानत्वलक्षणो हेतुर्वर्त्तेत इति कथं न विरुद्धः?

विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्य सद्भावादनुमानबाधितः पक्षः, हेतोर्वा कालात्ययापदिष्टत्वम्। यथा चानुमानस्य पक्षबाधकत्वम् अनुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोर्वा ५ कालात्ययापदिष्टत्वं तथाऽसकृत् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

अथ किं तदनुमानं प्रकृतप्रतिज्ञाया बाधकं येनात्रायमुक्तदोषः स्यात्? उच्यते, पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणपरिणामवान् शब्द-बुद्धि-प्रदीपादिकोऽर्थः, सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा, यावान् कश्चित् भावस्वभावः स सर्वः तादृशमार्यस्वभावविवर्तमन्तरेण न सम्भवति——— तथाहि—न तावत् क्षणिकस्य निरन्वयविनाशिनः सत्त्वसम्भवोऽस्ति, स्वाकारानुकारि ज्ञान- १० मन्यद्वा कार्यान्तरमप्राप्याऽऽत्मानम् संहरतः सकलशक्तिविरहितस्य व्योमकुसुमादेरिव सत्त्वानुपपत्तेः। तादृशस्य नहि कार्यकालप्राप्तिः, क्षणभङ्गभङ्गप्रसक्तेः। नापि फलसमयमात्मानमप्रापयतस्तज्जननसामर्थ्यं चिरतरविनष्टस्येव सम्भवति। न च समनन्तरभाविनः कार्यस्योत्पादने कारणं स्वसत्ताकाल एव सामर्थ्यमाप्नोति, कार्यकाले तस्य स्वभाव (वा) विशेषात् ततः प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मिन् सत्यभवन्नसति स्वयमेव भवन् अयं भावः तत्कार्यव्यपदेशमपि न लभते, १५ न हि समर्थे कारणे प्रादुर्भावमप्राप्नुवत् कार्यमितरथा कारणम् अतिप्रसङ्गात्। न च समनन्तरभावविशेषमात्रेण तत्कार्यत्वं युक्तम्, समनन्तरप्रभवत्वस्यैवासम्भवात्-इतरेतराश्रयप्रसक्तेः-इति प्रतिपादितत्वात्।

उपचरितं चैवं तस्य कार्यत्वमितरस्य च कारणत्वं स्यात् अक्षणिकवत्। तत्कारणभावे सत्यभवन्तं प्रति पुनः कारणस्य भावाभावयोर्न कश्चिद्विशेषः ततोऽक्षणिकादिव क्षणिकादपि २० सत्त्वादिर्वस्तुस्वभावो व्यावर्त्तत एव। न ह्यक्षणिके एव क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधः किं तर्हि क्षणभङ्गेऽपि। तथाहि-न तावत् कार्य कारणयोः क्रमः सम्भवति, कालभेदात् जन्यजनकभावविरोधात्, चिरतरोपरतोत्पन्नपितापुत्रवत्। न हि तादृशस्यापेक्षापि सम्भवति, अनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात्, अक्षणिकवत् न हि किञ्चिदतिशयं ततो नासादयत् भावान्तरमपेक्षते यतः क्रमः स्यात्, जन्य-जनकयोराधेयविशेषत्वेऽपि न क्रमसम्भवः, क्रमिणोः कालभेदात् तत्त्वानुपपत्तेः। योगपद्यं तु २५ तयोर्हेतुफलभावतयैवासम्भवि, समानकालयोर्हि न हेतुफलभावः सव्येतरगोविषाणवदपेक्षानुपपत्तेः।

अत एव कृतकत्वादयोऽपि हेतवो वस्तुस्वभावाः परिणामानभ्युपगमवादिनां न सम्भवन्ति। तथाहि-अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक उच्यते, सा च परापेक्षा एकान्तनित्यवदेकान्ताऽनित्येऽप्यसम्भविनी, तदपेक्षाकारणकृतस्वभावविशेषेण विवक्षितवस्तुनः सम्बन्धोऽपि नोपपद्येत, स्वभावभेदप्रसक्तेः। अभेदे वाऽपेक्ष्यमाणादपेक्षकस्य सर्वथाऽऽत्मनिष्पत्तिप्रसङ्गात्। अतः ३० स्वभावभिन्नयोः प्रत्यस्तमितोपकार्योपकारकस्वभावयोर्भावयोः सम्बन्धानुपपत्तेः 'अस्येदम्' इति व्यपदेशस्यानुपपत्तिः। यदि पुनरपेक्षमाणस्य तदपेक्ष्यमाणेन व्यतिरिक्तमुपकारान्तरं क्रियेत, तत्सम्बन्धव्यपदेशार्थं तत्राप्युपकारान्तरं कल्पनीयमित्यनवस्था सकलव्योमतलावलम्बिनी प्रसज्येत। तस्मान्नित्याऽनित्यपक्षयोरर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् कृतकत्वं वा न सम्भवतीति यत् किञ्चित् सत् कृतकं वा तत् सर्वं परिणामि, इतरथाऽकिञ्चित्करस्यावस्तुत्वप्रसङ्गान्नभस्तलारविन्दिनीकुसुमवत्——— ३५ सन् कृतको वा शब्द बुद्धि प्रदीपादिरिति सिद्धः परिणामी। सत्त्वं चार्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यस्य निषिद्धत्वात्, तच्चात्यन्तोच्छेदवत्सु न सम्भवत्येव, ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः अनत्यन्तोच्छेदवत्स्वेव संभवतीति कथं न प्रकृतहेतुपक्षबाधकत्वमाशङ्कनीयं प्रकृतसाध्यसाधकस्य हेतोरनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात्?

न चासत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य। तथाहि—'बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, सर्वप्रमाणानु- ४० पलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, यो हि सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदो न स तथेनोपेयः, यथा

१-न्तिको वि-भां०, मां०। २-वक्षाभावः वा०, बा०। ३-चविवर्त्त-आ०। ४-भावाभावयि-आ०, का०। -भावाभावावि-वा०, बा०, मा०, भा०। ५-षमन्तरेण त-भां०, मा०। ६ पृ० १३८ पं ११। ७ हि कश्चि-वा०, बा०। ८-यन् भा-भा०, मा०। ९-पद्यते भां०, मा०।

पार्थिवपरमाणुपाकजरूपादिसन्तानः, तथाच बुद्ध्यादिसन्तानः, तस्मादात्यन्तोच्छेदवान्' इति कथं न सत्प्रतिपक्षत्वं 'सन्तानत्वात्' इत्यनुमानस्य? न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदस्य प्रतीतौ सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वमसिद्धम्, सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वात् । न चास्य प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वे सिद्धे सन्तानत्वसाधनस्य सत्प्रतिपक्षत्वम् अस्य च सत्प्रतिपक्षत्वे विवक्षितानुपलब्धेः प्रतिपक्षसाधनस्य प्रमाणत्वमिति वाच्यम्, भवदभिप्रायेण सत्प्र- ५ तिपक्षत्वदोषस्योद्भावनात्; परमार्थतस्तु यथाऽयं दोषो न भवति तथा प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च । सन्तानत्वहेतोस्त्वसिद्धाऽनैकान्तिक-विरुद्धत्वान्यतमदोषदुष्टत्वेनासाधनत्वम्, तच्च प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन, दिङ्मात्रप्रदर्शनपरत्वात् प्रयासस्य ।

यच्चै 'निर्हेतुकविनाशप्रतिषेधात् सन्तानोच्छेदे हेतुर्वाच्यः' इत्यादि, तदसङ्गतम्; सम्यग्ज्ञानाद् विपर्ययज्ञानव्यावृत्तिक्रमेण धर्माऽधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेऽपि सकल-१० पदार्थविषयसम्यग्ज्ञानानन्तानिन्द्रियजप्रशमसुखादिसन्तानस्य निवृत्त्यसिद्धेः । न च शरीरादिनिमित्तकारणमात्ममनःसंयोगं चासमवायिकारणमन्तरेण न ज्ञानोत्पत्तिः, परलोकसाधनप्रस्तावे

"तत्साद्यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्तते ।
तन्नान्तरीयकं चित्तमतश्चित्तसमाश्रयम्" ॥ [ ]

इति न्यायेन ज्ञानस्य ज्ञानोपादानत्वप्रतिपादनात्; अन्यथा परलोकाभावप्रसङ्गात्; नित्यस्यात्मन १५ समवायिकारणत्वेन ज्ञानादिकं प्रति निषिद्धत्वात् आत्ममनःसंयोगस्य चाऽसमवायिकारणस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात् निषिद्धत्वाच्च संयोगस्य निमित्तकारणस्य वा; प्रतिनियतत्वेन शरीराद्यभावेऽपि देश-कालादेरात्मनो ज्ञानादिस्वभावस्योत्तरज्ञानाद्यवस्थारूपतया परिणमतः सहकारित्वसम्भवात् । ईश्वरज्ञानं च शरीरादिनिमित्तकारणविकलमप्यभ्युपगच्छति—तज्ज्ञानेऽपि नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्—न पुनर्मुक्त्यवस्थायामात्मनस्तत्स्वभावस्येति सुस्थितम् नैयायिकत्वं परस्य । २०

यच्चोक्तम् 'आरब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयः संचितयोश्च तत्त्वज्ञानात्' इत्यादि, तदपि न सङ्गतम्; उपभोगात् कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमयेऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्-कायव्यापारस्वरूपस्य सम्भवादविकलकारणस्य च प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात् कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः? सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्याऽऽगामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् सञ्चितकर्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं संभाव्यत एव—यथोष्ण-२५ स्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्ततत्स्पर्शादिध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धम्—किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्यानित्यात्मादिविषयम्; तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः । यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्माद्यर्थो न संभवति तथा यथास्थानं निवेदयिष्यते । मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एव अतो यदुक्तम् "यथैधांसि" इत्यादि, तत्सर्वसंवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्यमभ्यु-३० पगम्यते, तत् सिद्धमेव साधितम् ।

यच्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तम्, तत्र यदेवाऽऽगामिकर्मप्रतिबन्धे समर्थं सम्यग्ज्ञानादि तदेव सञ्चितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे । उपभोगात्तु प्रक्षये स्तोकमात्रस्य कर्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगैस्संचयोपपत्तेर्न तदशेषक्षयो युक्तिसङ्गतः । 'कर्मत्वात्' इति च हेतुः सन्तानत्ववदसिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतसाध्यसाधकः । असिद्धत्वादिदो-३५ षोद्भावनं च सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेण स्वयमेव वाच्यं न पुनरुच्यते ग्रन्थगौरवभयात् ।

यच्च 'समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावे

१-चक्षितत्वा-वा०, बा० । २ पृ० १५६ पं० ३-पृ० १५७ पं० ३० । ३ पृ० १५० पं० १४ । ४ पृ० ५७ पं० ३२ । ५ प्रतिपिद्धत्वा-वि० विना । ६ पृ० ११३ पं० ४२ । ७ पृ० १२६ पं० २३ । अत्र स्थले प्रमेयकमलमार्तण्डे "नित्यत्वं चेश्वरज्ञानस्य ईश्वरनिराकरणे प्रतिषिद्धम्, शरीराद्यपायेऽप्यस्य ज्ञानाद्यभ्युपगमेऽन्यात्मनोऽपि सोऽस्तु तत्स्वभावत्वात्"-पृ० ९१ प्र०, प० १२ । ८ पृ० १५० पं० २० । ९ पृ० १५० पं० २२ । १०-त् सर्वं संव-मां० । ११-मवगम्यते सिद्ध-वा० । १२ पृ० १५० पं० २६ । १३-कर्मसामर्थ्यप्रति-वि० । १४-ग योप-वा० । १५ पृ० १५० पं० २८ ।

रूयाद्युपभोगासम्भवात्, सम्भवेऽपि चावश्यंभावी बुद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतर-धर्माधर्मसंभवोऽतिभोगिन इव नृपत्यादेः, वैद्योपदेशप्रवर्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसङ्गतः, तस्यापि निरुग्भावाभिलापेण प्रवर्त्तमानस्यौपधाद्याचरणे वीतरागत्वासिद्धेः। न च मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलापेण प्रवर्तमानस्य सरागत्वम्, सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या प्राक् प्रसाधितत्वात् । भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु वाग्-बुद्धि-शरीराऽऽरम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात् प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य सुखाभिलापस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम्। प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्यभावो भाविधर्माधर्मप्रतिबन्धकः। यश्च भाविधर्माधर्माभ्यां विरुद्धो हेतुः स एव सञ्चितैतत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितम्।

अत एव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक एव हेतुर्भावि-भूतकर्मसम्बन्धप्रतिघातकत्वाद् मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणं नान्य इति। तेन यदुक्तम् 'तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानात्' इति, तद्युक्तमेव। यत्तु 'इतरेषामुपभोगात्' इति, तदयुक्तम्; उपभोगात् तत्क्षयानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् । यत्तु 'नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक् काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन च प्रतिपादितम्' तदिष्टमेवास्माकम्। केवलज्ञानलाभोत्तरकालं तु शैलेश्यवस्थायामशेषकर्मनिर्जरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेध एवाभ्युपगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्माधर्मफलप्रादुर्भावः, प्रवृत्तिनिवृत्तेरात्यन्तिक्यास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः।

यच्चोक्तम् 'विपर्ययज्ञानध्वंसादिक्रमेण विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपमुक्त्यभ्युपगमे न तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; विशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मनो मुक्तिरूपतया प्रतिषिद्धत्वात्, बुद्ध्यादेर्विशेषगुणत्वस्यात्यन्तिकतत्क्षयस्य च प्रमाणबाधितत्वात्। गुणव्यतिरिक्तस्य च गुणिन आत्मलक्षणस्यैकान्तनित्यस्य निषेत्स्यमानत्वात् तस्य बुद्ध्यादिविशेषगुणतादात्म्याभावोऽसिद्धः।

यच्च 'मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्त इत्यानन्दरूपात्मस्वरूप एव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः' इति, एतत् सत्यमेव । यच्च 'यथा तस्य चित्स्वभावता नित्या तथा परमानन्दस्वभावताऽपि' इत्यादि, तदयुक्तम्; चित्स्वभावताया अप्येकान्तनित्यतानभ्युपगमात्; आत्मस्वरूपता तु चिद्रूपताया आनन्दरूपतायाश्च कथञ्चिदभ्युपगम्यत एव। यच्च 'अनन्यत्वेन श्रुतौ श्रवणम् 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति, तदपि नास्मदभ्युपगमबाधकम्, समस्तज्ञेयव्यापिनो ज्ञानस्यावैषयिकस्य चानन्दस्य स्वसंविदितस्य मुक्त्यवस्थायां सकलकर्मरहितात्मब्रह्मरूपाभेदेन कथंचिदभीष्टत्वात् ।

यदपि 'यदाऽविद्यानिवृत्तिः तदा स्वरूपप्रतिपत्तिः सैव मोक्षः' इति, तदपि युक्तमेव, अष्टविधपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपानाद्यविद्यात्यन्तिकनिवृत्तेः स्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात् । अत एव 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते' इत्येतदपि नास्मत्पक्षक्षतिमुद्वहति, अभिव्यक्तेः स्वसंविदितानन्दस्वरूपतया तदवस्थायामात्मन उत्पत्तेरभ्युपगमात्। यच्च 'यथात्मनो महत्त्व निजो गुणः' इत्यादि, तदसारम्। नित्यसुख—महत्त्वादेरात्माऽव्यतिरिक्तत्वेन तद्धर्मत्वेन वा प्रमाणबाधितत्वादनभ्युपगमार्हत्वात्। अत एव 'संसारावस्थायामपि नित्यसुखस्य तत्संवेदनस्य च सद्भावात् संसार-मुक्त्यवस्थयोरविशेषः' इत्यादि यद्दूषणमत्र पक्षे उपन्यस्तं तदनभ्युपगमादेव निरस्तम्।

यच्चानित्यत्वपक्षेऽपि 'तस्यामवस्थायां सुखोत्पत्तावपेक्षाकारणं वक्तव्यम्, न ह्यपेक्षाकारणादन्यः आत्ममनःसंयोगः कारणत्वेनाभ्युपेयते' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; ज्ञान सुखादेश्चैतन्योपादेयत्वेन तद्धर्मानुवृत्तितः प्राक् प्रतिपादितत्वात्, सेन्द्रियशरीरादेस्तु तदुत्पत्तावपेक्षाकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्याव्यापकत्वात् । तथाहि—सेन्द्रियशरीराद्यपेक्षाकारणव्यापाररहितं विज्ञानमुपलभ्यत एव

१ अत्र प्रमेय॰ मा॰ "बुद्धिमतो भवदभि -इत्येव पाठ, स एव च सम्यक्-पृ॰ ९१ द्वि॰, पं॰ २। २ पृ॰ १५० पं॰ ३१। ३ पृ॰ ६१ पं॰ २। ४-तत्क्षये-मा॰। ५ पृ॰ १५९ पं॰ २४। ६ पृ॰ १५० पं॰ ३३। ७ पृ॰ १५० पं॰ ३३। ८ पृ॰ १५९ पं॰ ३४। ९ पृ॰ १५० पं॰ ३९। १०-त्वसिद्ध वि॰। ११ पृ॰ १५१ पं॰ ६। १२ पृ॰ १५६ पं॰ ३। १३ पृ॰ १५१ पं॰ ९। १४ पृ॰ १५१ पं॰ १०। १५ पृ॰ १५१ पं॰ ११। १६ पृ॰ १५१ पं॰ १५। १७ पृ॰ १५१ पं॰ १७। १८ पृ॰ १५१ पं॰ १९। १९ पृ॰ १५१ पं॰ २८। २० सुखोत्पत्ता-मा॰। २१ पृ॰ १५२ पं॰ ३। २२ पृ॰ १५९ पं॰ १५।

समस्तज्ञेयविषयत्वेनानियतविषयम्, यथाऽव्यापृतचक्षुरादिकरणग्रामस्य, 'सदसती तत्त्वम्' इति ज्ञानं सकलाक्षेपेण व्याप्तिप्रसाधकं वा । न चात्राप्यात्माऽन्तःकरणसंयोगस्य शरीराद्यपेक्षाकारणसहकृतस्य व्यापार इति वक्तुं युक्तम्, अन्तःकरणस्याणुपरिमाणद्रव्यरूपस्य प्रमाणबाधितत्वेनानभ्युपगमार्हत्वात् संयोगस्य च निषिद्धत्वात् । शरीरादीनां तु ज्ञानोत्पत्तिवेलायां सन्निधानेऽपि तद्गुण-दोषाऽन्वय-व्यतिरेकानुविधानस्य तज्ज्ञानेऽनुपलम्भान्नापेक्षाकारणत्वं कल्पयितुं युक्तम्, तथापि ५ तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गः । देश-कालादिकं च विशुद्धज्ञानक्षणस्यान्वयिनः ज्ञानान्तरोत्पादने प्रवर्तमानस्यापेक्षाकारणं न प्रतिषिध्यते मुक्त्यवस्थायामपि, शरीरादिकं तु तस्यामवस्थायां कारणाभावादेवानुत्पन्नं नापेक्षाकारणं भवितुमर्हति । यदि च सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणमन्तरेण ज्ञानादेरुत्पत्तिर्नाभ्युपेयेत तदा तथाभूतापेक्षाकारणजन्यज्ञानस्य चक्षुरादिज्ञानस्येव प्रतिनियतविषयत्वं स्यादिति 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः, प्रमेयत्वात्, पञ्चाङ्गुलिवत्' इत्यतोऽनुमानादनुमीयमानं सर्वज्ञ-१० ज्ञानमपि प्रतिनियतविषयत्वान्न सर्वविषयं स्यात् । यदि पुनस्तज्ज्ञानं सकलपदार्थविषयत्वात् तज्जन्यं "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १, पं० २] इति वचनात् सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणाऽजन्यं चाभ्युपगम्यते अन्यथा सर्वविषयत्वं न स्यादिति तर्हि मुक्त्यवस्थायामपि देहाद्यपेक्षाकारणाऽजन्यं किं नाभ्युपगम्यते ? प्रसाधितं चानिन्द्रियजं सकलपदार्थविषयमध्यक्षं ज्ञानं सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे इति न सेन्द्रियशरीरापेक्षाकारणजन्यत्वाभावे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतविषयत्वाभावादभाव १५ एवाभ्युपगन्तुं युक्तः ।

अपि च, सकलपदार्थप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य स्वभावः, स च सेन्द्रियदेहाद्यपेक्षाकारणस्वरूपावरणेनाच्छाद्यतेऽपवरकावस्थितप्रकाश्यपदार्थप्रकाशकस्वभावप्रदीप इव तदावारकशरावादिना, तदपगमे तु प्रदीपस्येव स्वप्रकाश्यप्रकाशकत्वं ज्ञानस्यापवासिद्धमिति कथमावरणभूतसेन्द्रियदेहाद्यभावे तदवस्थायां ज्ञानस्याप्यभावः प्रेर्येत ? अन्यथा प्रदीपावारकशरावाद्यभावे प्रदीपस्याप्यभावः प्रेरणीयः २० स्यात् । न च शरावादेरावारकस्य प्रदीपं प्रत्यजनकत्वमाशङ्कनीयम्, तथाभूतप्रदीपपरिणतिजनकत्वाच्छरावादेः, अन्यथा तं प्रत्यावारकत्वमेव तस्य न स्यात्, परिणामस्य च प्रसाधयिष्यमाणत्वात् । उपलभ्यते च संसारावस्थायामपि वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षोः सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयतः परमकाष्ठागतिरपि सम्भाव्यत एवेत्येतदपि सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितमिति न २५ पुनरुच्यते ।

परमार्थतस्त्वानन्दरूपताऽऽत्मनः स्वरूपभूता तद्विबन्धककर्मक्षयात् तस्यामवस्थायामुत्पद्यते । एकान्तनित्यस्य त्वविचलितरूपस्यात्मनो वैषयिकसुख-दुःखोपभोगोऽप्यनुपपन्नः, एकस्वभावस्य तत्स्वभावापरित्यागे भिन्नसुख-दुःखसंवेदनोत्पादेऽप्याकाशस्येव तदनुभवाभावात् । तत्समवेत-तदुत्पत्त्यादिकं तु प्रतिक्षिप्तत्वान्न वक्तव्यम्, 'ज्ञानं चोत्तरज्ञानोत्पादनस्वभावम्, यच्च यत्स्वभावम् न ३० तत् तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम्, यथान्त्या बीजादिकारणसामग्री अङ्कुरोत्पादने, तत्स्वभावश्च पूर्वो ज्ञानक्षण उत्तरज्ञानक्षणोत्पादने' इति स्वभावहेतुः अन्यथाऽसौ तत्स्वभाव एव न स्यात् । न च संसारावस्थाज्ञानान्त्यक्षणस्योत्तरज्ञानजननस्वभावत्वमसिद्धम्, तथाभ्युपगमे सत्तासंबन्धादेः सत्त्वस्य निषिद्धत्वात् तदजनकत्वेन तस्यानर्थक्रियाकारित्वात् अवस्तुत्वापत्तेस्तज्जनकस्याप्यवस्तुत्वं ततस्तज्जनकस्येत्येवमशेषचित्तसन्तानस्यावस्तुत्वप्रसङ्गः । ३५

अथ स्वसन्तानवर्त्तिचित्तक्षणस्याजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्त्तियोगिज्ञानस्य जननान्नाशेषचित्तक्षणावस्तुत्वप्रसक्तिः, नन्वेवं रसादेरेककालस्य रूपादेरव्यभिचार्यनुमानं साश्रवचित्तसन्ताननिरोधलक्षणमुक्तिवादिनो बौद्धस्य न स्यात्, रूपादेरन्त्यक्षणवद् विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि सजातीयकार्यानारम्भसंभवात् । एकसामग्र्यधीनत्वेन रूप-रसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वेऽन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वं किं न स्यात् योगिज्ञानान्त्यक्षणयोरपि समानकारणसामग्रीजन्यत्वात् ? कथ-४० मेकत्रानुपयोगिनश्चान्यत्रोपयोगश्चरमक्षणस्य ? उपयोगे वा ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादिनोऽपि नैयायि-

१ पृ० ११३ प० ४२ । २ पृ० ८५ प० १४ । ३ चाऽभ्यु-आ० । ४ पृ० ६५ पं० २३-पृ० ६७ पं० ४ । ५ परिमाणस्य मा० । ६ पृ० ६१ पं० २५ । ७ पृ० १२५ पं० ५ । ८-दस्वभा-आ०, नि० । ९ पृ० ११० पं० ५ । १० योगिनां ज्ञाना-डा०, वा०, गु० । ११ वा ज्ञानज्ञानान्तर-मां०, भा० ।

कस्य स्वविषयज्ञानजननासमर्थस्यापि ज्ञानस्यार्थज्ञानजननसामर्थ्यं किं न स्यात्? तथा च नार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। अथ स्वसन्तानवर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानवर्त्तिकार्यजननसामर्थ्यमपि नेष्यते तर्हि सर्वथार्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेनान्त्यक्षणस्यावस्तुत्वप्रसक्तिः। तथाविधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्वप्रसक्तिः। तथा च सत्त्वादयः क्षणिकत्वं न
५ साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात्। तस्मात् साश्रवचित्तसन्ताननिरोधलक्षणाऽपि मुक्तिर्विशेषगुणरहितात्मस्वरूपेवाऽनुपपन्ना।

निराश्रवचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा त्वभ्युपगम्यत एव, केवलं सा चित्तसंततिः सान्वया युक्ता; बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः। न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः संभवति, तत्र ह्यन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते, सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापीति चेत्, यदि सन्तानार्थः पर-
१० मार्थसंस्तदाऽऽत्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात्, अथ संवृतिसन् तदैकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात्। अथात्यन्तनानात्वेऽपि दृढरूपतया क्षणानामेकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः प्रवृत्तेर्नायं दोषः तर्हि न नैरात्म्यदर्शनमिति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः? अथास्ति नैरात्म्यदर्शनं शास्त्रसंस्कारजम्, न तर्ह्येकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्? तथा च
१५ "मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [ ] इत्येतत् प्लवते। तस्मादसति विज्ञानक्षणान्वयिनि जीवे बन्ध-मोक्षयोस्तदर्थं वा प्रवृत्तेरनुपपत्तेः सान्वया चित्तसन्ततिरभ्युपगन्तव्या।

न च 'यस्मिन् व्यावर्त्तमाने यदनुवर्त्तते तत् ततः एकान्ततो भिन्नम्, यथा घटे व्यावर्त्तमानेऽनुवर्त्तमानः पटः, व्यावर्त्तमाने च ज्ञानक्षणेऽनुवर्त्तते चेज्जीवस्ततस्ततो भिन्न एव'–अन्यथा
२० विरुद्धधर्माध्यासेऽपि यद्येकान्ततो भेदो न स्यादन्यस्य भेदलक्षणस्याभावादभिन्नं सकलं जगत् स्यात्—इत्यतोऽनुमानात् व्यावृत्ताऽनुवृत्तयोर्भेदसिद्धेर्न सान्वया निराश्रवचित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वक्तुं युक्तम्, असति तत्र पूर्वापरज्ञानक्षणव्यापके आत्मनि स्वसंविदितैकत्वप्रत्ययस्य प्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः। अथात्मन्यसत्यप्यध्यारोपितैक(-त्व)विषयः प्रत्ययः प्रादुर्भविष्यति, अयुक्तमेतत्, स्वात्मन्यनुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वतः समारोपितैकत्वविषयस्य विकल्पस्य निवृत्तिप्रसङ्गात् निश्चयाऽऽरोप-
२५ मनसोर्विरोधात्, अविरोधे वा सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनोऽपि सर्वात्मना प्रत्यक्षेणार्थनिश्चयेऽपि समारोपविच्छेदाय प्रवर्त्तमानं न प्रमाणान्तरमनर्थकं स्यात्। निवर्त्तत एवैकत्वविषयो विकल्पोऽनुमानात् क्षणिकत्वं निश्चिन्वत इति चेत्, तर्हि सहजस्याऽऽभिसंस्कारिकस्य च सत्त्वदर्शनस्याभावात् तदैव तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्।

न चायमेकत्वविषयः प्रत्ययः प्रतिसङ्ख्यानेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वान्मानसो विकल्पः।
३० तथाहि—अनुमानबलात् क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नैकत्वप्रत्ययो निवर्त्तते, शक्यन्ते तु प्रतिसङ्ख्यानेन निवारयितुं कल्पनाः न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयः। तस्माद् यथा अश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनान्न गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽप्येकत्वदर्शनादेकत्वप्रत्ययो विकल्पः। नाप्ययं भ्रान्तः, प्रत्यक्षस्याशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। बाह्याभ्यन्तरेषु भावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाशेषप्रत्यक्षेणानुत्पत्ति(प्रत्यक्षाणामुत्पत्ति)प्रतीतेः, तथा च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविशेषणमसम्भव्येव स्यात्।
३५ तस्मादेकत्वग्राहिणः स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्याऽभ्रान्तस्य कथञ्चिदेकत्वमन्तरेणानुपपत्तेर्नानुगतरूपाभावः।

नाप्यनुगत-व्यावृत्तरूपयोरेकान्तिको भेदः, तद्भेदप्रतिपादकस्यानुमानस्य तदभेदग्राहकप्रत्यक्षप्रत्ययबाधितत्वात्। न च प्रतीयमानस्य रूपस्य विरोधः, अन्यथा ग्राह्य-ग्राहक—संवित्तिलक्षणविरुद्धरूपत्रयाध्यासितस्य ज्ञानस्याप्येकत्वविरोधः स्यात्। तथा, एकनीलक्षणस्याप्येकदा स्वपरकार्यजनकत्वाजनकत्वविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्यैकत्वविरोधप्रसक्तिः। नैयायिकेनापि प्रतीयमाने वस्तुनि न
४० विरोधोद्भावनं विधेयम्; अन्यथा 'स्थाणुरयं पुरुषो वा' इत्याकारद्वयसमुल्लेखिसंशयप्रत्ययस्याप्येकत्वं विरुद्धमासज्येत।

१-राश्रव-मां०, भां०। २-मारोपिवि-आ०, हा०। ३ अत्र स्थले प्रमेय० मा० ईदृशः पाठः "बाह्याध्यात्मिकभावेषु एकत्वग्राहकत्वेनैव अशेषप्रत्यक्षाणां प्रवृत्तिप्रतीतेः" पृ०९२ प्र०, पं० ८।

यच्चोक्तम् 'यदि योगजो धर्म आत्ममनःसंयोगस्यापेक्षाकारणम्' इत्यादि, तदपि निरस्तम्; सर्वस्यास्मान् प्रत्यनभ्युपगतोपालम्भमात्रत्वात् । यच्च 'मुमुक्षुप्रवृत्तिरिष्टाधिगमार्था, प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तित्वात्' इत्यनुमाने 'चिकित्साशास्त्रार्थानुष्ठायिनामातुराणामनिष्टप्रतिषेधार्था प्रवृत्तिर्दृश्यते' इत्यनैकान्तिकोद्भावनं तत्रानिष्टनिषेधेनाऽऽरोग्यसुखप्राप्तिलक्षणेष्टाधिगमार्थित्वेन तेषां तत्र प्रवृत्तेर्दर्शनान्नानैकान्तिकत्वम् । न चास्माकमयं पक्षः—मोक्षसुखरागेण मुमुक्षवो वीतरागाः सन्तः ५ प्रवर्तन्ते, "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" [ ] इत्यभ्युपगमात् ।

यच्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्याद्यागमस्य गौणार्थप्रतिपादनपरत्वम्' अभ्यधायि, तदसन्तमसङ्गतम्; मुख्यार्थबाधकसद्भावे तदर्थकल्पनोपपत्तेः । न च तत्र किञ्चिद् बाधकमस्तीति प्रतिपादितम् । यच्च 'किंच, इष्टार्थाधिगमायां च' इत्याद्युक्तं तदपि सिद्धसाध्यतादोषान्निःसारतया चोपेक्षितम् । यदपि 'नित्यसुखाभ्युपगमे च विकल्पद्वयम्' इत्याद्यभिहितं तदप्यनभ्युपगमादेव निरस्तम्; नित्यस्य १० सुखस्यान्यस्य वा पदार्थस्यानभ्युपगमात् । यथाभूतं च स्वसंविदितं सुखं मोक्षावस्थायामात्मनस्तद्रूपतया परिणामिनः कथञ्चिदभिन्नमभ्युपगम्यते तथाभूतं प्राक् प्रसाधितमिति । यच्च 'न रागादिमतो विज्ञानात् तद्रहितस्योत्पत्तिर्युक्ता' इत्यादि, तदप्यसारम्; रागादिरहितस्य सकलपदार्थविषयस्य ज्ञानोपादानस्य ज्ञानस्य सर्वज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात् ।

यच्च 'विलक्षणादपि कारणाद् विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनाद् बोधाद् बोधरूपतेति न प्रमाण- १५ मस्ति' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितम् अचेतनाच्चेतनोत्पत्त्यभ्युपगमे चार्वाकमतप्रसक्तेः परलोकाभावप्रसक्त्या । परलोकसद्भावश्च प्राक् प्रसाधितः । यच्च 'ज्ञानस्य ज्ञानान्तरहेतुत्वे न पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वम् एकसन्तानत्वं वा हेतुर्व्यभिचारात्' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितमेव "तस्माद् यस्यैव संस्कारं नियमेनानुवर्तते" इत्यादिना । तेन 'मरणशरीरज्ञानस्य गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे सन्तानान्तरेऽपि ज्ञानजनकत्वप्रसङ्गः; नियमहेतोरभावात्' इत्येतदपि स्वप्नायितमिव २० लक्ष्यते, नियमहेतोस्तत्संस्कारानुवर्तनस्य प्रदर्शितत्वात् ।

यच्च 'सुषुप्तावस्थायां विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्' इत्यादि, तदपि प्रतिविहितम् 'यस्य यावती मात्रा' इत्यादिना । तथाहि—मिद्धादिसामग्रीविशेषाद् विशिष्टं सुषुप्ताद्यवस्थायां गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानतुल्यं बाह्याध्यात्मिकपदार्थानेकधर्मग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति; अन्यथा जाग्रत्-प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरप्यभावप्रसक्तिरिति प्रतिपादितत्वात् परिणतिसमर्थनेन । यथा २५ च अश्वविकल्पनकाले प्रवाहेणोपजायमानमपि गोदर्शनं ज्ञानान्तरवेद्यमपि भवदभिप्रायेणानुपलक्षितमास्ते—अन्यथा अश्वविकल्पप्रतिसंहारावस्थायाम् 'इयत्कालं यावत् मया गौर्दृष्टो न चोपलक्षितः' इति ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तेः प्रसिद्धव्यवहारोच्छेदः स्यात्—तथा सुषुप्तावस्थायां स्वसंविदितज्ञानवादिनोऽप्यनुपलक्षितं ज्ञानं भविष्यतीति न तदवस्थायां विज्ञानासत्त्वात् तत्सन्तत्युच्छेदः । न च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरश्वविकल्पकाले ज्ञानान्तरवेद्यगोदर्शनासंभवः, सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयो- ३० र्युगपद्वृत्तेरनुभवात्; अन्यथा प्रतिनिवृत्ताश्वविकल्पस्य तावत्कालं यावद् गोदर्शनस्मरणाध्यवसायो न स्यात् । क्रमभावेऽपि च तयोर्विज्ञानयोर्विज्ञानं ज्ञानान्तरविदितमप्यनुपलक्षितमवश्यं तस्यामवस्थायां परेणाभ्युपगमनीयम्, तदभ्युपगमे च यदि स्वापावस्थायां स्वसंविदितं यथोक्तं ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा न कश्चिद्विरोधः । शेषस्तु पूर्वपक्षग्रन्थोऽनभ्युपगमान्निरस्तः ।

यदपि 'अनेकान्तभावनातः इत्याद्यभ्युपगमे तज्ज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वं प्रतिषिद्धम्, ३५ अनेकान्तज्ञानस्य बाधकसद्भावेन मिथ्यात्वोपपत्तेः' इत्यभिहितम्, तदप्यसम्यक्; अनेकान्तज्ञानस्यैवाऽबाधितत्वेन सम्यक्त्वेन प्रतिपादितत्वात् । यच्च 'नित्यानित्ययो(-त्वयो-)र्विधि-प्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने

१ पृ० १५२ पं० ३ । २ पृ० १५२ पं० ९ । ३ पृ० १५२ पं० १४ । ४ पृ० १५२ पं० २८ । ५ पृ० १५२ पं० ३३ । ६ पृ० १५३ पं० ३३ । ७ पृ० १५५ पं० १८ । ८ पृ० १५४ पं० २४ । ९ पृ० ६१ पं० १४ । १० पृ० १५४ पं० २६ । ११ पृ० ७४ पं० १८ । १२ पृ० १५४ पं० २७ । १३ पृ० ७७ पं० १३ । १४ पृ० १५४ पं० ३२ । १५ पृ० ७७ पं० १२ । १६ पृ० १५४ पं० ३८ । १७ पृ० ५० पं० २७ । १८ ता-पोर्विज्ञानं आ०, रि०, टा० । १९ पृ० १५५ पं० १२-पृ० १५५ पं० १९ । २० पृ० १५९ पं० ३५ । २१ पृ० १५५ पं० २० ।

धर्मिण्यभाव.' इत्यनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधा
सिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैव प्रतिषेधविधिः—येनैकत्व(कत्र)विरोधः स्यात्—
किं तदनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिर्व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः। न चान्यधर्मनिमित्त
योर्विधि-प्रतिषेधयोरेकत्र विरोध., अतिप्रसङ्गात्। न चानुगतव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपत-
५याऽऽत्यन्तिको भेदः, पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येन स्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याऽऽध्यात्मिक-
स्यार्थस्याबाधितप्रत्यक्षप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्।

यच्चेदम् 'घटादिर्मृदादिरूपतया नित्य इत्यत्र मृद्रूपतायास्ततोऽर्थान्तरत्वान्न ततो घटो नित्य,
मृद्रूपता हि मृत्त्वं सामान्यमर्थान्तरम्, तस्य नित्यत्वे न घटस्य तथाभावस्ततोऽन्यत्वात् घटस्य
च कारणाद् विलयोपलब्धेरनित्यत्वमेव' इति, अयुक्तमेतत्, सामान्यस्य विशेषादर्थान्तरत्वानुप-
१०पत्तेः समानासमानपरिणामात्मको घटाद्यर्थोऽभ्युपगन्तव्य.। तथाहि—न तावत् स्वाश्रयादर्थान्तर
भूता मृत्त्वजातिः सत्ता वा, स्वाश्रये संबन्धाभावात्-असंबन्धात् प्रागसद्भिरपि स्वाश्रयैः संबन्धेऽ-
तिप्रसङ्गात्, स्वत एव सद्भिः सत्तासंबन्धकल्पनावैयर्थ्यात्। समवायस्य सर्वगतत्वाद् व्यक्त्य-
न्तरपरिहारेण व्यक्त्यन्तरेष्व सर्वगतस्यापि सामान्यस्य संबन्धेऽतिप्रसङ्गपरिहारायाभ्युपगम्यमाना
च प्रत्यासत्तिः प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्त्यात्मभूता येऽभ्युपगम्यमाना कथं समानपरिणामातिरिक्तस्य
१५सामान्यस्य कल्पना न निरस्येत् शुक्लादिवच्च स्वाश्रये स्वानुरूपप्रत्ययादिहेतो सामान्यात् सदादि
प्रत्ययादिवृत्तिर्न भवेत्? सामान्यस्य तु स्वत एव सदादिप्रत्ययादिविषयत्वे द्रव्यादिषु क प्रद्वेष ?
परतश्चेदनवस्था। अनध्यारोपिततद्रूपे च तत्प्रत्ययादिवृत्तावतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्रूपाध्यारोपेऽपि
तत्प्रत्ययादिश्चान्यत्र भ्रान्त एव प्रसक्त'।

समवायमपि च ताद्रूप्यमेव समवायिनो पश्याम; अन्यथा तस्याप्याश्रिततया संबन्धान्तर-
२०कल्पनाप्रसङ्गात् तत्र चानवस्थाया. प्रदर्शितत्वात्। विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेऽप्यपरतत्कल्पनेऽन
वस्था। समवायात् तत्संबन्धकल्पने इतरेतराश्रयत्वम्। अनाश्रितस्य तत्संबन्धत्वेऽप्यतिप्रसङ्ग.।
तस्य स्वत संबन्धे वा सामान्यस्यापि तथाऽस्तु विशेषाभावात्। सति च वस्तुद्वये संघटिते
'इद सदिद च सत्' इति समुच्चयात्मक प्रत्ययोऽनुभूयते, न पुन 'इदमेवेदम्' इति, संभव
द्विवक्षितैकव्यक्त्याधेयरूपस्य च सामान्यस्याशेषाश्रयग्रहणासंभवान्न कदाचनापि तस्य संपूर्णस्य
२५ग्रहणं स्यात्। तद् व्यक्त्यनाधेयरूपासंभवे तद्गतरूपादिवत् तन्मात्रमेव स्यात्। स्वाश्रयसर्वगत-
सामान्यवादस्तु परिणामसामान्यवादान्न विशिष्यते, प्रत्याश्रय परिसमाप्तत्वस्यान्यथानुपपत्त्या सामा-
न्यसंबन्धशून्येष्वपि द्रव्यादिषु पदार्थादिप्रत्ययाद्यन्वयदर्शनाच्च।

नाप्यन्यस्य व्यावृत्ति, स्वलक्षणगताया' प्रत्येकपरिसमाप्ताया. परिणामसामान्यादभिन्नत्वात्
व्यावृत्ते.। तदाश्रयान्यानेकव्यक्तिसाधारणी बुद्धिपरिकल्पिताऽतज्जातीयव्यावृत्ति. सामान्यमिष्यते,
३०तत्सिद्धावस्तुभूते शब्दप्रतिपादिते तथाविधे सामान्येऽस्वलक्षणविवक्षितेऽर्थक्रियार्थिनां स्वलक्षणे
वृत्तिरपरिकल्पितरूपे कथं स्यात्?। दृश्य-विकल्प (ल्प्य) योरेकीकरणेन प्रवृत्तो गोबुद्ध्याऽप्यश्वे
प्रवर्तेत। न च विकल्पितस्य सामान्यस्यावस्तुभूततया केनचिद् दृश्येन सारूप्यमस्ति, सद्भावे वा
सारूप्यस्य किं दृश्य-विकल्प्यैकीकरणवाचोयुक्त्या? तदेव दृश्यं सामान्यज्ञाने प्रतिभासते, तत्प्रति-
भासाच्च तत्रैव वृत्तिरिति किं न स्फुटमेवाभिधीयते अवस्त्वाकारस्य वस्तुना सारूप्यासंभवात्?

३५ किञ्च, दृश्य-विकल्प्ययोरेकीकरण दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोप, स च गृहीतयोरगृहीतयोर्वा?
यदि गृहीतयोस्तदा दृश्य-विकल्प्ययोर्भेदेन प्रतिपत्तेर्न दृश्ये विकल्प्याध्यारोप, नहि घट-पटयो

---

१ पर्यायाता-आ०, वि०, हा०, वा०, गु०। प्रमेयकमलमार्तण्डे-पर्यायतादा-इत्येव पाठो दृश्यते-पृ० ९२ द्वि०, प० ४। २ पृ० १५५ प० २२। ३-मास्ता व्य-वा०। ४ चाऽभ्यु-इति वि० प्रतौ संशोधितम्। ५-ध्या-रोपितत्प्र-भा०।-ध्यारोपपेति तत्प्र-वा०, बा०। ६ पृ० १५७ प० १२। ७-दं वा स-आ०। -द चास-वा०। ८-मुदया-वा०। ९-न्धश्चन्ये-वा०, बा०, भा०, मा०। १०-वक्षितेऽर्थं क्रि-भा०, मा०। ११-यार्थिता स्व-मा०, बा०, वा० विना। १२-क्षणे प्रवृत्ति परि-इति वि० प्रतौ संशोधितम्। -क्षणे वृत्ति परि-आ०, हा०, ।-क्षणे वृत्ति परि-डे०, वि०। १३-कल्पैकी-वि०। १४-कल्पयो-भा०, मा०।

भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोरेकस्याऽपरत्राध्यारोपः, अतिप्रसङ्गात् । नाप्यगृहीतयोः स संभवति,
अतिप्रसङ्गादेव । न च दृश्यबुद्धौ विकल्प्यं प्रतिभाति, नापि विकल्प्यबुद्धौ दृश्यम् । न चैकबुद्धा-
वप्रतिभासमानयो रूप-रसयोरिव परस्पराध्यारोपः, सादृश्यनिबन्धनश्चान्यत्राध्यारोपः उपलब्धो
वस्त्ववस्तुनोश्च नील-खरविषाणयोरिव सारूप्याभावतो नाध्यारोप इति प्रतिपादितम् । न च
दृश्याध्यवसायिविकल्प्यबुद्ध्युत्पाद एव तदध्यारोपः, तद्बुद्धेः सदृशपरिणामसामान्यव्यवस्थापकत्वो- ५
पपत्तेरनन्तरमेव तस्या वस्तुस्वरूपग्राहिसविकल्पकाध्यक्षरूपत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । तथा, अनुमा-
नेनापि परिच्छिद्यमानेऽर्थान्तरव्यावृत्तिरूपेऽनर्थरूपे सामान्ये बहिष्प्रवृत्त्ययोग एव । नातद्रूपव्यावृत्ति-
मात्रविषयमनुमानम्, अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वादिति चेत्, किं तद् वस्तुमात्रमन्यत्र समान-
परिणामात् ? अनुभूयते च सामान्यम्-अलिङ्गजत्वाच्चानुमानेन—अविसंवादित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन
प्रमाणान्तरानभ्युपगमात् । तथाहि-प्रत्यक्षेणैव ज्ञानेन शाखादिविभागमपरिच्छिन्दताऽपि दवीयसि १०
देशे वृक्षादिमात्रप्रतिपत्तिदर्शनम् तन्निराकरणे चानुभवविरोधः । न च सादृश्यम्, समानपरिणामा-
भावे तदसंभवात् । ननु च यदि समानपरिणामः सामान्यम्, तस्य वस्तुनः सजातीयादपि परिणामाद्
विभक्ततयाऽन्यत्रानन्वयात् क्वचिद् गृहीतसंबन्धेन शब्देन लिङ्गेन वाऽन्यस्य तज्जातीयस्य प्रतिपादनं
न प्राप्नोति, नैष दोषः, विभक्तेऽपि वस्तुतस्तत्सिन्नाश्रितदेशादिभेदे समानपरिणाममात्रे शब्दस्य
लिङ्गस्य वा तावन्मात्रस्यैव संकेतितत्वात् संबन्धं गृहीतवतोऽन्यत्रापि तत्परिणाममात्रेण भेद-१५
प्रतिपत्तेरजन्यत्वात् तत्तया प्रतिपत्त्यविरोधान्न दोषः । प्रतिपादयिष्यते च नित्यानित्याद्यनेकान्त-
रूपं वस्त्वेकान्तवादप्रतिषेधेनेति नानेकान्तज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।

यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एव इतरेतराभावस्याभ्यु-
पगमात्' इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; इतरेतराभावस्य घटवस्त्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटा-
द्यभावस्य विनष्टत्वात् । अथ घटाद् भिन्नोऽभावस्तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात् । २०
यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति तदा पटो घट एव स्यात्, यथा वा घटस्य घटाभावाद्
भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात् घटाभावाद् भिन्नत्वादेव । नाप्येषां परस्पराभिन्ना-
नामभावेन भेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाऽभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नाना-
मन्योन्याभावः संभवति । नापि परस्परभिन्नानामभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नाना-
मुत्पत्तेः । नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानामात्मीयरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेदः; स च २५
प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतुः, तेन "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता"
[ ] इति निरस्तम् । किञ्च, भावाभावयोर्भेदो नाभावनिबन्धनः, अनवस्थाप्रसङ्गात् ।
अथ स्वरूपेण भेदस्तदा भावानामपि स स्यादिति किमपरेणाभावेन भिन्नेन विकल्पितेन ? तन्नैकान्त-
भिन्नोऽभिन्नो वेतरेतराभावः संभवति ।

न चाभाव एवान्यापोहस्य, घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि-यथा घटस्य स्वदेश- ३०
कालाऽऽकारादिना सत्त्वं तथा यदि परदेश-कालाऽऽकारादिनाऽपि, तथा सति स्वदेशादित्ववत्
परदेशादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वम्? अथ परदेशादित्ववत् स्वदेशादित्वमपि तस्य नास्ति
तदा सर्वथाऽभावप्रसक्तिः । अथ यदेव स्वसत्त्वं तदेव परासत्त्वम्; नन्वेवमपि यदि परासत्त्वे
स्वसत्त्वानुप्रवेशस्तदा सर्वथाऽसत्त्वम्; अथ स्वसत्त्वे परासत्त्वस्य तदा परासत्त्वाभावात् सर्वा-
त्मकत्वम्—यथा हि स्वासत्त्वासत्त्वात् स्वसत्त्वं तस्य तथा परासत्त्वासत्त्वात् परसत्त्वप्रसक्तिर- ३५
निवारितप्रसरा, अविशेषात् । न च परासत्त्वं कल्पितरूपमिति न तन्निवृत्तिः परसत्त्वात्मिकेति
वाच्यम्, स्वासत्त्वेऽप्येवंप्रसङ्गात् ।

अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वहेतुसामग्रीत
उपजायमानः स्वस्वभावनियत एवोपजायते; तथैवार्थसामर्थ्यभाविनाऽध्यक्षेण विषयीक्रियमाणो
व्यवहारपथमवतार्यते किमितरेतराभावकल्पनया? न किञ्चित्, केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनि-४०

१-रूपाभा-मा० । २-मानतोऽपि वि० । ३-म सामान्यपरि-भां०, मा० । ४-प्रतिपत्तिर्दर्श-
मां० । ५-णामभा-वा० । ६-स्तुनस्त-मा०, भां० । ७-मात्रेणाभे-वा० । ८ पृ० १५५ पं० २४ ।
९-स्य पटाभा-षा०, वा० । १० यथा मां०, भां० ।

यतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते, स्वस्वरूपनियतप्रतिभासनं च पराभावात्मकत्वप्रतिभासनमेव। अत एव "स्वकीयरूपानुभावान्नान्यतोऽन्यनिराक्रिया" [ ] इत्येतदपि सदसदात्मकवस्तुप्रतिभासमन्तरेणानुपपन्नमेव। यदा हि पारमार्थिकपररूपव्यावृत्तिमत् तत्स्वरूपमध्यक्षे प्रतिभाति तदा स्वरूपमेव परतस्तस्य भेदः, तद्ग्रहणमेव चाध्यक्षतस्तद्भेदग्रह-
५ णम्; अन्यथा पारमार्थिकपरासत्त्वाभावे स्वसत्त्ववत् परसत्त्वात्मकत्वप्रसङ्गान्न तत्स्वरूपमेव भेदः, नापि सत्प्रतिभासनमेव भेदप्रतिभासनं स्यात्।

अत एवान्यापोहस्य पदार्थात्मकत्वेऽपरापराभावकल्पनया नानवस्था। नापि परग्रहणमन्तरेण तद्भेदग्रहणाभावादितरेतराश्रयत्वाद् भेदाग्रहणम्। न चाऽभावस्य तुच्छतया सहकारिभिरनुपकार्यस्य ज्ञानाजनकत्वम्; नापि भावाऽभावयोरनुपकार्योपकारकतयाऽसंबन्धः, भावाभावात्म-
१० कस्य पदार्थस्य स्वसामग्रीत उत्पन्नस्य प्रत्यक्षे तथैव प्रतिभासनात्। न चाऽसदाकारावभासस्य मिथ्यात्वम्, सदाकारावभासेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न चाऽसदवभासस्याभावः, अन्यविविक्तावभासस्यानुभवसिद्धत्वात्; विविक्तता चास्याऽभावरूपत्वात्, तस्याश्च स्वसत्त्वात् कथञ्चिदभिन्नतया तद्वद् ज्ञानजनकत्वेनाध्यक्षे प्रतिभासमानाया अन्यपरिहारेण तत्रैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारहेतुत्वात्; भेदाऽभेदैकान्तपक्षस्योक्तदोषत्वात् कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षस्य परिहृतविरोधत्वान्न सदसद्रूपत्वे
१५ स्वदेशादावप्यनुपलब्धिप्रसङ्गादिदोषः।

यच्चोक्तम् 'एवमात्मनोऽपि नित्यत्वमेव सुख-दुःखादेस्तद्गुणत्वेन ततोऽर्थान्तरस्य विनाशेऽप्यविनाशात्' इत्यादि, तत् प्राक् प्रतिक्षिप्तम्। यदपि 'कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वं न प्रतिषिध्यते' इत्यादि, तदप्यसारम्; एकान्तपक्षे कार्यकर्तृत्वस्यैवासम्भवात्। यच्च 'न चानेकान्तभावनातो विशिष्टशरीरलाभे प्रतिबन्धः' इत्यादि, तन्न प्रतिसमाधानमर्हति अनभ्युपगतोपालम्भमात्रत्वात्। यच्च
२० 'मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्तते' इति, तदिष्यते एव; स्वसत्त्वादिना मुक्तत्वेऽप्यन्यसत्त्वादिना अमुक्तत्वस्येष्टत्वात्; अन्यथा तस्य मुक्तत्वमेव न स्यात् इति प्रतिपादितत्वात्।

यदपि 'अनेकान्त' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; अनन्तधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपमनेकान्तः। न च स्वरूपमपरधर्मान्तरापेक्षमभ्युपगम्यते येन तत्र रूपान्तरोपक्षेपेणानवस्था प्रेर्येत; तदपेक्षत्वे पदार्थस्वरूपव्यवस्थैवोत्सीदेत्, अपरापरधर्मापेक्षत्वेन प्रतिनियतापेक्षधर्मस्वरूपस्यैवाव्यवस्थितेः।
२५ ततश्चैकान्तस्यापि कथं व्यवस्था? तथाहि—सदादिरूपतैवैकान्तः तत्रैकान्ताभ्युपगमेऽपरं सदादिरूपं प्रसक्तम्, तत्राप्यपरमिति परेणापि वक्तुं शक्यम्। अथ पररूपानपेक्षं सत्त्वादित्वमेवैकान्तः तर्ह्यनन्तधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपमप्यनेकान्तः किं न स्यात्? न चापरतद्रूपाभावे वस्तुनः स्वरूपमन्यथा भवति; अन्यथा अपरसत्त्वाद्यभावे सत्त्वादेरप्यन्यथात्वप्रसक्तिरित्यलं दुर्मतिविस्पन्दितोत्तरप्रदानप्रयासेन। 'आत्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमर्हति।
३० यथोक्तमुक्तिमार्गज्ञानादेरपरस्य तदुपायत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य प्रमाणबाधितत्वेन मिथ्यारूपत्वान्न तत्साधकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

तत् स्थितमेतत् 'अनुपमसुखादिस्वभावामात्मनः कथञ्चिदव्यतिरिक्तां स्थितिमुपगतानाम्' इति॥

१-नुभवा-मां०, भां०। २-सनम-बा०। ३-रूपस्य व्या-वि० ४-दा स्वस्वरू-मां०, भां०। ५ न चासाव-आ०, हा०। ६ ज्ञानज-मां०, भां०। ७-श्च सत्त्वा-आ०, वि०, हा०। ८ ज्ञानाज-आ०, वि०, हा०। ९ पृ० १५५ पं० २६। १० पृ० १६० पं० २०। ११ पृ० १५५ पं० २७। १२ पृ० १५५ पं० २९। १३ पृ० १५५ पं० ३१। १४ पृ० १५५ पं० ३२। १५ पृ० १५५ पं० ३४।